संस्कृत नाटकों का जीव-जगत

डा० कृष्ण कुमार
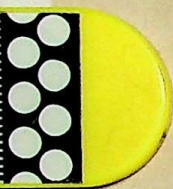
(The Animal World of Sanskrit Drama)

SANSKRIT NATAKON KA JIVA-JAGAT

Dr. KRISHNA KUMAR

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यान् आरण्यान्ग्राम्यांश्च ये।।

ऋग्वेद 10.90.8

सृष्टि रूप यज्ञ में सब कुछ आहुत करने वाले उस यज्ञ रूप परमात्मा से अन्न आदि प्राणदायक और घृत आदि बलदायक पदार्थ उत्पन्न हुये। उसने ही वायु में विचरण करने वाले वायव्य जन्तुओं को, वनों में विचरण करने वाले आरण्य जन्तुओं को और ग्रामों में पालित होने वाले ग्राम्य जन्तुओं को उत्पन्न किया।

प्रकाशित कृतियां

१. भारतीय संस्कृति के आधार तत्त्व
२. अलंकारशास्त्र का इतिहास
३. वैदिक साहित्य का इतिहास
४. संस्कृत साहित्य का इतिहास
५. पं० अम्बिकादत्त व्यास – एक अध्ययन
६. ऋक्सूक्त-सुधाकर
७. ऋक्सूक्त-संग्रह
८. चतुर्वेद-ऋक्सूक्त-संग्रह
९. वैदिक-ऋक्सूक्त-संग्रह
१०. विश्वविज्ञान
११. पोषण के लिये खनिज और विटामिन
१२. संस्कृत नाटक सूक्ततरङ्गिणी
१३. छन्दोऽलङ्कार प्रकाश
१४. प्राचीन कथायें
१५. गढ़वाल के प्रमुख तीर्थ
१६. गढ़वाल के संस्कृत अभिलेख
१७. उदयनचरितम् (संस्कृत उपन्यास)
१८. ध्वन्यालोक व्याख्या
१९. अभिज्ञान शाकुन्तलम् व्याख्या
२०. प्रियदर्शिका व्याख्या
२१. प्रतिमानाटकम् व्याख्या
२२. हर्षचरितम् पञ्चम उच्छ्वास व्याख्या
२३. किरातार्जुनीयम् प्रथम सर्ग व्याख्या
२४. रघुवंशम् द्वितीय सर्ग व्याख्या
२५. रघुवंशम् त्रयोदश सर्ग व्याख्या
२६. कुसुम तरङ्गी व्याख्या
२७. शिवराजविजय व्याख्या
२८. कुन्दमाला व्याख्या
२९. अस्ति कश्चिद् वागर्थीयम् (संस्कृत नाटक)
३०. संस्कृत नाटकों का भौगोलिक परिवेश
३१. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts - I
३२. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts - II
३३. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts - III
३४. संस्कृत नाटकों का वानस्पतिक पर्यावरण
३५. संस्कृत नाटकों का जीव-जगत्
३६. चौरपञ्चाशिका
३७. अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः
३८. अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ
३९. प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास
४०. तपोवनवासिनी (संस्कृत उपन्यास)
४१. तपोवनवासिनी (हिन्दी उपन्यास)
४२. केदारखण्ड पुराण (चार खण्डों में)
४३. मेघदूतानुशीलनम्
४४. गढ़वाल के प्राचीन अभिलेख एवं उनका ऐतिहासिक महत्त्व
४५. प्राचीन भारत की राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थायें
४६. विधिपौरुषम् (संस्कृत उपन्यास)
४७. भाग्य और पुरुषार्थ (हिन्दी अनुवाद)

संस्कृत नाटकों का जीव-जगत्
(The Animal World of Sanskrit Drama)

डा० कृष्णकुमार आयुर्वेदालङ्कार
एम० ए० साहित्याचार्य,
पी-एच० डी०, डी० लिट्
सेवानिवृत्त विभागाध्यक्ष संस्कृत
गढ़वाल विश्वविद्यालय श्रीनगर (गढ़वाल)

मयंक प्रकाशन
कनखल (हरिद्वार)

संस्कृत नाटकों का जीव-जगत्
(The Animal World of Sanskrit Drama)

डा0 कृष्णकुमार

प्रकाशक :
मयंक प्रकाशन
मिश्रा गार्डन, हनुमानगढ़ी
कनखल (हरिद्वार)

संस्करण : 200[illegible]

मूल्य : रु0 225.00

मुद्रक :
मनोज कुमार
278, गोविन्दपुरी,
हरिद्वार 249401

प्राक्कथन

जन्तु-जगत् का मानव-जीवन से अविभाज्य सम्बन्ध है। मानव के जीवन में जन्तुओं की उपयोगिता किसी न किसी रूप में आदि काल से रही है। सृष्टि में विविध जीव-लघु-बृहद् आकार के स्थलचर, जलचर और नभचर पाये जाते हैं। सर्प आदि सरीसृप और मशक आदि क्षुद्र जन्तु हैं। मानव को इन सबसे कुछ न कुछ उपलब्ध होता है। अनेक जन्तुओं को मानव ने पालतू बना लिया है। जो पालतू नहीं हैं या नहीं बन सके हैं, उनको भी अपनी बुद्धि के सामर्थ्य से वश में करके विविध उपयोगों में लिया है। जन्तुओं से वह कृषि के कार्य में सहायता लेता है और भोजन एवं वस्त्र प्राप्त करता है। इनका वाहनों और सन्देश-प्रेषण के लिये प्रयोग होता है। अनेक प्रसाधन सामग्रियाँ इनसे बनती हैं। कुछ जन्तु मनोरञ्जन के भी साधन हैं और कुछ को देखने का भी उसको कुतूहल होता है। कुछ जन्तु चिकित्सोपयोगी वस्तुयें प्रदान करते हैं। कुछ को मनुष्य ने युद्ध के लिये उपयोगी बना लिया है।

संस्कृत कवियों ने जन्तुओं के प्रति भावात्मक ऐक्य का अनुभव करके उनमें बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य के भी दर्शन किये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि पालतू जन्तुओं के प्रति मनुष्य का अनुराग बढ़ा। न केवल उपयोगिता की दृष्टि से पशु-पालन की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति बढ़ी, अपितु जन्तुओं की समीप स्थिति मानव के आह्लाद का हेतु भी बनी। भावुक जनों ने अनेक जन्तुओं को अपने सम्बन्धियों के समान पाला। कवियों ने विविध जन्तुओं के अङ्गों और गुणों का सादृश्य मानव में अनुभव किया। उन्होंने काव्यों में इसकी अभिव्यञ्जना भी की। यहाँ तक कि जन्तुओं के सम्बन्ध में अनेक कवि-प्रसिद्धियों का आविर्भाव हुआ।

काव्यों में कवियों द्वारा विविध जन्तुओं के उल्लेख किये जाते रहे हैं। वर्णनात्मक साहित्य—महाकाव्य, गद्यकाव्य, गद्यकथा, चम्पूकाव्य आदि में जन्तुओं के वास्तविक रूप एवं आन्तरिक गुणों का विशद रूप प्रकट करने का पर्याप्त अवसर रहता है। जन्तुओं से सम्बन्धित शास्त्रीय ग्रन्थों में तो उनके सभी पक्षों पर विशद प्रकाश डाला ही गया है। परन्तु नाटकों के अभिनय-प्रधान होने तथा वर्णनात्मक प्रसङ्गों का स्थान स्वल्प होने के कारण किसी भी वस्तु के बाह्य रूप-रंग तथा गुणों को विशद रूप से प्रस्तुत करना सम्भव नहीं होता। तथापि संस्कृत नाटककारों ने जन्तुओं के विषय में संकेत मात्रों से ही अनेक रोचक और विस्मयकारक तथ्य प्रस्तुत कर दिये हैं।

प्राचीन समय में जन्तुविज्ञान काफी विकसित हो चुका था। इस विषय पर अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई थी और यह अध्ययन का भी एक विषय था। प्राचीन संस्कृत नाटकों से हमको यह विदित होता है, कि उस समय में भारतीय जनों का जन्तुओं के सम्बन्ध का ज्ञान कितना विकसित था। वे जन्तुविज्ञान से बखूबी परिचित थे। वे स्थल, जल और नभ में विचरण करने वाले विविध जन्तुओं को भली-भाँति जानते थे। भूमि पर रेंगने वाले सरीसृपों और नन्हें जीवों (क्षुद्र जन्तुओं) का भी उनको विकसित ज्ञान था। जन्तुओं को वे विभिन्न प्रकार से उपयोग में लाते थे। पालतू जन्तुओं के प्रति उनका व्यवहार अति स्नेहपूर्ण था। न केवल पालतू, अपितु वन्य जीवों की रक्षा के प्रति भी वे अत्यधिक सचेष्ट रहते थे। जन्तुओं की व्यर्थ की हत्या उनको पसन्द नहीं थी। प्राचीन भारतीय गृह-निर्माण पद्धति में जन्तुओं की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखा जाता है। पालतू जन्तुओं के निमित्त से विविध निर्माण होते थे। गोशाला, अश्वशाला, गजशाला, विटङ्क, पक्षिशाला, वासयष्टि आदि रचनाओं के वर्णन संस्कृत नाटकों में उपलब्ध होते हैं। भारतीय घरों के उपवनों में विविध पशु-पक्षी पाले जाते थे और उनकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखा जाथा था।

संस्कृत नाटकों से एक ओर जहाँ मानव-जीवन के विविध पक्षों के क्रियात्मक व्यवहार का बोध होता है वहीं दूसरी ओर प्रकृति में उपलब्ध वनस्पतियों एवं जन्तुओं का भी परिचय मिलता है। नाटकों का इन विविध दृष्टियों से अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय संस्कृति के उन स्वरूपों की तथा भारतीय जनों की विविध भावनाओं की जानकारी मिलती है। प्राचीन संस्कृत नाटक इस जानकारी के अच्छे स्रोत हैं। ये सांस्कृतिक इतिहास को सुस्पष्ट अभिव्यक्त करते हैं। जन्तुओं की दृष्टि से भी इन नाटकों से प्रचुर सामग्री प्राप्त की जा सकती है तथा इसका तुलनात्मक अध्ययन बहुत अधिक उपयोगी हो सकता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में भास से लेकर दिङ्नाग तक के नाटकों को लिया गया है। ये ई० पू० चतुर्थ शताब्दी से लेकर ईसा की दसवीं शताब्दी तक के लिखे गये हैं। लगभग १४०० वर्षों की इस लम्बी अवधि में भारतीय जनों ने अनेक उत्थान और पतन देखे थे। राजनीतिक परिवर्तन हुये और सभ्यता-संस्कृति ने अनेक मोड़ खाये। परन्तु इस लम्बी अवधि के नाटकों के अध्ययन से विदित होता है कि भारतीय सभ्यता की मूल भावना वही बनी रही और उसको आन्तरिक विप्लव तथा बाह्य आक्रमण भी नष्ट नहीं कर सकें। मानवेतर जन्तु-जगत् के प्रति भारतीय जन-सामान्य

का वही व्यवहार १० वीं शताब्दी ई० के संस्कृत नाटकों में अभिव्यक्त होता है, जो कि ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के संस्कृत नाटकों में है। महाकवि भास के विचारों की ही झलक कालिदास, भवभूति, राजशेखर, दिङ्नाग आदि की कृतियों में अभिव्यक्त होती है।

प्रस्तुत अध्ययन भास से लेकर दिङ्नाग तक के ४६ नाटकों के अध्ययन का परिणाम है। इसके साथ ही तुलनात्मक विवरण देने के लिये अन्य प्राचीन और आधुनिक साहित्य का उपयोग किया गया है। विविध जन्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन भी उपयोगी रहा है। अतः इनके चित्रों का देना भी सम्भव हुआ है। यहाँ केवल उन्हीं जन्तुओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिनका संकेत किसी न किसी रूप में इन नाटकों में है। उन जन्तुओं के विषय की परिचयात्मक, विज्ञानात्मक, तथ्यात्मक, काव्यात्मक, भावनात्मक, कलात्मक एवं उपयोगितात्मक सामग्री यहाँ प्रस्तुत की गई है। इन वर्णनों में सभी वर्गों के जन्तु—स्थलचर (पशु), नभचर (पक्षी), जलचर, सरीसृप और क्षुद्र जन्तुओं का समावेश हुआ है। इनकी संख्या ९० है। जन्तुओं के वर्गों में वर्णन यथासम्भव वर्णक्रमानुसार है।

संस्कृत नाटकों से हमको प्राचीन जन्तु-विज्ञान के विकास का तथा जन्तुओं के प्रति मानवीय भावनाओं के संवेदन का संकेतात्मक परिचय मिलता है। इससे इनके प्रति स्नेह और सुरक्षा की भावना भी उत्पन्न होती है। वर्तमान युग के भौतिक तथा उपभोग प्रधान वातावरण ने जन्तुओं के विनाश की भयावह स्थिति को उत्पन्न कर दिया है। जन्तुओं की अनेक जातियाँ या तो सम्पूर्ण रूप से विलुप्त हो गई हैं, या इसकी आशङ्का उत्पन्न हो गई है। यह भी आशङ्का है कि यदि इसी गति से जन्तुओं का विनाश होता रहा तो कहीं सारा ही जन्तु-जगत् नष्ट न हो जावे। अतः पालतू पशुओं के विकास और वन्य-जीवन की सुरक्षा की ओर मनीषियों और बुद्धिमानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। आवश्यकता यह है कि इस ओर वर्तमान सरकारें और जन-सामान्य ध्यान अधिक दें तथा इनकी सुरक्षा की ओर प्रयत्नशील रहें। प्रस्तुत प्रबन्ध निश्चय ही इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होगा।

—डा० कृष्णकुमार

विषय-सूची

जन्तुओं का वर्णन

प्रस्तावना

सृष्टि की रचना के आरम्भिक युग से ही मानव का पशुओं, पक्षियों, कृमियों, जलचरों तथा सरीसृपों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस विशाल सृष्टि के मध्य में पृथिवी के ऊपर और आकाश के नीचे एवं जल के भीतर सभी प्राणी, चाहे वे मानव हों, पशु हों या अन्य किसी वर्ग के हों, एक साथ रह कर विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों का उपभोग करते हुये सह-अस्तित्व के सिद्धान्त का पालन करते रहे हैं। यह भी यथार्थ है कि किन्हीं विशिष्ट प्राणियों में बुद्धि की, विद्या की और शारीरिक शक्ति की अधिकता होती है। वे इस शक्ति के द्वारा अन्य प्राणियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। मानव ने अपनी बुद्धि और विद्या की शक्ति से अन्य प्राणियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। इस प्रकार उसने अपने अस्तित्व को अधिक सुदृढ़ बनाया है।

१. जन्तुओं का मानव से सम्बन्ध

प्राचीन भारतीय साहित्य, विशेष रूप से पौराणिक साहित्य के अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसङ्ग में ऋषियों ने इस सृष्टि में उत्पन्न होने वाले सभी प्राणियों का मूल स्रोत एक ही बताया है। पौराणिक कथाओं के अनुसार ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से दक्ष प्रजापति का जन्म हुआ था[१]। तदनन्तर ब्रह्मा ने सावित्री की मानसी सृष्टि करके उसके रूप पर मोहित होकर उससे विवाह कर लिया[२]। उससे मनु का जन्म हुआ[३]। मनु से मानवी सृष्टि का प्रवर्तन हुआ। दक्ष प्रजापति ने अपनी ६४ कन्याओं में से १३ का विवाह कश्यप से किया। कश्यप ने अदिति आदि इन पत्नियों से देव, दैत्य, दानव, पशु, पक्षी, वृक्ष, सर्प, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा आदि को उत्पन्न किया।[४]

मनुस्मृति का विवरण है कि विराट् पुरुष ने पहले मनु को उत्पन्न किया था। मनु ने कठोर तपस्या करके दस प्रजापतियों की सृष्टि की। इन प्रजापतियों ने इस सृष्टि के सभी प्राणियों का सर्जन किया। इनमें किन्नर, वानर, मत्स्य, पक्षी, पशु, मृग, मनुष्य, सिंह, सर्प, कीट, कृमि, पतङ्ग, जूँ, मक्खी, खटमल, डाँस, मच्छर आदि सम्मिलित थे[५]। ये सब प्राणी अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं।

---

१. अङ्गुष्ठाद् दक्षिणाद् दक्षः प्रजापतिरजायत। मत्स्यपुराण ३.९॥
२. उपयेमे स विश्वात्मा शतरूपामनिन्दिताम्। मत्स्यपुराण ३.४३॥
३. ततः कालेन महता तस्याः पुत्रो भवन्मनुः॥
४. मत्स्यपुराण अध्याय ५–६॥
५. मनुस्मृति १.३३–४०॥

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि प्राचीन ऋषियों ने सभी प्राणियों में, चाहे वे मनुष्य हों, पशु हों, पक्षी हों, कृमि हों एक ही मूल आत्मतत्व को माना था। सभी प्राणियों के प्रति उनके हृदय में एक सा ही स्नेह और करुणा का भाव रहा था। यही कारण है कि प्राचीन ऋषियों के आश्रमों में हिंस्र पशु भी हिंसा के भाव का परित्याग कर देते थे। सिंह-शिशुओं के साथ मनुष्यों के बालक खेलते थे और मृगों को सिंहनी का दूध पीते देखा जा सकता था।

आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यता है कि अब से लगभग दो अरब वर्ष पहले एक बहुत बड़ा ज्योतिर्मय पिण्ड सूर्य से टकरा गया था। इस टकराहट से सूर्य के अनेक छोटे-बड़े खण्ड टूट कर अलग-अलग जा गिरे। परन्तु सूर्य की आकर्षण शक्ति के कारण वे उसकी परिधि से दूर नहीं जा सके और धीरे-धीरे ठण्डे होकर उपग्रह बन गये। वे सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हुये उससे प्रकाश और जीवन प्राप्त करते रहे। इनमें से पृथिवी भी सूर्य का एक उपग्रह बनी। धीरे-धीरे पृथिवी का ऊपर का स्तर भी ठण्डा होता गया। अनवरत वर्षा ने समुद्रों की रचना की और पृथिवी का तीन-चौथाई भाग इनसे ढक गया। तदनन्तर पृथिवी पर जीवन का आविर्भाव हुआ। प्रथम एककोषीय प्राणी बने। इनमें जिन प्राणियों ने अपने अन्दर पर्णहरित (Chlorophyll) उत्पन्न कर लिया, उनसे वनस्पतियों का विकास हुआ। जिनमें यह उत्पन्न नहीं हुआ, उनसे प्राणियों का विकास हुआ।

वैज्ञानिकों का विचार है कि जीवों की प्रारम्भिक सृष्टि जल के अन्दर ही विकसित हुई थी। प्रथम अमेरुदण्डीय (Invertebrate) जीव उत्पन्न हुये थे। उनसे हजारों-करोड़ों वर्षों के अन्तराल में कवचधारी (Shell Skinned Fish) उत्पन्न हुये और उनसे मेरुदण्डीय (Vertebrate) उत्पन्न हुये। वर्तमान समय की मछली उसी समय का जीवों का क्रमिक विकास है। इससे उन पौराणिक गाथाओं की यथार्थता पर भी प्रकाश पड़ता है, जिनमें भगवान् का प्रथम अवतार मत्स्य-अवतार कहा गया है। मनु-मत्स्य कथा के माध्यम से सृष्टि के उत्पत्ति-विकास की व्यञ्जना भी इससे होती है। धीरे-धीरे सूखी पृथिवी पर भोज्य पदार्थों की प्रचुर उपलब्धि ने समुद्री जीवों को स्थल पर आने के लिये बाध्य किया। तदनन्तर उभयचर (Amphibious) जन्तुओं का विकास हुआ। इनको जल और स्थल दोनों की आवश्यकता होती थी। अति प्राचीन काल के डाइनासोर इसी प्रकार के विशालकाय प्राणी थे, जो अब लुप्त हो चुके हैं, परन्तु उनके कंकाल-अवशेष उपलब्ध हो जाते हैं।

तदनन्तर सृष्टि के विकास क्रम में विविध स्तनपायी प्राणियों, पक्षियों आदि का विकास हुआ। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार स्तनपायी प्राणियों (Mammalia) की एक स्वल्प आकार की जाति से मानव का विकास हुआ था। इन्हीं जातियों से लंगूर, बन्दर वनमानुष आदि जातियाँ विकसित हुईं। परन्तु

मानव जाति में अन्य जातियों की अपेक्षा कुछ विशेषतायें थीं। इनके अङ्गों का तो विशेष विकास हुआ ही था, मस्तिष्क का भी विकास अद्भुत था। इस कारण वे अन्य सभी पशुओं की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् होकर उनके स्वामी हो गये।

प्रारम्भिक काल का मानव सम्भवतः वृक्षों पर रहता होगा, परन्तु प्राकृतिक समस्याओं ने उसको पृथिवी पर खड़ा होना सिखाया। पृथिवी पर सीधे खड़े होकर उसने सारी वसुन्धरा पर अपना अधिकार कर लिया। अपने मस्तिष्क के बल से उसने जीव-जन्तुओं पर ही नहीं, सारी प्रकृति पर अधिकार करके उसको अपनी दासी बना लिया।

अति प्राचीन समय में इस पृथिवी पर मानवों की संख्या कम और अन्य पशु-पक्षियों की अधिक रही थी। इनमें से अनेक पशु-पक्षी हिंस्र भी थे। मानवों को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये इनके साथ भीषण संघर्ष करना पड़ा। अनेक पशु-पक्षी, जो हिंस्र नहीं थे, मानव के साथ मित्र भाव से रहने लगे। मानव ने इनको पालतू बना लिया। इनसे मानव को दूध, मांस आदि भोजन, ऊन तथा चर्म के वस्त्र तथा अन्य अनेक प्रकार के पदार्थ प्राप्त होने लगे। उसने अनेक जन्तुओं का वाहन के रूप में प्रयोग किया तथा खेती करने के लिये हलों में जोता। अब भी अनेक पालतू पशु ऐसे हैं, जिनकी जंगली जातियाँ मिलती हैं। जैसे कि महिष, बकरी, मेंढा, कुत्ता आदि। जो पशु हिंसक थे और पालतू नहीं बनाये जा सकते थे, उनसे रक्षा के लिये मानव ने ग्रामों और नगरों की रचना की तथा इनका शिकार करना प्रारम्भ कर दिया। अपने मस्तिष्क के बल से मानव ने शक्तिशाली आयुध तैयार किये और अपने से अधिक बलशाली पशुओं का शिकार करके उनको मृत्यु के मार्ग का पथिक बनाया। मानव की आत्म-रक्षा के लिये इनका शिकार एक अनिवार्य आवश्यकता थी।

प्राचीन भारतीय जन्तुओं से भली-भाँति परिचित थे। जन्तु और पशु पद वस्तुतः उन सभी प्राणियों के लिये है, जिनमें प्राण होते हैं। मनुष्य भी इनमें सम्मिलित है। 'ऋग्वेद' में जन्तु पद का प्रयोग मानव के लिये भी हुआ है[1]। मनु उन सब प्राणियों को जन्तु कहते हैं, जो वायु का आश्रय लेकर जीवित रहते हैं[2]। कालिदास भी मनुष्यों के लिये जन्तु पद का प्रयोग करते हैं[3]। कोष-ग्रन्थों में भी जन्तु पद का प्रयोग प्राणिमात्र के लिये किया गया है[4]। परन्तु उत्तरवर्ती

---

१. त्वां चित्रश्रवस्तमं ह्वन्ते विक्षु जन्तवः। ऋग्वेद १.४५.६ ॥
२. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। मनुस्मृति ३.७५ ॥
३. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्।
पर्युत्सुकी भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५.२ ॥
४, अमरकोष १.४.३० ॥

साहित्य में जन्तु और पशु पद सामान्यतः मानवेतर प्राणियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। पशु पद मुख्यतः स्थलचर, ग्राम्य एवं आरण्य जन्तु का वाचक है। विभिन्न यज्ञों में इनकी बलि देने का विधान भी हुआ था। कालिदास पुरोहितों के लिये कहते हैं कि वे पशुओं का वध करने का दारुण कार्य करते हैं।[1]

२. प्राचीन साहित्य में जन्तुओं का उल्लेख

प्राचीन भारतीय ग्राम्य और आरण्य जन्तुओं से भली-भाँति परिचित थे। परिचय मात्र ही नहीं, उनका उनके प्रति भावनात्मक लगाव भी था। सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवशेषों में अनेक पशुओं—हाथी, व्याघ्र, गैंडा, भैंस, मृग आदि की आकृतियाँ उपलब्ध होती हैं। अति प्राचीन काल के भित्ति-चित्रों में विभिन्न पशु चित्रित हैं।

वेदों में अनेक ग्राम्य एवं आरण्य पशुओं, जलचरों, पक्षियों आदि के विवरण हैं। गौ का सबसे अधिक उल्लेख हुआ है। अश्व को सबसे प्रशस्त माना गया है। भेड़िया, सिंह, व्याघ्र, हाथी, गधा, खच्चर, कुत्ता, भैंस, ऊँट, बकरी, भेड़, सूअर, मृग, बन्दर, खरगोश, नेवला, गोह, सर्प, चूहा, मेंढक, मक्षिका, मत्स्य आदि का प्रचुर वर्णन है। चाष, चक्रवाक, उलूक, मयूर, गरुड़, हंस, गिद्ध, बाज आदि पक्षियों के भी वर्णन है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में पशुओं का विस्तृत वर्णन है। इनका विभाजन दो वर्गों में है—ग्राम्य और आरण्य। इनमें गौ सर्वाधिक उपयोगी और आदरणीय है। अश्व सबसे अधिक शक्तिशाली और वेगशाली है। बकरी, खच्चर, गधा, ऊँट, हाथी आदि अन्य ग्राम्य पशु हैं। सिंह, व्याघ्र, सेही, भेड़िया, जंगली गाय (गवय), बिल्ली, जंगली कुत्ता, सालावृक आदि आरण्य पशु हैं। इन ग्रन्थों में कछुआ, मेंढक, चूहा, गिडोला, गण्डूपद, विभिन्न प्रकार के सर्प, गोह, गिरगिट आदि का भी विवरण है। बाज, हंस, कलविङ्क, तीतर, कपिञ्जल आदि पक्षियों और मक्खी, चींटी आदि कृमियों का वर्णन हुआ है। सिंह को पशुओं का राजा (ईश) माना गया है।

जन्तु-विज्ञान से पाणिनि भली-भाँति परिचित थे। इन्होंने सृष्टि का दो भागों में विभाजन किया—

१. प्राणिन् (प्राणभृत् अथवा चित्तवत्)।

२. अप्राणिन् (अचित्त)।

प्राणियों के पुनः दो वर्ग हैं—मनुष्य और पशु। पशुओं के पुनः दो वर्ग हैं—ग्राम्य और आरण्य। पाणिनि ने क्षुद्रजन्तु (अत्यधिक स्वल्पकाय प्राणी) और क्रव्याद (मांस-भक्षी प्राणी) वर्गों के भी उल्लेख किये हैं। पशु-विज्ञान से सम्बन्धित अनेक

---

१. पशुमारणकर्मदारुणः······।
　　··············श्रोत्रियः ॥ अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६.१ ॥

पारिभाषिक शब्दों—द्विदन्त, असंजातककुद, अङ्गुलशृङ्ग, चतुर्दन्त, षोदन्त, पूर्णककुद; विगतशृङ्ग आदि का प्रयोग वे करते हैं।

'पाणिनीय अष्टाध्यायी' पर 'महाभाष्य' की रचना करने वाले पतञ्जलि अपने युग के जन्तु-जगत् से भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने विविध जन्तुओं का वैज्ञानिक विवेचन किया है। महाभाष्य में वर्णित पशुओं को पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है—

ग्राम्य, आरण्य, जलीय, पक्षी और क्षुद्रजन्तु।

पतञ्जलि पञ्चनख प्राणियों की भी एक श्रेणी मानते हैं। इनमें शशक, शल्यक, खड्गी, कूर्म और गोधा की गणना है। ये सभी प्राणी भक्ष्य माने गये हैं।

पतञ्जलि ने ग्राम्य पशुओं में गौ, बैल, अश्व, खच्चर, हाथी, ऊँट, गधा, भैंस, भेड़, बकरी, कुत्ता, बिल्ली और सूअर का; आरण्य पशुओं में विभिन्न प्रकार के मृगों, गवय, नीलगाय, सिंह, व्याघ्र, गीदड़, भेड़िया, सेही, खरगोश, रीछ आदि का; जलीय जन्तुओं में नक्र, ग्राह, गोधा, कच्छप, मेंढक, मछली आदि का; पक्षियों में कौआ, बाज, कबूतर, मोर, कोयल, मुर्गा, हंस, उल्लू, बगला, चकवा, तोता, गौरैया, गरुड़, क्रौञ्च, कपिञ्जल, कुरर, नीलकण्ठ, गिद्ध, कङ्क, बटेर आदि का तथा क्षुद्र जन्तुओं में नेवला, सर्प, बिच्छू, चूहा, पतंगा, मकड़ी, चींटी, मक्खी, जूँ, लीख आदि का वर्णन किया है।

धर्मसूत्रों में भी जन्तुओं का विस्तृत वर्णन है। उनको चार वर्गों में बाँटा गया है—एकशफ (जिनका एक खुर होता है), द्विखुरी (जिनके दो खुर होते हैं), पञ्चनख (जिनके पाँच नख होते हैं), उभयोदत् (जिनके ऊपर-नीचे दो पंक्तियों में दान्त होते हैं)।

पक्षियों के तीन वर्ग हैं—

१. विकिर, विष्किर या विविष्किर—जो पैरों से कुरेद कर अपना भोजन खोजते हैं। इस वर्ग में तीतर, कबूतर, कपिञ्जल, मोर आदि पक्षी हैं।

२. प्रतुद—जो अपनी चोंच से खोद कर भोजन प्राप्त करते हैं। कठफोड़वा, दार्वाघाट आदि इसी वर्ग के पक्षी हैं।

३. क्रव्याद—जो प्राणियों का मांस खाकर जीवन निर्वाह करते हैं। इस वर्ग में गिद्ध, बाज आदि पक्षी हैं।

रक्तपाद, जालपाद आदि पक्षियों के भी वर्ग किये गये हैं।

प्राचीन साहित्य में शास्त्रीय ग्रन्थों, आयुर्वेदीय ग्रन्थों, पुराणों, काव्यों आदि में जन्तुओं का जितना विशद उल्लेख है, उस सबका वर्णन करना यहाँ सम्भव नहीं है। तथापि कुछ विशिष्ट साहित्य का संकेत अवश्य दे दिया गया है। इससे यह स्पष्ट रूप से विदित हो जाता है कि प्राचीन लेखक और कवि उस जान्तव पर्यावरण से भली-भाँति परिचित थे, जिसके मध्य वे निवास करते थे। उन जन्तुओं के प्रति वे भावनात्मक अनुभूति और लगाव रखते थे।

३. संस्कृत नाटकों में जन्तुओं का उल्लेख

संस्कृत नाटकों में प्रायः उन सभी जन्तुओं का उल्लेख हुआ है, जो तत्कालीन समाज के सम्पर्क में किसी न किसी रूप में आते थे। इसके साथ ही इनमें कुछ ऐसे भी जन्तुओं का उल्लेख है, जो परम्परागत रूप से प्राचीन संस्कृत साहित्य में वर्णित हुये हैं, किन्तु जिनका रूप वर्तमान समय में अधिक सुनिश्चित नहीं हो सका है। शरभ एक ऐसा ही पशु है। कालिदास ने इसका वर्णन किया है। टीकाकारों ने इसको आठ पैरों वाला पशु-विशेष कहा है। 'हनूमन्नाटक' में इसकी उपस्थिति वनों में तथा 'तपतीसंवरण' में हिमालय की उपत्यकाओं में प्रदर्शित की गई है। जलमातङ्ग और जलमानुष भी इसी प्रकार के जन्तु हैं। ये जल में रहते हैं। इनकी पहचान का प्रयत्न किया गया है। तथापि कवियों ने जिस प्रकार से इनका वर्णन किया है, उनको उस रूप में देखा भी होगा, यह सन्देहास्पद है।

संस्कृत नाटककारों ने उन अनेक पशुओं के दर्शन किये होंगे, जो घरों में पाले जाते थे या घरों में आते-जाते देखे जाते थे। गौ, सांड, बैल, भैंस, बकरी, ऊँट, गधा, हाथी, घोड़ा, भेड़, सूअर आदि जन्तु भारतीयों की सदा पशु-सम्पत्ति रहे। कुत्ते और बिल्ली पालतू भी होते थे तथा आवारा रूप में सड़कों और गलियों में घूमते हुए एवं घरों में भी दिखाई दे जाते थे। कवियों ने इन सबका वर्णन किया है।

प्राचीन काल में भारतीय जन, विशेष रूप से कवि वन्य-भ्रमण के शौकीन थे। वे वनों में विविध प्राणियों को देखते थे तथा वीर पुरुषों द्वारा उनके शिकार को भी देखते थे। जंगली भैंसा, भालू, गैंडा, जंगली सूअर, व्याघ्र, तेंदुआ, चीता, भेड़िया, गीदड़ आदि जन्तु हिंसक तथा मांसाहारी थे, जिनका शिकार भी किया जाता था। गवय जंगली पशु था, जो मृग जैसा ही था। वनों में मृगों और खरगोशों का शिकार माँस के लिये किया जाता था। मृगों के पाले जाने के भी बहुधा उल्लेख मिलते हैं। तपोवनों का यह प्रिय पशु रहा। लंगूर वनों में ही मिलता था, परन्तु इसका शिकार करने का उल्लेख नहीं है। वानर मूलतः वन्य पशु रहा, परन्तु यह ग्रामों और नगरों में भी मिल जाता था। इसको पाला भी जाता था। वानर की हत्या करना पाप माना गया था।

नाटकों में अनेक पक्षियों का वर्णन है। इनमें से अनेक पक्षी जल के अधिक समीप रहते हैं, अतः उनको जलचर पक्षी कहा जाता है। यह विभेद करना कठिन है कि कौनसे पक्षी पालतू कहे जाने चाहियें और कौन-से आरण्यक। पालतू पक्षियों को भी पिंजरे में बन्द करके रखना पड़ता था। कुछ पक्षी घरों में अधिक पाले जाते थे, जैसे कि मयूर, शुक, सारिका, कपोत और कुक्कुट। ये स्वतन्त्र विचरण करते हुये भी देखे जाते थे। कोकिल, चकोर, चातक, चाष, लावक, तीतर, कपिञ्जल और श्येन पक्षियों के पाले जाने के वर्णन मिलते हैं। परन्तु ये आरण्यक ही अधिक

थे। काक, उलूक, गृध्र, गरुड़, चील, कुरुकुच, खञ्जन, कुक्कुभ, पूर्णिक, टिट्टिभी, चातक आदि पक्षी स्वतन्त्र ही रहना पसन्द करते थे, अतः उनको पालने का रिवाज भी प्रायः नहीं था।

संस्कृत नाटकों में अनेक जलधर पक्षियों का वर्णन हुआ है। हंस, वक, सारस, क्रौञ्च, कारण्डव, दात्यूह, वार्ध्रीणस, कङ्क, चक्रवाक और कुक्कुभ पक्षियों को जलचर कहा जा सकता है। इनको जल का वातावरण अधिक प्रिय है। ये पक्षी भी प्रायः स्वतन्त्र रहना अधिक पसन्द करते हैं, परन्तु संस्कृत नाटककारों ने हंसों और सारसों को पालने के प्रचुर वर्णन किये हैं। ये जलचर पक्षी आकाश में लम्बी उड़ाने भर सकते हैं। ये सूखी पृथिवी पर भी भ्रमण कर सकते हैं और जल में विहार करने में भी कुशल हैं।

संस्कृत नाटककारों ने ऐसे प्राणियों को भी बहुत समीप से देखा होगा, जो जल के भीतर रहते हैं। इनमें अनेक जन्तु स्वल्प समय के लिये भी जल से बाहर नहीं रह सकते। ये जल से बाहर आने पर मर जाते हैं। विभिन्न प्रकार के मत्स्य इसी प्रकार के हैं। तिमि और तिमिङ्गल यद्यपि श्वास लेने के लिये जल की सतह से ऊपर अवश्य आते हैं, तथापि जल से बाहर ले जाये जाने पर मर जाते हैं। मकर, कच्छप, जलसर्प, कर्कटक, मण्डूक यद्यपि जल के भीतर रहना ही अधिक पसन्द करते हैं, तथापि श्वास लेने के लिये जल के बाहर आते हैं और कुछ समय तक जल के बाहर स्थल पर भी रह सकते हैं। प्रवाल जल के भीतर ही रहते हैं। शङ्ख, वराट, शुक्ति ये तीनों मुख्य रूप से कड़ी खोल वाले समुद्री जन्तु, हैं, परन्तु अनेक बार समुद्र की लहरों के प्रवाह में किनारे पर आ जाते हैं और स्थल पर घूमते देखे जा सकते हैं।

प्राचीन नाटककारों ने अनेक सरीसृप जन्तुओं का भी उल्लेख किया है। विविध प्रकार के सर्प, महानाग और अजगर इस वर्ग में रखे जा सकते हैं। चूहा और नेवला यद्यपि वास्तविक अर्थों में सरीसृप (मांसपेशियों के सहारे सरक कर चलने वाले) नहीं हैं, क्योंकि इनके छोटे-छोटे पैर होते हैं और ये स्तनपायी हैं, तथापि पैरों के छोटे होने तथा शरीर के लम्बे भूमि पर समानान्तर रहने से इनका परिगणन सरीसृपों में कर लिया गया है।

संस्कृत नाटककारों की दृष्टि से छोटे-छोटे जन्तु (कृमि-कीट) भी नहीं बच सके थे। इन्होंने भृङ्ग, पतङ्ग, मक्षिका, मधुमक्षिका, मशक, लूता, घुण, पिपीलिका और इन्द्रगोप का भी वर्णन किया है।

यद्यपि अन्य भी अनेक प्रकार के जन्तु लोक में दृष्टिगोचर होते हैं, प्राचीन समय में भी होते थे तथा अन्य साहित्य में भी वर्णित हैं, तथापि इस प्रकरण में उन्हीं जन्तुओं का विवरण दिया गया है, जिनका वर्णन प्राचीन संस्कृत नाटकों में है।

४. जन्तु-विज्ञान

प्राचीन भारतीय जन प्रकृति में पाये जाने वाले विविध जन्तुओं से भली-

भाँति परिचित थे। उन्होंने इन जन्तुओं की विशेषताओं का निकट से सूक्ष्म अध्ययन किया था। प्राचीन शिक्षा संस्थाओं में पशु-विज्ञान का भी अध्ययन कराया जाता था। भवभूति ने इस विषय को पशु-समाम्नाय कहा है[1]। इस विषय के अन्तर्गत विभिन्न पशुओं के रूप, गुण, पालन, चिकित्सा आदि का ज्ञान कराया जाता था।

प्राचीन समय में जन्तुविज्ञान के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई थी। यद्यपि बहुत सा साहित्य विदेशी आक्रान्ताओं ने नष्ट कर दिया, तथापि कुछ ग्रन्थ अब भी उपलब्ध हैं। अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों में जन्तुविज्ञान के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। सोमेश्वर रचित 'मानसोल्लास' के मत्स्यविनोद प्रकरण में मछलियों के सम्बन्ध में विस्तार से बताया गया है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में मछलियों के आर्थिक पक्ष का विस्तृत विवरण है। इनके पालन, संरक्षण, पकड़ना, भोजन आदि के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश हैं। मछलियों के व्यापार पर कर का भी निर्धारण किया गया है। मछलियों की खाद से वनस्पतियों की वृद्धि का भी विवरण है। 'अग्नि-पुराण' में गजचिकित्सा (अध्याय २८७), अश्वचिकित्सा (अध्याय २८९), अश्वशान्ति (अध्याय २९०), गजशान्ति (अध्याय २९१) आदि में गज और अश्व के रोगों की चिकित्सा तथा इनकी शान्ति के उपाय कहे गये हैं।

प्राचीन समय में साँपों के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन किया गया था। चिकित्सा के ग्रन्थों में सर्पों तथा उनके दष्ट की चिकित्सा का विस्तृत वर्णन है। 'सुश्रुतसंहिता' के कल्पस्थान में इस विषय का विस्तार से वर्णन है। सर्प मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं—दिव्य और भौम। वासुकि आदि दिव्य सर्प हैं, जिनके विष की चिकित्सा सम्भव नहीं है।

भौम सर्प दो प्रकार के होते हैं—विषैले और विषरहित। विषैले सर्प चार प्रकार के हैं—दर्वीकर, मण्डलिन्, राजिमन्त् और वैकरञ्ज। दर्वीकर के २६, मण्डलिन् के २२, राजिमन्त् के १० और वैकरञ्ज के १० भेद होते हैं। इस प्रकार विषैले सर्प ६८ प्रकार के हैं। इनमें पहले तीन वर्ग विशुद्ध जाति के और वैकरञ्ज सर्प दोगली जाति के होते हैं। ये दर्वीकर, मण्डलिन् तथा राजिमन्त् साँपों के परस्पर संयोग से उत्पन्न होते हैं। विषरहित साँपों का एक वर्ग है। ये १२ प्रकार के हैं। इनमें अजगर आदि सर्प सम्मिलित हैं।

सुश्रुत ने सर्पों का वर्गीकरण वर्णभेद—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से तथा लिंगभेद—स्त्री, पुरुष, नपुंसक से भी किया है।

'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार सर्पों के मुख्य भेद हैं—निर्दंशी (जो काटते नहीं हैं), स्वज (दो मुख वाले), मन्थावल (वृक्षों की शाखाओं से लटकने वाले), अन्ध (अन्धे), शाकल (पूँछ को मुख में रखने वाले) और जलीय (जल में रहने वाले)।

---

१. उत्तररामचरितम् पृ० ३३४।

'मत्स्यपुराण' में एकशिरस्, चतुः शिरस्, पञ्चशिरस्, सप्तशिरस्, सहस्रशिरस् आदि सर्पों का उल्लेख किया गया है।

सर्पों के स्वभाव आदि के सम्बन्ध में अनेक तथ्य प्राप्त होते हैं। 'भविष्य-पुराण' के अनुसार सर्पों के युगल ज्येष्ठ मास में समागम करते हैं और कार्तिक में अण्डे देते हैं। एक सर्पिणी एक बार में लगभग २४० अण्डे देती है। अधिकांश अण्डों को माँ-बाप खा जाते हैं। बचे हुये अण्डों में से लगभग दो महीने में बच्चे निकलते हैं। सुनहरे रंग के अण्डों में से पुरुष सर्प, पीले अण्डों में से स्त्री सर्प और श्वेत अण्डों में से नपुंसक सर्प निकलते हैं। एक सप्ताह में इन सर्प-शिशुओं का रङ्ग गहरा होने लगता है और १४-२१ दिन में दान्त निकल आते हैं। तीन सप्ताह में इनमें विष उत्पन्न हो जाता है। ६ महीनों में ये केंचुली उतारने लगते हैं।

सर्प सरकते हुये चलते हैं। इनकी त्वचा की पेशियों के संकोच और विस्तरण से यह गति होती है। त्वचा की ये पेशियाँ ही इनके पैर हैं, जो संख्या में २४० होती हैं। इनमें २४० सन्धियाँ होती हैं। विषैले सर्पों के ३२ दान्त होते हैं। इनमें पार्श्वों के दान्त अधिक बड़े तथा दृढ़ होते हैं। ये ही विषदन्त हैं। इनको कालरात्रि या यमदूतिका भी कहा जाता है। विषैले सर्प की आयु १२० वर्ष तथा विषरहित की आयु ८० वर्ष कही गई है। पुराणकारों ने सर्प के शत्रुओं का भी वर्णन किया है। इनमें प्रमुख हैं—मनुष्य, नेवला, मोर, चकोर, बिच्छू, सूअर, बिल्ली और बैल के खुर।

चिकित्सा ग्रन्थों में सर्प के अतिरिक्त अन्य विषैले जन्तुओं कें भी विवरण हैं। इनमें मुख्य हैं—बिच्छू, विभिन्न प्रकार के कीट, शतपदी (कानखजूरा), मण्डूक (मेंढक), मूषक (चूहा), मशक (मच्छर), मक्षिका (मक्खी), लूता (मकड़ी) आदि।

विभिन्न पशुओं के सम्बन्ध में पृथक् से भी वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखे गये थे। अनेक ग्रन्थों के लुप्त हो जाने पर भी उनमें से कुछ अवश्य प्राप्त हैं। हाथी और अश्व तथा श्येन से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं।

हाथी के वैज्ञानिक विवेचन के लिये 'हस्त्यायुर्वेद' का विकास हुआ था। प्राचीन भारतीय समाज में हाथी का बहुत महत्व था। वह वाहन के रूप में और सेना के लिये बहुत महत्वपूर्ण था। चतुरङ्गिणी सेना का एक विशेष अङ्ग हस्तिसेना होती थी।

'रामायण', 'महाभारत', 'अर्थशास्त्र', 'बृहत्संहिता', 'शुक्रनीति' आदि ग्रन्थों में हस्तिविज्ञान से सम्बन्धित विस्तृत विवरण है। पालकाप्य की 'हस्त्यायुर्वेदसंहिता' और नीलकण्ठ की 'मातङ्गलीला' स्वतन्त्र रूप से हस्त्यायुर्वेद से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं।

पालकाप्य ने हस्त्यायुर्वेद को अङ्गदेश के राजा रोमपाद को सुनाया था। गद्य-पद्य में लिखे गये इस ग्रन्थ में चार स्थान खण्ड हैं—महारोगस्थान, क्षुद्ररोगस्थान, शल्यस्थान और उत्तरस्थान। प्रत्येक स्थान अनेक अध्यायों में विभक्त है। पहले दो

स्थानों में हाथियों के विविध रोगों की चिकित्सा दी गई है। तीसरे स्थान में हाथियों की शल्यचिकित्सा है। इसके अनेक उपकरणों का भी वर्णन है। चतुर्थ स्थान में हाथियों के पालन-पोषण, भेद आदि के सम्बन्ध में बताया गया है।

'मातङ्गलीला' ग्रन्थ में २६३ श्लोक हैं। ये १२ पटलों (अध्यायों) में विभक्त हैं। इनमें हस्तिविज्ञान का विस्तृत विवरण है।

प्राचीन भारत का अश्वविज्ञान भी बहुत विकसित था। समाज में अश्व को समृद्धि का चिह्न माना जाता था। वाहन के रूप में और रथों को खींचने के लिये यह बहुत उपयोगी था। प्राचीन भारतीय युद्ध-विज्ञान में अश्वसेना बहुत महत्व रखती थी। प्राचीन भारत के राजनीतिक जीवन में अश्वमेध यज्ञ को बहुत महत्व दिया गया था। अश्वमेध यज्ञ करने वाला चक्रवर्ती सम्राट् होता था। 'रामायण', 'महाभारत', 'अर्थशास्त्र' आदि ग्रन्थों को पढ़ने से उनमें अश्वों को पालने आदि के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। कहा जाता है कि अश्व-विज्ञान के प्रमुख आचार्य शालिहोत्र थे और उन्होंने 'शालिहोत्रसंहिता' ग्रन्थ की रचना की थी। निषध देश के राजा नल अश्व-विज्ञान के महान् पण्डित थे। 'महाभारत' में नकुल को अश्व-विज्ञान का विशेष वेत्ता कहा गया है।

अश्व-विज्ञान विषय पर कुछ प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें 'अश्वशास्त्र' मुख्य है। ग्रन्थ के पाँचवें श्लोक के अनुसार इसके रचयिता नकुल नामक पाण्डव थे। परन्तु यह ग्रन्थ उतना प्राचीन प्रतीत नहीं होता। सम्भवतः ग्रन्थ को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिये लेखक ने इसका रचयिता नकुल को लिख दिया। यह भी सम्भव है कि लेखक का नाम नकुल रहा हो और उसने अपने नाम के आगे पाण्डुपुत्र जोड़ दिया हो। यह ग्रन्थ काफी विशाल है। परन्तु यह मौलिक प्रतीत न होकर संग्रह ग्रन्थ ही अधिक प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में अश्व की उत्पत्ति, उत्तम अश्व के लक्षण, अश्व का पालन-पोषण, विकास, वृद्धि, चिकित्सा, भेद, गति, प्रशिक्षण आदि विषयों पर विचार किया गया है। साथ में अश्वमनोविज्ञान पर भी प्रकाश डाला गया है।

'अश्वचिकित्सा' नाम से एक और भी ग्रन्थ मिला है। इसको भी नकुल की रचना कहा जाता है। १८ अध्यायों के इस ग्रन्थ में अश्व से सम्बन्धित सभी वैज्ञानिक जानकारियाँ दी गई हैं। जयसूरिदत्त कृत 'अश्ववैद्यक' नामक ग्रन्थ की रचना तेरहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य हुई थी। ६८ अध्यायों के इस ग्रन्थ में अश्वविज्ञान के विविध प्रसङ्गों के साथ ही अश्वचिकित्सा का विस्तृत वर्णन है। वाग्भट विरचित 'अश्वायुर्वेद' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा गया था।

प्राचीन समय में पक्षियों से सम्बन्धित वैज्ञानिक ग्रन्थों की रचना भी हुई थी। संस्कृत के विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों में पक्षि-विज्ञान के सम्बन्ध में अनेक तथ्य कहे गये हैं। पक्षियों के प्रकार, स्वभाव, पालन-पोषण आदि का ज्ञान प्राचीन ऋषियों को

निश्चित रूप से था। मनोरञ्जन के लिये घरों में पक्षी पाले जाते थे। इनके निवास और भोजन के लिये विशेष व्यवस्था की जाती थी। रोगी होने पर इनकी चिकित्सा का भी उचित प्रबन्ध होता था।

पक्षि-विज्ञान से सम्बन्धित एक ग्रन्थ 'श्यैनिकशास्त्र' उपलब्ध हुआ है। सम्भवतः इसको कुमायूँ के राजा रुद्रदेव ने १४-१५ वीं शताब्दी में लिखा था। यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम 'श्यैनिकशास्त्र' है, तथापि इसमें श्येन के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से विषयों का वर्णन है। सात अध्यायों के इस ग्रन्थ में मृगया के उपयोगी विविध पक्षियों का उल्लेख करके श्येन (बाज) के सम्बन्ध में बहुत सी बातें कही गई हैं। श्येन का पालन-पोषण, उसके प्रकार, रोग, चिकित्सा आदि विषयों का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ में दिया गया है। प्राचीन समय में शिकारी इसको शिकार करने के साधन के रूप में उपयोग में लाते थे। शौकीन लोग इसको पालते थे और इसके द्वन्द्व-युद्ध कराते थे। इस हेतु इसको विशेष प्रकार से प्रशिक्षित किया जाता था।

जन्तु-विज्ञान से सम्बन्धित इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक ग्रन्थ प्राचीन समय में लिखे गये थे। परन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं। मल्लीनाथ की टीकाओं में इस प्रकार के कुछ ग्रन्थों के उद्धरण हैं। इनमें 'कर्णोदय', 'मृगचर्मीय' तथा 'रेवतोत्तर' के नाम लिये जा सकते हैं। 'कर्णोदय' पक्षि-विज्ञान का, 'मृगचर्मीय' हस्ति-विज्ञान का और 'रेवतोत्तर' अश्व-विज्ञान का ग्रन्थ है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन समय में जन्तु-विज्ञान का समुन्नत विकास हुआ था। इसकी सैद्धान्तिक और क्रियात्मक शिक्षा दी जाती थी। अशोक ने पशु-चिकित्सालयों की स्थापना की थी, जहाँ सुयोग्य चिकित्सक विविध जन्तुओं की चिकित्सा करते थे।

५. जन्तुओं का वर्गीकरण

आधुनिक समय में जन्तु-विज्ञान ने बहुत अधिक उन्नति की है। विश्व की सभी जन्तु-जातियों का अवलोकन करके उनके सम्बन्ध में विस्तृत अन्वेषण किये गये हैं। एक कोशिका वाले सूक्ष्म जन्तु से लेकर बहुकोशीय विशाल सैंकड़ों फीट आकार के लम्बे जन्तुओं का भी अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान ने संरचना के आधार पर जन्तुओं का वर्गीकरण किया है।

जन्तुओं को प्रधान रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—नानकारडेटा (अमेरुदण्डीय—Invertebrate) और कारडेटा (मेरुदण्डीय—Vertebrate)। अमेरुदण्डीय जन्तुओं के ९ विभाग किये जाते हैं—

१. प्रजीव विभाग (Phylum Protozoa)

२. छिद्रिष्ठ जीव विभाग (Phylum Porifara)

३. सुषिरान्त्रीय जीवविभाग (Phylum Coelenterata)
४. गंडूपद जीवविभाग (Phylum Annelida)
५. चिपिटकृमि-विभाग (Phylum Platyhelminthes)
६. सूत्रकृमि-विभाग (Phylum Nemathelminthes)
७. कोषस्थ जीव-विभाग (Phylum Mollesca)
८. सन्धिपाद जीव-विभाग (Phylum Arthropoda)
९. कंटकितत्वच जीव-विभाग (Phylum Echinoderma)

कारडेटा वर्ग में केवल एक विभाग है—मेरुपृष्ठीय जीव-विभाग (Phylum chardata)। इसको ६ श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

१. कोमलास्थि मत्स्य श्रेणी (Class Silachii)
२. दृढ़ास्थि मत्स्य श्रेणी (Class Piscus)
३. उभयचर श्रेणी (Class Amphibia)
४. सरीसृप श्रेणी (Class Reptilia)
५. पक्षि-श्रेणी (Class Aves)
६. स्तनपायी श्रेणी (Class Mammalia)

इन सभी विभागों और श्रेणियों का विभाजन अनेकों उपविभागों, उपश्रेणियों, वर्गों आदि में किया गया है। इस अति विस्तृत विषय को प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है। जन्तुओं के वर्गीकरण के सम्बन्ध में आधुनिक पद्धति का केवल दिग्दर्शन और विचारसरणी का परिचयमात्र यहाँ दिया गया है। जन्तुओं के इस वर्गीकरण को वैज्ञानिक रूप से सारे विश्व ने स्वीकार किया है।

भारतवर्ष के प्राचीन मनीषियों और विद्वानों ने भी जन्तुओं का वर्गीकरण करने का प्रयास किया था। परन्तु वर्तमान समय के समान परस्पर सम्मेलन तथा विचार-विनिमय की सुविधाओं के न होने से यह सम्भव न हो सका कि वे एक निर्णय पर पहुँच कर एक ही प्रकार से वर्गीकरण कर पाते। उनके वर्गीकरण में कुछ समानतायें होते हुये भी पद्धति की भिन्नता के कारण भिन्नतायें हो गई हैं। प्राचीन काल के जन्तु-वर्गीकरण का चित्र संक्षेप से प्रस्तुत करना रोचक और उपयोगी होगा।

मनु ने भौतिक पदार्थों का दो वर्गों में वर्गीकरण किया है—स्थावर और जंगम। जंगम पदार्थ जीवन-युक्त होते हैं। ये तीन प्रकार के हैं—जरायुज, अण्डज और स्वेदज। जरायुजों में मनुष्य और अन्य पशु हैं। अण्डज दो प्रकार के हैं—स्थलज और औदक। इस वर्ग में पक्षी, सर्प, नक्र, मत्स्य, आदि हैं। स्वेदज के अन्तर्गत मक्खी, जूँ, चींटी आदि का ग्रहण किया जाता है।

'छान्दोग्य उपनिषद्' में जन्तुओं की उत्पत्ति बीज से मानी गई है। इनके तीन वर्ग हैं—अण्डज, जीवज और उद्भिज। महाभारतकार ने चार वर्गों के जन्तु

कहे हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज। वनस्पतिज पदार्थों के सड़ने से उत्पन्न जन्तु उद्भिज हैं। 'मत्स्यपुराण' में जन्तुओं का विभाजन चार वर्गों में किया गया है—आरण्य, ग्राम्य, जलोद्भव और स्थलज।

जैन ग्रन्थों में जन्तुओं का वर्गीकरण अधिक विशद वैज्ञानिक रूप से किया गया है। उमास्वती के 'तत्वार्थाधिगम' नामक ग्रन्थ में ज्ञानेन्द्रियों की संख्या के अनुसार जन्तुओं का परिगणन हुआ है—

१. स्पर्श और रसना दो इन्द्रियों वाले जन्तु। इनके पाँच वर्ग हैं—
   (क) अपादिक, (ख) नूपुरक, (ग) गण्डूपद, (घ) कठोरावरण शंख आदि और (ङ) जलौका।
२. स्पर्श, रसना और नासिका वाले तीन इन्द्रियों के जन्तु। इनके सात वर्ग हैं—
   (क) पिपीलिका, (ख) रोहिणिका, (ग) उपचिका, (घ) त्रपुसबीज और कपासास्थिका, (ङ) शतपदी, (च) तृणपत्र और (छ) काष्ठहारक।
३. स्पर्श, रसना, नासिका और दृष्टि—इन चार इन्द्रियों वाले जन्तु। इनके पाँच वर्ग हैं—
   (क) भ्रमर, वरट आदि, (ख) मक्षिका, दंश, मशक आदि, (ग) वृश्चिक, लूता आदि, (घ) कीट और (ङ) पतङ्ग।
४. स्पर्श, रसना, नासिका, दृष्टि और श्रवण—इन पाँच इन्द्रियों वाले जन्तु। इनके पाँच वर्ग हैं—
   (क) मत्स्य, (ख) उरग, (ग) भुजङ्ग, (घ) पक्षी और (ङ) चतुष्पाद।

इनमें प्रथम तीन वर्ग नानकारडेटा (Nonchordata) और चतुर्थ वर्ग कारडेटा (Chordata) है। कारडेटा वर्ग की तीन श्रेणियाँ हैं—जरायुज, अण्डज और स्वेदज।

अनेक शास्त्रकारों ने जन्तुओं का वर्गीकरण उनके मांस के भक्ष्य और अभक्ष्य होने के आधार पर किया है। इनमें चरक और सुश्रुत की संहितायें अधिक प्रसिद्ध हैं। चरक के अनुसार भक्ष्य जन्तुओं के निम्न आठ वर्ग हैं—

१. **प्रसह**—भूमि पर रहने वाले मांसभक्षी और अमांसभक्षी चौपाये तथा वे श्येन आदि पक्षी, जो भोजन पर तीव्र गति से झपटते हैं।
२. **अनूप**—जलीय स्थानों के समीप विचरण करने वाले जन्तु।
३. **भूशय अथवा बिलेशय**—भूमि के अन्दर बिलों में रहने वाले जन्तु।
४. **वारिशय**—जल के अन्दर रहने वाले जन्तु।
५. **जलचर**—जल और स्थल दोनों स्थानों पर विचरण करने वाले जन्तु।
६. **जाङ्गल**—सूखे जंगलों में रहने वाले जन्तु।

७. **विष्किर**—पैरों से कुरेद कर भोजन की खोज करने वाले जन्तु ।

८. **प्रतुद**—चोंच से कुरेद कर भोजन की खोज करने वाले जन्तु ।

सुश्रुत ने जन्तुओं का विभाजन दो मुख्य वर्गों में किया है—अनूप और जाङ्गल । इनमें अनूप ५ और जाङ्गल आठ प्रकार के होते हैं । इस प्रकार कुल १३ भेद हैं, जो निम्न हैं—

(क) अनूप जन्तु—

१. **कूलेचर**—नदियों और जलाशयों के तटों पर विचरण करने वाले चौपाये । जैसे—हाथी, गैंडा, गवय, मृग आदि ।

२. **प्लव**—उभयचर जन्तु । जैसे—हंस, बगुला आदि ।

३. **कोषस्थ**—कठोर आवरण के जन्तु । जैसे—शंख, शुक्ति आदि ।

४. **पाठीन**—जल में रहने वाले जन्तु । कछुये आदि ।

५. **मत्स्य**—नदियों तथा समुद्रों की मछलियाँ ।

(ख) जाङ्गल जन्तु—

६. **जंघाल**—घास खाने वाले तथा मजबूत पैरों वाले जन्तु ।

७. **विष्किर**—पैरों से कुरेद कर भोजन की खोज करने वाले जन्तु ।

८. **प्रतुद**—चोंच से कुरेद कर भोजन की खोज करने वाले पक्षी ।

९. **गुहास्थ**—गुफाओं में रहने वाले मांसभक्षी जन्तु । जैसे—सिंह, व्याघ्र, वृक, शृगाल आदि ।

१०. **प्रसह**—नदियों और जलाशयों के तटों पर विचरने वाले मांसभक्षी एवं अमांसभक्षी चौपाये ।

११. **पर्णमृग**—वृक्षों की शाखाओं पर विचरने वाले जन्तु ।

१२. **बिलेशय**—भूमि के अन्दर बिलों में रहने वाले जन्तु ।

१३. **ग्राम्य**—पालतू अमांसभक्षी जन्तु । जैसे—अश्व, गर्दभ, उष्ट्र, मेष, अजा आदि ।

प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों में जन्तुओं का वर्गीकरण बहुत कुछ उनके आकार-प्रकार, रहन-सहन, स्वभाव, उपलब्धि आदि के आधार पर किया गया था । इस सम्बन्ध में पतञ्जलि का वर्गीकरण अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है । उन्होंने जन्तुओं के पाँच वर्ग किये हैं—ग्राम्य, आरण्य, जलीय, शकुनि और क्षुद्र जन्तु । वे पंचनख जन्तुओं—शशक, शल्यक, खड्गी, कूर्म और गोधा का अलग वर्ग भी बताते हैं । ये भक्ष्य हैं । उन्होंने स्वभावतः परस्पर विरोधी तथा स्वभावतः साथ रहने वाले जन्तुओं के भी वर्ग कहे हैं । पतञ्जलि ने पाणिनीय सूत्र २.४.१ की व्याख्या में क्षुद्र जन्तुओं के पाँच भेद बताये हैं—

१. अस्थिररहित जन्तु,

२. स्वरक्तरहित जन्तु,

३ वे सूक्ष्म जन्तु, जो हथेली पर रखने से १००० से अधिक आ जावे,

४. तुरन्त कुचले न जा सकने वाले क्षुद्र जन्तु,

५. छोटे नेवले तक के आकार के क्षुद्र जन्तु।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि जन्तुओं का वर्गीकरण प्राचीन मनीषियों के अनुसार अनेक प्रकार से हो सकता है। इस प्रबन्ध में जन्तुओं के वर्णन का क्रम किस प्रकार किया जावे, यह विचारणीय है। आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार यह वर्णन करना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्राचीन वर्णनों से यह मेल नहीं खायेगा। अतः प्राचीन पद्धति का ही कुछ आश्रय लेना आधिक उपयोगी होगा।

पशुओं के ग्राम्य और आरण्य दो वर्ग हैं। परन्तु इनमें भी विभाजन की रेखा खींचना कठिन है। पहले सभी पशु आरण्य ही थे, परन्तु मनुष्य ने कुछ को पालतू बना लिया। अनेक की आरण्य जातियाँ अब भी मिलती हैं। मृग आदि पशुओं को शौक से पाला जाता रहा है। परन्तु यह अब भी मूलतः आरण्य ही हैं। पक्षी अनेक प्रकार के हो सकते हैं—पालतू, आरण्य और जलचर। परन्तु इनमें भी विभेदक रेखा खींचना कठिन है। इन कठिनाइयों को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत प्रबन्ध में सुविधा के लिये जन्तुओं को वर्गों में विभक्त करके प्रत्येक वर्ग के जन्तुओं का यथासम्भव वर्ण-क्रम के अनुसार वर्णन किया गया है। यह इस प्रकार है—

१. पशु
२. पक्षी
३. जलचर जन्तु
४. सरीसृप
५. क्षुद्र जन्तु

६. जन्तुओं का पालन और अलङ्करण

जन्तुओं की उपयोगिता और सौन्दर्य से आकृष्ट होकर प्राचीन भारतीयों ने इनको पालने के उपायों पर भी विचार किया था। अति प्राचीन काल में, जबकि सभ्यता का पूर्ण विकास भी नहीं हुआ था, सभी जन्तु आरण्य रहे होंगे। मनुष्यों को अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिये इनसे युद्ध करना पड़ा होगा। अपनी बुद्धि के बल से मनुष्य ने अपनी रक्षा ही नहीं की, अपितु अनेक जन्तुओं को पकड़ कर पालतू बना लिया और उनका विविध कार्यों में उपयोग किया। भोजन, वस्त्र, कृषि और वाहनों के लिये जन्तुओं का मुख्य रूप से उपयोग होता रहा था। कुछ जन्तुओं का उपयोग सेना में सुरक्षा के लिये और कुछ का मनोरञ्जन के लिये भी उपयोग किया गया। सामान्य जन से लेकर राजाओं तक प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति अपने सामर्थ्य के अनुसार तथा साधनों को देख कर जन्तुओं का पालन करता था। समृद्ध व्यक्तियों और राजाओं के प्रासादों में जन्तुओं के पालन और देख-भाल करने के लिये विशेष अधि-कारी होते थे। वे स्वयं भी जन्तुओं को पालन करने की विद्या को सीखते थे। राजा

नल को अश्वविद्या में और उदयन को गजविद्या में पारङ्गत माना जाता था। पाण्डु के पुत्र नकुल और सहदेव क्रमशः अश्वशास्त्र और गोशास्त्र में पारङ्गत थे।

राजाओं के प्रासादों में, प्रशासन में और सेनाओं में अश्व और गज प्रचुर संख्या में होते थे। चतुरङ्गिणी सेना में अश्वसेना और गजसेना अति शक्तिशालिनी होती थीं। इनकी अध्यक्षता के लिये अश्वाध्यक्ष[1] और गजाध्यक्ष[2] की नियुक्ति की जाती थी। अश्वों और गजों की देख-भाल के लिये अलग अधिकारी होते थे। ये अश्वपालक[3] और गजपालक कहलाते थे। अश्व का संचालन करने वाला कर्मचारी सूत[4] और गज का संचालन करने वाला निषादी[5] था।

प्राचीन समय में गौ को विशेष सम्पत्ति माना गया था। सामान्य जन तो गौओं का पालन करते ही थे, राजाओं की गौशालाओं में हजारों की संख्या में गौयें होती थीं। शास्त्रार्थ में जीतने पर राजा जनक ने याज्ञवल्क्य के लिये स्वर्ण से मढे हुये सींगों वाली १००० गौयें दान की थीं। विराट् के पास प्रचुर संख्या में गौयें थीं, जिनकी देख-भाल का काम उसने पाण्डु-पुत्र सहदेव को सौंपा था। कौरवों ने इन गौओं का अपहरण करके युद्ध आरम्भ किया था। गोशालाओं का अध्यक्ष गोऽध्यक्ष नाम का अधिकारी होता था। गोपालन के लिये गोपों और गौपालकों की नियुक्ति की जाती थी। खेती के लिये और शकटों को खींचने के लिये बैलों को पाला जाता था। प्रजनन के लिये सांडों को छोड़ने के वर्णन मिलते हैं।

राजप्रासादों में सुरक्षा के लिये कुत्ते पाले जाते थे। इनका उपयोग शिकार में सहायता के लिये भी किया जाता था। बड़े आकार के ये कुत्ते कौलेय कहे जाते थे तथा आखेटक नाम का अधिकारी इनका रक्षक होता था। 'चण्डकौशिक' के अनुसार जब राजा हरिश्चन्द्र शिकार करने के लिये निकले, तो उनके आगे कौलेयकों का एक बड़ा समूह था। दुष्यन्त के शिकार के लिये जाने पर भी कुत्ते साथ में थे।

अन्य भी अनेक जन्तुओं के पाले जाने के वर्णन संस्कृत नाटकों में मिलते हैं। इनको दूध, मांस तथा ऊन प्राप्त करने तथा वाहनों में उपयोग करने के हेतु पाला जाता था। भैंस, बकरी, भेड़, ऊँट, गधा, खच्चर, सूअर आदि का उल्लेख पाया जाता है। बन्दरों को भी पाले जाने के वर्णन हैं। 'रत्नावली' नाटिका में एक रोचक वर्णन है कि राजकीय अश्वशाला में बँधा हुआ विशाल भयानक आकार का बन्दर जंजीर के खुल जाने से राजप्रासाद में भाग आया था और उसने वहाँ आतङ्क उत्पन्न कर दिया था।[6] खेल दिखाने के लिये बन्दर का उल्लेख 'तापसवत्सराज' में किया गया है।

---

१. मुद्राराक्षस पृ० ९८। २. मुद्राराक्षस पृ० ९८।
३. रत्नावली २.२।
४. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० १४४, कुन्दमाला पृ० ७।
५. सुभद्राधनञ्जय पृ० १००। ६. रत्नावली २.२।

पक्षियों को पालने के भी प्रचुर वर्णन मिलते हैं। समृद्ध घरों में हंस पाले जाते थे, जिनके पैरों में घुँघरूदार छल्ले पड़े होते थे। ये अपनी पालिका युवतियों के पीछे-पीछे मधुर ध्वनि करते हुये घूमते रहते थे। मोर भी पाले जाते थे, जो युवतियों की तालियों की ताल-ध्वनि पर नृत्य करते थे। कबूतरों को भी पालने का रिवाज था। ये घरों के छज्जों पर रहते थे। शुकों और सारिकाओं को पालने के मनोरञ्जक वर्णन संस्कृत काव्यों और नाटकों में हैं। इनको पिंजरों में रखा जाता था और ये मनुष्य की बोली की नकल करने में कुशल होते थे। बाण के घर की पाठशाला में पिंजरों में लटके हुये शुक और सारिका छात्रों को पाठ की गलती पर टोका करते थे। द्वन्द्व-युद्ध क्रीड़ा के लिये बाज, बटेर, तीतर, कुक्कुट आदि पक्षी पाले जाते थे। वसन्तसेना प्रासाद में पूरा एक पक्षि-गृह था।

प्राचीन साहित्य में उद्यानों और तपोवनों में विविध पशु-पक्षियों की उपस्थिति का वर्णन किया गया है। प्रमद वनों में हंस[१] और मयूर[२] प्रायः दृष्टिगोचर होते थे। राजकीय उद्यानों में मृगों की उपस्थिति का वर्णन हुआ है।[३]

तपोवनों में गौयें नियमतः पाली जाती थीं। भोजन के अतिरिक्त इनके दूध का उपयोग यज्ञीय कार्यों के लिये भी किया जाता था। अतः इनको होमधेनु भी कहा गया है। तपोवनों में मृगों को पालने के भी प्रचुर वर्णन हैं। युवतियाँ इनको शौक से पालती थीं। वे मृग-शिशुओं की देखभाल माता के समान करती थीं। ये मृग मुनि–कन्याओं के साथ दौड़ भी लगाया करते थे।[४]

आश्रमों के पालतू पक्षियों में शुक और मयूर प्रमुख थे। आश्रमों के शुक वहाँ निरन्तर होने वाले वेदपाठ को स्मरण कर लेते थे[५] और आने वाले अभ्यागतों का इससे स्वागत करते थे।[६] मयूर भी शौक से पाले जाते थे। तपस्विनियाँ इनको बलि का अन्न खिलाती थीं।[७]

कवियों ने आश्रमों में हिंस्र पशुओं की भी उपस्थिति का वर्णन किया है।[८] आश्रमों के ये पालतू हिंस्र पशु तपस्वियों के प्रभाव से हिंस्र भाव को छोड़ देते थे। सिंहनियों के साथ हरिणियाँ निर्भय होकर विचरण करती थीं[९] तथा बालक इनके साथ खेलते थे।[१०]

पशुओं को पालने के लिये घरों में विशेष रचनायें बनाई जाती थीं। गौओं के लिये गौशाला या गोष्ठ होते थे। हाथियों के लिये गजशाला और अश्वों के लिये मन्दुरा बनाई जाती थीं। कपोतों को पालने के लिये घरों में विशेष रचनायें छतों

---

१. नागानन्द १.४। २. बालरामायण ६.२७।
३. तापसवत्सराज २.११। ४. कुन्दमाला २.१।
५. नागानन्द १.११। ६. तापसवत्सराज ३.१७।
७. तापसवत्सराज ३.१६। ८. सुभद्राधनञ्जय १.६।
९. कुन्दमाला ३.१४। १०. अभिज्ञानशाकुन्तल अङ्क ७।

पर या छज्जों (वलभियों) पर बनाई जाती थीं। इनको विटङ्क कहा गया है।[१] कवियों ने मयूरों के बैठने के लिये विशेष वासयष्टि का वर्णन किया है। सायं समय में मयूर इन पर बैठते थे।[२] 'मृच्छकटिक' की नायिका वसन्तसेना के प्रासाद के अनेक खण्डों में विभिन्न पशुशालाओं और पक्षिशालाओं के वर्णन किये गये हैं। यहाँ विविध पशु-पक्षी विद्यमान थे।

पशुओं के पालन के शौक और अनिवार्यता के कारण इनका व्यापारिक व्यवहार भी प्रचलित हो गया था। पशु-पक्षियों के क्रय-विक्रय के लिये बाजार लगते थे। प्राचीन साहित्य में वर्णन है कि व्याध पक्षियों को पकड़ कर लाते थे तथा बाजार में बेचते थे। अश्वों का व्यापार भी अति समृद्ध था। काम्बोज, सिन्ध आदि प्रदेशों के अश्व भारतीय बाजारों में लोकप्रिय थे। हाथियों के क्रय-विक्रय के भी उदाहरण मिलते है। क्षेमीश्वर ने वाराणसी के बाजारों में हाथियों के क्रय-विक्रय कावर्णन किया है[३]। वर्तमान समय में भी विभिन्न पशुओं के क्रय-विक्रय के लिये विशेष मेलों का आयोजन भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में किया जाता है।

जन्तुओं का अलङ्करण—

प्राचीन काल से ही भारत में यह परम्परा रही है कि पालतू जन्तुओं को विविध अलङ्कारों से सजाया जावे। पशुओं को पालने के शौकीन अपनी समृद्धि और शौक के अनुसार पशुओं को अलङ्कृत करते थे। अश्व, गज, गौ आदि को अनेक प्रकार के आभूषणों से सजाया जाता था। वसन्तसेना के प्रासाद के पशुओं के अलङ्करण का शूद्रक ने रोचक वर्णन किया है।

अश्वों की ग्रीवा में मूल्यवान् धातुओं की जंजीरे घण्टियाँ पिरो कर बांधी जाती थीं। उनके माथे पर चंवर लगाया जाता था।[४] पीठ पर मूल्यवान् काठी लगा कर उस पर सुन्दर आसन सजाया था। श्यामिलक ने आर्यघोटक का उल्लेख किया है। यह अश्व सवारी के लिये नहीं था, अपितु इसको आभूषण आदि से सुसज्जित करके शोभायात्राओं में सजावट के लिये निकाला जाता था।[५] समृद्ध जन पालतू हाथियों को अनेक अलङ्कारों से सजाते थे। हाथी के माथे पर सिन्दूर का लेप करने का प्रायः वर्णन है। हाथी का माथा, पीठ, दोनों पार्श्व और पूँछ तक भी आभूषणों से सजी हो सकती थी। गौओं के गले में घण्टियाँ बांधी जाती थीं। समृद्ध जन इनके सींगों को स्वर्ण तक से मंढवा देते थे। जनक ने याज्ञवल्क्य को स्वर्ण से मढे सींगों वाली १००० गौयें दी थीं। पालतू पशुओं की ग्रीवा में तथा पैरों में घुंघरूओं (किंकिणी)

---

१. पादताडितक पृ० १७१–१७२।
२. उत्तरमेघ श्लोक १६, पादताडितक श्लोक १०२।
३. १. चण्डकौशिक ३.२०॥
४. आश्चर्यचूडामणि ३.१६॥
५. पादताडितक पृ० १८१॥

की मालाओं के पहराये जाने के विवरण अनेक स्थानों पर है। पालतू पक्षियों के भी पैरों में घुंघरुदार छल्ले पहनाये जाते थे।

७. जन्तुओं के प्रति धार्मिक आस्थायें

प्राचीन भारतीयों का जन्तुओं के प्रति हृदयगत स्नेह इतना स्वाभावक और गम्भीर था कि इसमें भक्ति का भी समावेश हो गया था। इस युग के मनीषियों ने उनमें देवत्व की भी कल्पना की। जन्तुओं में देवत्व का भाव रख कर वे उनसे मनोकामनाओं की पूर्ति तथा अनिष्ट के निवारण की भी कल्पना करने लगे थे।

भगवान् विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना पौराणिक साहित्य में की गई है। इनमें से अनेक अवतार जन्तुओं के रूप में हैं। विष्णु को मत्स्य-अवतारधारी कहा जाता है। लोक-कल्याण के लिये उन्होंने प्रथम अवतार मत्स्य के रूप में लिया था। पौराणिक कथाओं के अनुसार भगवान् मत्स्य का रूप धारण करके मनु के पास पहुँचे तथा नवीन सृष्टि की रचना के निमित्त मनु की तथा अन्य वस्तुओं की रक्षा की। देवी को मीनाक्षी कहा जाता है। अर्थात् उनकी आँखें मीन के समान हैं। इसका यह भी अभिप्राय है कि जिस प्रकार पलकों से रहित मछली कभी आँखों को बन्द नहीं करती, इसी प्रकार देवी सतत जागरूक रह कर जगत् की रक्षा और पालन करती है। मत्स्य का सम्बन्ध कामदेव से भी है। कामदेव की ध्वजा पर मत्स्य का चिह्न रहता है। कामदेव को मत्स्यकेतन या मीनकेतन भी कहते हैं।

भगवान् विष्णु ने कच्छप के रूप में भी अवतार लिया था। अतः कच्छप को देवता मान लिया गया है। कच्छप को गङ्गा-यमुना नामक सरिता देवियों का वाहन भी माना गया है। प्राचीन मूर्तियों में गङ्गा और यमुना को कच्छप वाहन पर स्थित किया गया है। पुराणों के अनुसार कच्छप पृथिवी को वहन करता है[१]।

भगवान् विष्णु ने शूकर के रूप में भी अवतार लिया था। अतः शूकर को भी देवता का पद प्राप्त हुआ। इस रूप में उन्होंने समुद्र में से पृथिवी का उद्धार किया और हिरण्याक्ष नामक दैत्य का वध किया था। विष्णु का नरसिंह अवतार भी प्रसिद्ध है। इस रूप में इनके शरीर का ऊपर का भाग सिंह का और नीचे का भाग मनुष्य का था। सिंह को भी इसलिये देवता का पद मिला। विष्णु के हंसावतार की गणना २४ अवतारों में है। गौ हिन्दू संस्कृति में अति पूजनीय मानी गई है। इसको भी देवता का पद प्राप्त हुआ। गौ का पूजन करने और गोदान करने से सारी मनोकामनाओं की पूर्ति होती है। पुराणों के अनुसार गौ भवसागर से पार कराती है। यह मृत्यु के पश्चात् वैतरणी से पार उतारती है। अतः संस्कारों के समय विशेष रूप से अन्त्येष्टि संस्कार में गोदान का विशेष महत्त्व है[२]।

प्राचीन मनीषियों ने गो-देवता के रूप में कामधेनु की कल्पना की थी। यह

---

१. हनूमन्नाटक १३. ३७ ॥
२, पञ्चरात्र पृ० ५१ ॥

समुद्र से निकला रत्न थी, जो सकल कामनाओं को पूरा करती है[1]। 'रघुवंश' के प्रथम और द्वितीय सर्ग में कामधेनु और उसकी पुत्री के अतिशय प्रभाव की कल्पना की गई है।

धार्मिक कर्मकाण्डों के सम्पादन के लिये और यज्ञों की आहुतियों के लिये गौ को अनिवार्य माना गया था। इसको होमधेनु कहा गया था। गौ के दूध-घी का प्रयोग यज्ञों में होता था।[2]

सर्प में भी देवत्व की कल्पना की गई है। इसके माध्यम से सम्पूर्ण नाग-संस्कृति का विकास हुआ था। कृष्ण ने विभूतियों में अपने को नागों में शेष और सर्पों में वासुकि कहा है।[3] विष्णु शेषनाग की शैया पर शयन करते हैं। यह पृथिवी के फणों पर आश्रित है।[4] दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी में भारतवर्ष में नागपूजा का प्रचलन बहुत था। नाग देवी-देवताओं की मूर्तियों की भी मन्दिरों में प्रतिष्ठा की गई थी। गुप्त काल में भी इसका प्रचार रहा। हिन्दू संस्कृति में नागपूजा का विशेष महत्त्व है, नागपञ्चमी के प्रमुख त्यौहार पर, जो श्रावण शुक्ल पञ्चमी को मनाया जाता है, विशेष रूप से नाग-पूजन किया जाता है। पुराणों में यह कल्पना है कि नाग मनुष्य की आकृति धारण करके विचरण कर सकते हैं। उनका निवास पाताल लोक है। मनुष्यों के साथ नाग-कन्याओं के विवाह करने के वर्णन प्राप्त होते हैं। एक नाग-कन्या उलूपी ने पाण्डव अर्जुन से विवाह किया था। नागों का सम्बन्ध शिव से भी है। वे उनको आभूषण के रूप में लपेटे रहते हैं।

काक (कौआ) में भी देवत्व की कल्पना हुई। काकभुसुण्ड नामक देवता के रूप में यह प्रसिद्ध हुआ। धार्मिक कर्मकाण्डों में काकों के लिये बलि प्रदान की जाती है। अतः इनको बलिभुक् भी कहा जाता है[5]। नीलकण्ठ पक्षी का कण्ठ नीला होने के कारण इसमें शिवत्व माना गया। कालकूट विष को कण्ठ में धारण करने से शिव का कण्ठ नीला हो गया था। हिन्दुओं में नीलकण्ठ को मारना पाप समझा जाता है। इसका दर्शन अति शुभ माना गया है।

अनेक जन्तुओं ने देवताओं के वाहन के रूप में भी प्रतिष्ठा और पूजा पाई। वृषभ को शिव का वाहन होने से देवत्व मिला। वह शिव का द्वारपाल भी बना। इसका नाम नन्दी था। शिवमन्दिरों में शिव की दो प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं— लिङ्गाकर और मानवाकार। लिङ्ग मूर्ति के समक्ष द्वार के समीप ही नन्दी की मूर्ति अवश्य ही प्रतिष्ठित होती है। विना नन्दी का दर्शन किये शिव के दर्शन

---

१. बालरामायण।

२. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३४१, महावीरचरित ४.५७।

३. भगवद्गीता ११.२८–२९। ४. अनर्घराघव १.२०।

५. अनर्घराघव ५.१।

नहीं किये जाते । मनुष्याकार मूर्तियों में शिव को नन्दी पर आरूढ़ बनाया जाता है ।

विष्णु का वाहन गरुड़ नामक पक्षी है । पुराणों के अनुसार यह कश्यप प्रजापति से विनता का पुत्र था । तप करके इसने विष्णु के वाहनत्व को प्राप्त किया था । गरुड़ के स्वतन्त्र मन्दिर भी मिलते हैं, जिनमें दोनों पंखों को फैलाये हुये गरुड़ की मूर्ति नाग पर आरूढ़ होती है । हंस को ब्रह्मा का वाहन होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । यद्यपि ब्रह्मा की मूर्तियाँ कम हैं, तथापि जो उपलब्ध हैं, वे हंस पर आरूढ़ हैं । सरस्वती का वाहन भी हंस कहा गया है । सरस्वती की मूर्तियाँ तथा चित्र हंसारूढ़ बनाये जाते हैं । ११ वीं शताब्दी में राजा भोज ने सरस्वती मन्दिरों के रूप में विद्यालयों की स्थापना की थी । इनमें हंसारूढ़ मूर्तियाँ स्थापित की गई थीं । उनमें से कुछ आज भी धारा नगरी में उपलब्ध होती हैं ।

अश्व को इन्द्र का वाहन होने का सौभाग्य मिला था । उच्चैःश्रवा नामक अश्व समुद्र के मन्थन से इन्द्र को मिला था । सूर्य के रथ को खींचने वाले सात अश्व हैं, जिनका संचालन अरुण करता है । गज को भी देवता का पद मिला । ऐरावत नाम का हाथी समुद्र-मन्थन से निकला और वह इन्द्र को दे दिया गया ।

महिष को भी देवत्व मिला । वह यम का वाहन है । देवता का पद प्राप्त होने से कुत्ता भी वञ्चित नहीं रहा । उसको भैरव का वाहन बनाया गया था । महाभारत की कथा के अनुसार स्वर्गारोहण के समय युधिष्ठिर का कुत्ता भी पीछे-पीछे स्वर्ग में पहुँचा था । ऋग्वेद के सरमा-पणि संवाद के अनुसार सरमा नाम की कुतिया देवताओं की दूत बन कर पणियों के पास गई थी ।

शक्ति के प्रतीक सिंह को भी देवताओं का वाहन होने का गौरव प्राप्त हुआ । स्वयं शक्तिरूपा दुर्गा देवी ने उसको अपना वाहन बनाया । दुर्गा सिंहवाहिनी हैं तथा उनकी मूर्तियाँ सिंह पर आरूढ़ बनाई जाती हैं । मकर भी देवता का वाहन बना । यह समुद्र देवता का वाहन है । इसको कामदेव का वाहन भी कहा जाता है । गंगा-यमुना का भी यह वाहन कहा गया है ।

जहाँ अनेक पशु-पक्षी देवताओं के वाहन कल्पित हुये, वहाँ मयूर और मूषक भी पीछे क्यों रहते । ये दोनों शिव के पुत्रों के वाहन बने । कार्तिकेय ने मयूर को और गणेश ने मूषक को वाहन बनाया था । उलूक पक्षी भी इस सौभाग्य से वंचित नहीं रहा । स्वयं समृद्धि की देवी लक्ष्मी ने उसको अपना वाहन बनाया ।

रामायण के अनुसार राम-रावण युद्ध में राम की सहायता बन्दर, रीछ आदि वन्य जातियों ने की थी । सम्भवतः ये जातियाँ वन्य मनुष्य जातियाँ ही रही होंगी । परन्तु उत्तरवर्ती पौराणिकों ने उनको पशु मान कर उनके अन्दर देवत्व की कल्पना करली । पुराणों में यह भी कल्पना की गई कि विष्णु जब रामरूप में अवतीर्ण होने लगे तो अनेक देवता वानरों के रूप में अवतीर्ण हुये । अतः वानरों में देवत्व की कल्पना की गई । वानरों में भी हनुमान् सबसे अधिक पूजनीय थे । वे राम के

परम भक्त प्रसिद्ध हैं। प्राचीन किंवदन्तियों के अनुसार वे वायु देवता के पुत्र थे तथा शिव के अंश से अवतीर्ण हुये। वे शक्ति के प्रतीक हैं तथा मनोकामनाओं को पूरा करने वाले समझे जाते हैं। सारे भारतवर्ष में इनके मन्दिर मिलते हैं। बन्दरों में देवत्व की कल्पना के कारण हिन्दुओं में बन्दर को मारना पाप समझा जाता है।

एक ओर जहाँ विभिन्न पशु-पक्षियों में देवत्व की कल्पना की गई, वहीं दूसरी ओर कुछ जन्तुओं को पवित्र मान कर उनको देवताओं के लिये उपहृत करने का प्रचलन हुआ। देवताओं के निमित्त से किये जाने वाले यज्ञों में पशुओं को काट कर आहुति दी जाने लगी। देव-प्रतिमाओं के समक्ष ही पशुओं की बलि होने लगी। कालिदास यज्ञों में बलि का समर्थन करते हैं। वे पशुओं का वधरूप क्रूर कार्य करने वाले श्रोत्रिय को भी दयालु कहते हैं।[1] भट्टनारायण ने कौरवों को युद्धरूपी यज्ञ में बलिभूत पशु कहा है।[2] मुरारि ने यज्ञों में पशुबलि का समर्थन करके विशिष्ट अतिथियों का स्वागत वत्सतरी के मांस से कराया है।[3] पशुबलि के लिये विशेष यज्ञ-स्तम्भ (यूप) गाड़े जाते थे।[4] कालिदास ने ऐसे ग्रामों का उल्लेख किया है, जो श्रोत्रियों को दान में दिये गये थे तथा जिनमें यूप गाड़े गये थे।[5] यूपों से पशुओं का बाँधना भी एक विशेष यज्ञीय प्रक्रिया थी।[6] यूपों की रचना खदिर या बिभीतक की लकड़ी से की जाती थी।[7] उत्तरवर्ती काल में देवताओं की, विशेष रूप से दुर्गा (शक्ति) की प्रतिमाओं के समक्ष पशुओं का वध करके बलि दी जाने लगी। इनमें महिष को प्रधानता दी गई। क्योंकि उसको महिषासुर का प्रतीक माना गया। भगवती दुर्गा महिषासुरमर्दिनी हैं।

जन्तुओं को उपलक्ष्य बनाकर शुभ-अशुभ का भी विचार किया गया है। इनसे शकुन और अपशकुनों की सूचना मिलती है। इनमें सर्प, कौआ, कुत्ता और गीदड़ मुख्य हैं।

सर्प द्वारा मार्ग को अवरुद्ध कर लेना अशुभ का सूचक था। न्यायालय में जाते हुये सर्प द्वारा मार्ग रुक जाने पर चारुदत्त को अशुभ की आशंका हुई थी।[8]

सूखे वृक्ष पर बैठ कर सूर्य की ओर मुख करके यदि कौआ चीख रहा है, तो

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल ६.१।
२. वेणीसंहार १.१५।
३. अनर्घराघव पृ० १११।
४. मत्तविलास पृ० ११॥ ५. रघुवंश २.४४॥
६. रघुवंश ११.३५॥ ७. अष्टाध्यायी ५.१.२ पर महाभाष्य॥
८. भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्तः। मृच्छकटिक ९.१२॥
पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयम्। मृच्छकटिक ९.१५॥

यह मृत्यु का सूचक था[१]। कौये की कठोर वाणी महान् अशुभ की सूचक है[२]। बाहर जाने पर कौये का सूखे वृक्ष पर बैठकर बोलना अनिष्ट का संकेत करता है।[३] सूअर पर बैठे चीखते कौये का मिलना भी अशुभसूचक है।[४]

कुत्ते और गीदड़ की ध्वनियों को अशुभसूचक माना गया था। कुत्ते का रोना, विशेष रूप से दोपहर में, अनिष्ट की सूचना देता है[५]। मध्याह्न के समय गीदड़ों का घूमना तथा चिल्लाना अशुभ का सूचक है[६]।

भारतीय परम्पराओं में शुभ-अशुभ सूचक जन्तुओं का विशेष महत्व है। बिल्ली के रोने और रास्ता काटने को अशुभ का सूचक माना जाता है। बिल्ली की हत्या हो जाना महान् पातक माना गया है, जिसका गम्भीर प्रायश्चित्त कहा गया है। परन्तु नाटकों में इस विषय में संकेत नहीं है।

कुछ परिस्थितियों में जन्तुओं से शुभ की सूचना भी मिलती है। प्रातःकाल घर की अटारी पर बोलता कौआ प्रिय के आगमन की सूचना देता है[७]। गौ शुभ की सूचक है। गौ का दर्शन, विशेष रूप से सवत्सा गौ का दर्शन कल्याणकारी होता है। कालिदास ने इस रिवाज का वर्णन किया है कि घर से प्रस्थान करते समय सवत्सा गौ की प्रदक्षिणा करनी चाहिये[८]।

८. जन्तुओं के प्रति मानवीय भावनायें

संस्कृत नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन आर्य जन्तुओं के प्रति बहुत अधिक आदर और स्नेह का भाव रखते थे। पालतू पशुओं का तो वे अपनी सन्तान के समान पालन करते थे।

भारतीयों का गौ के प्रति बहुत अधिक भक्तिभाव था। उसको वे माता के समान आदर देते थे। भास का कथन है कि गौयें जगत् की माता ही हैं। वे अमृत से भरी हुई हैं। उनको सादर प्रणाम करना चाहिये[९]। गौओं की रक्षा करने के लिये अपने प्राणों का भी परित्याग कर देना चाहिये[१०]।

तपोवनों में मृग आदि पशु प्रचुर संख्या में पाले जाते थे। मृग-शिशुओं के प्रति तपस्वि-कन्याओं का हृदय वात्सल्य से भरा रहता था। वे उनका पालन उसी प्रकार करती थीं, जिसप्रकार कि माता अपने पुत्र का पालन करती है। कण्व के तपोवन

---

१. शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्याभिमुखस्तथा।
मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम्॥ मृच्छकटिक ९.११॥
२. वीणावासवदत्तम् पृ० २४॥ ३. हनूमन्नाटक पृ० ५७॥
४. हनूमन्नाटक पृ० ६९, ५.२८॥ ५. हनूमन्नाटक ३.२॥
६. हनूमन्नाटक ३.२॥ ७. पद्मप्राभृतक श्लोक २९॥
८. रघुवंश २.७१॥
९. बालचरित ३.१॥ १०. पञ्चरात्र २.५॥

में शकुन्तला अपने पालतू मृगशिशु का पूरा ध्यान रखती थी। कुशों से मुख के बिंध जाने पर उसके इंगुदी का तेल लगाती थी तथा श्यामाक धान्य की मुट्ठियाँ भर-भर कर उसको खिलाती थी[१]। 'तापसवत्सराज'[२] और 'उत्तररामचरित'[३] में तपस्वि-कन्यायें अपने पालतू मृग-शावकों से बालकों के समान स्नेह करती हैं। भवभूति ने सीता द्वारा पाले गये मयूर और हस्ति-शावक का मार्मिक चित्रण किया है। अपने इस मयूर को सीता हाथ की तालियों की ध्वनि पर नचाती थी। हस्ति-शावक को सन्तान के समान अपने हाथों से सल्लकी के पत्ते खिलाया करती थी[४]। उस हस्ति-शावक को युवा तथा प्रिया के साथ क्रीड़ा में लगा देखकर राम बहुत प्रसन्न हुये थे।

जन्तु भी अपने पालक मानवों के साथ अत्यधिक स्नेह रखते थे। तपोवन से शकुन्तला के विदा होने के दुःख में मयूरों ने नाचना छोड़ दिया और मृगों ने घास खाना छोड़ दिया[५]। एक मृग-शिशु ने तो शकुन्तला के आंचल को ही मुख में दबा लिया और वह उसको जाने ही नहीं दे रहा था[६]। सीता को लक्ष्मण जब वन में छोड़ कर चले गये और सीता वहाँ करुण स्वर में विलाप करने लगीं, तो हरिणों ने भी घास खाना छोड़ दिया और करुण विलाप करना प्रारम्भ कर दिया[७]।

९. जन्तुओं के सम्बन्ध में कवि-प्रसिद्धियां

संस्कृत नाटककारों ने जन्तुओं के सम्बन्ध में अनेक कवि-प्रसिद्धियों का उल्लेख किया है। जन्तुओं के सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार के तथ्य कहे गये हैं, जिनमें कुछ तो सत्य हो सकते हैं, परन्तु कुछ की यथार्थता सन्दिग्ध तथा अविश्वसनीय है। परन्तु कवि तो लोक के सत्य की अपेक्षा काव्य का सत्य कहता है। संस्कृत नाटकों में उल्लिखित कुछ कवि-प्रसिद्धियां इस प्रकार हैं—

(क) उत्तम जाति के हाथी के मस्तक की त्वचा के भीतर अति मूल्यवान् मुक्ता रहते हैं, जो गजमुक्ता कहलाते हैं।[८]

(ख) चन्द्रमा में जो काला चिह्न (कलङ्क) दिखाई देता है, वह मृग है। अतः चन्द्रमा को मृगाङ्क कहते हैं। इस चिह्न को शश भी कहा जाता है। अतः चन्द्रमा शशाङ्क या शशिन् भी कहलाता है।[९]

(ग) मयूर मेघों का मित्र है और केका-ध्वनि से उसका स्वागत करता है।[१०]

(घ) शुकों और सारिकाओं में मनुष्यों के समान बोलने और स्मरण करने

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१४ ॥ २. तापसवत्सराज पृ० १४ ॥
३. उत्तरामचरित ३.२१ ॥ ४. उत्तररामचरित ३.६ ॥
५. अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१२ ॥ ६. अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१४ ॥
७. कुन्दमाला १.१८ ॥
८. बालभारत १.४७। ९. मुद्राराक्षस १.८।
१०. तापसवत्सराज २.५, मालविकाग्निमित्र १.२१।

की शक्ति होती है। वे परस्पर प्रेमी-प्रेमिका भी हैं। वे प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रणय के माध्यम का भी कार्य करते हैं।[1]

(ङ) वसन्त ऋतु कोकिलों में उन्माद भर देता है।[2] वे अपनी ध्वनि से विरही-जनों को सन्तप्त करते हैं।[3] आम्र-मञ्जरियों को खाने से कोकिलों का स्वर मधुर हो जाता है।[4]

(च) कोकिल अपने बच्चों का पालन अन्य पक्षियों से कराता है।[5]

(छ) काक-उलूक[6], मयूर-सर्प[7], और नकुल-सर्प[8] में स्वाभाविक वैर होता है।

(ज) चकोर का चन्द्रमा से विशेष सम्बन्ध है। चन्द्रिका ही उनका भोजन है।[9] चन्द्रमा से उनके उपवास की पारणा होती है।[10]

(झ) हंस की दो विशेषतायें हैं—मुक्ता का भोजन करना और नीर-क्षीर का विवेक करना।[11]

(ञ) सूर्यास्त होने पर चकवा-चकवी का वियोग हो जाता है।[12] विरह से पीड़ित होकर[13] वे एक दूसरे को रात भर पुकारते रहते हैं।[14] सूर्योदय होने पर उनका पुनः मिलन होता है।[15]

(ट) चातक केवल मेघों से गिरे हुये जल-बिन्दुओं को ग्रहण करता है।[16] प्यासा होने पर भी वह अन्य जल को ग्रहण नहीं करता।

(ठ) चातक अपनी प्रिया के वियोग को क्षण भर भी सहन नहीं कर सकता। वियुक्त होने पर वह तुरन्त उसको पुकारने लगता है।

(ड) महानाग के फण में अति दीप्तियुक्त मणि रहती है।[17]

(ढ) सूर्य के स्वाति नक्षत्र में पहुँचने पर मेघों के बरसते जल को पीकर सीपी उसको मोती के रूप में परिणत कर देती है।[18]

---

१. तापसवत्सराज २.१३।
२. आश्चर्यचूडामणि ५.२४, अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३६२।
३. मालतीमाधव ८.४।
४. सुभद्राधनञ्जय २.९।
५. अभिज्ञानशाकुन्तल ५.२२।
६. उत्तररामचरित २.२९।
७. उत्तररामचरित २.९।
८. वेणीसंहार पृ० ५४।
९. बालरामायण पृ० २९१।
१०. अनर्घराघव १.१।
११. अभिज्ञानशाकुन्तल ६.२८।
१२. प्रियदर्शिका २.१०।
१३. अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१६।
१४. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३०८।
१५. कर्पूरमञ्जरी २.५०।
१६. मालविकाग्निमित्र पृ० ३९।
१७. सुभद्राधनञ्जय पृ० ३५।
१८. बालरामायण पृ० ८१।

१०. जन्तुओं का उपमानों के रूप में प्रयोग

संस्कृत कवियों ने जन्तुओं के अन्दर मानव का एकात्म-भाव अनुभव करके उनके शरीर और स्वभाव में मानव-रूपता के दर्शन किये थे। अतः उन्होंने स्थान-स्थान पर मानव-शरीर के अङ्गों और स्वभाव का सादृश्य इन जन्तुओं में वर्णित किया है। यद्यपि जन्तुओं के वर्णनों के प्रसङ्गों में प्रत्येक जन्तु के साथ इस सादृश्य को प्रस्तुत किया गया है, तथापि यहाँ इस स्थल पर उसका समग्र रूप संक्षेप से प्रस्तुत करना समुचित होगा।

कवियों ने जन्तुओं के विभिन्न अङ्गों में मानवोचित सौन्दर्य के दर्शन किये थे। शक्ति और सौन्दर्य के लिये वृषभ और सिंह प्रसिद्ध हैं। शक्तिशाली सुन्दर व्यक्ति वृषभ के समान होता है।[1] समर्थ मनुष्य के कन्धे बैल के समान सुदृढ़ होते हैं।[2] सिंह पुरुषोचित सौन्दर्य और शक्ति का प्रतीक है। अतः वीर पुरुषों को पुरुषसिंह, पुरुष-व्याघ्र, नरसिंह, नरव्याघ्र, नरशार्दूल आदि पदों से अभिहित किया गया है। वीर पुरुषों को पराजित करना ऐसा ही है, जैसे कि सिंह के मुख से उसकी दाढ़ों को निकाल लेना।[3] सुडौल पुरुष की कटि सिंह की कटि के समान पतली तथा अंस सिंह के समान सुडौल होते हैं।[4] सिंह की कटि की क्षीणता को कवियों ने नारी की कटि में भी देखा था।[5]

हाथी के शारीरिक सौन्दर्य को भी कवियों ने वीर पुरुषों के शरीर का उपमान बनाया था। दुष्यन्त का व्यायाम से कृश, परन्तु सुदृढ़ शरीर ऐसा ही था, जैसा कि गिरिचर हाथी होता है।[6] राजशेखर ने हाथी के शरीर में युवतियों के शरीर के भी सौन्दर्य के दर्शन किये थे। सुन्दर युवतियों की गति हाथी की गति के समान, कुच उसके गण्डस्थल के समान और कान्ति उसके दाँतों के समान होती है।[7]

विविध जन्तुओं की आँखों का सौन्दर्य कवियों को मानव-युवतियों की आँखों में प्रतीत हुआ था। इनमें सबसे अधिक चर्चित जन्तु मृग है। सुन्दर युवतियों के नयन मृगों की आँखों के समान मनोहर तथा आकर्षक होते हैं। उनको मृगाक्षी आदि पदों से सम्बोधित किया गया है।[8] चकोर पक्षी के नेत्र भी कवियों को सुन्दर लगे थे।

---

१. कौमुदीमहोत्सव पृ० २३।   २. उत्तररामचरित ६.२५।
३. मुद्राराक्षस १.८।   ४. मृच्छकटिक ७.५।
५. हनूमन्नाटक ५.३।   ६. अभिज्ञानशाकुन्तल २.४।
७. बालरामायण ५.६८।
८. चारुदत्त १.९, मृच्छकटिक १.१७, विक्रमोर्वशीय ४.६, अभिज्ञान-शाकुन्तल ६.७, मालतीमाधव ४.८, हनूमन्नाटक ५.३, कर्पूरमञ्जरी २.४१, बालरामायण ५.६७, अभिषेकनाटक २.१३, प्रतिमानाटक ६.१।

'मृच्छकटिक' में शूद्रक को चकोरनेत्र कहा गया है।[१] युवतियों की आँखों की उपमा भी चकोर से दी गई है।[२]

खञ्जन पक्षी की आँखों को सुन्दरियों की आँखों का विशेष उपमान बनाया गया है। मछलियों की आँखें भी सुन्दरियों की आँखों का विशेष उपमान रहीं। इस कारण स्वयं पार्वती का एक नाम मीनाक्षी प्रसिद्ध हुआ। राजशेखर ने युवतियों के नयनों को शफर-नेत्र के समान[३] तथा उनके कटाक्षों को शफर-शिशु के नेत्रों के समान कहा है।[४] युवतियों के कटाक्षों में भ्रमर-पंक्ति की कल्पना भी कवियों ने की है।[५] कामदेव भी भ्रमरों की पंक्ति से बनी धनुष की डोरी को खींच कर सहृदय प्रेमियों के हृदय पर प्रहार करता है।[६] काले होने से ये भ्रमर काजल के भी उपमान बने। वसन्तरूपी लक्ष्मी मानो भ्रमरों के काजल को नयनों में लगाती है।[७]

कवियों ने मानव के नेत्रों के सौन्दर्य को तो जन्तुओं के नेत्रों में देखा ही था, दृष्टि-शक्ति का भी अवलोकन किया था। गृध्र और शश की दृष्टि दूर तक देखने का सामर्थ्य रखती है। अतः दूर तक देखने का सामर्थ्य रखने वाले व्यक्ति को गृध्रदृष्टि एवं शश-दृष्टि माना गया था।[८]

अन्य मानव-अङ्गों में भी जन्तुओं के अङ्गों का सादृश्य कवियों ने अनुभव किया था। चमरी मृग के पूँछ के बाल सुन्दर मानव-केशों के उपमान बने।[९] मयूर की पूँछ का सादृश्य रमणियों के केशपाशों में देखा गया।[१०] इनकी वेणियों का सादृश्य कुछ कवियों को काले सर्प में भी दिखाई दे गया और उन्होंने इसकी उपमा दे दी।[११] रमणियों की केशसज्जा के लिये भ्रमर-पंक्ति भी उपमान बनी।[१२]

नारी का सुडौल कंठ शंख के समान कहा गया है।[१३] उसके रक्तवर्ण अधर का उपमान समुद्र से उत्पन्न जन्तु प्रवाल बनाया गया।[१४] युवतियों की जाँघें हाथी की सूँड के समान उष्ण और मांसल कही गई हैं। उत्तम पुरुष के हाथ भी हाथी की सूँड के समान होते हैं।[१५] युवतियों के स्तनों को हाथी के गण्डस्थल के समान कहा गया है।

---

१. मृच्छकटिक १.३।
२. तपतीसंवरण १.१६।
३. बालरामायण १०.८८।
४. विद्धसालभञ्जिका ४.८।
५. पूर्वमेघ श्लोक ३६।
६. उत्तरमेघ श्लोक १४।
७. मालविकाग्निमित्र ३.६।
८. मृच्छकटिक ३.२१।
९. नैषधीयचरितम् १.२५।
१०. विक्रमोर्वशीयम् ४.२२, उत्तरमेघ श्लोक ४६।
११. बालरामायण ५.७०।
१२. बालरामायण ५.७०।
१३. विद्धसालभञ्जिका १.२८।
१४. कौमुदीमहोत्सव ५.२६, विद्धसालभञ्जिका ३.२७।
१५. मृच्छकटिक १.३०।

कवियों ने कोकिल के कण्ठ में माधुर्य रस का आस्वादन किया था। मधुर कण्ठ वाले स्त्री-पुरुषों की कण्ठ-ध्वनि इसके समान होती है।[१] हंसों की मनोरम ध्वनि संगीत के समान मोहक[२] तथा नूपुरों के स्वर के समान आकर्षक होती है।[३] कुररी की करुण ध्वनि में कवियों ने रुदन करती युवती के क्रन्दन का सादृश्य अनुभव किया था।[४]

विभिन्न पशुओं की गति में मानव की गति का सादृश्य हो सकता है, यह तथ्य कवियों ने परिलक्षित कर लिया था। हाथी की धीर-गम्भीर गति में धीर पुरुषों की गति का सादृश्य है।[५] सुन्दर युवतियों को गजगति या गजगामिनी कहा गया है।[६] गरुड़ अति वेगशाली पक्षी है, अतः तीव्र गति वाले पुरुष की इससे उपमा दी गई है।[७] श्येन का झपट्टा अति त्वरित और घातक होता है, अतः इस प्रकार का व्यक्ति श्येन के समान होता है।[८] तीव्रगति और दृढ़ पकड़ वाले व्यक्ति वृक्कर्मा कहे गये हैं।[९] हंस की गति युवतियों की अनेकशः उपमान बनी है[१०], अतः कवियों ने युवतियों को राजहंसी भी कहा है।[११]

जन्तुओं के गुण भी मानव के गुणों के उपमान बने हैं। हाथी समृद्धि का प्रतीक माना गया था। अतः राजकीय अनुग्रह प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिये कहा गया कि इसको हाथी के कन्धे पर बैठा दिया गया है।[१२] हाथी उदार तथा स्वाभिमानी होता है। वह कोमल व्यवहार से ही वश में किया जा सकता है, भय से नहीं। यही स्थिति नीतिज्ञ स्वाभिमानी व्यक्ति की है।[१३] प्रणय के प्रतीक चक्रवाक-युगल के समान ही प्रणयिनी अपने प्रणयी के बिना जीवित नहीं रह सकती।[१४] शलभ

---

१. बालरामायण ५.६७। २. कुन्दमाला १.७।

३. विक्रमोर्वशीय ४.३०।

४. रघुवंश १४.६८, बुद्धचरित ८.५१, प्रतिज्ञायौगन्धरायण ४.२६, मालती-माधव ५.२०।

५. मृच्छकटिक १.३।

६. मालतीमाधव ६.२७, हनूमन्नाटक ५.३, बालरामायण ५.६८।

७. मृच्छकटिक १.२२।

८. चारुदत्त ३.११, मृच्छकटिक ३.२०।

९. चारुदत्त ३.११, मृच्छकटिक ३.२१।

१०. विक्रमोर्वशीय ४.५६, हनूमन्नाटक ५.३, कर्पूरमञ्जरी ३.२३।

११. रत्नावली २.६। १२. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३८७।

१३. मुद्राराक्षस १.२७।

१४. स्वप्नवासवदत्त पृ० ८४, अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३०८।

प्रणय का आदर्श है, जो अपने प्राणों को प्रणयिनी अग्नि के लिये अर्पित कर देता है। इसी प्रकार प्रणयी पुरुष प्रणयिनी को प्राप्त करने के लिये अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता।[1]

जन्तुओं के शारीरिक सौन्दर्य और गुणों के साथ ही उनकी कुरूपता तथा अवगुण भी मानव-कुरूपता और अवगुणों के उपमान बने।

भैंस के सींग असौष्ठव के प्रतीक हैं। दीर्घ काल से शृङ्गार न करने वाली युवती की वेणी भैंस के सींग के समान होती है।[2] कुरूप व्यक्ति को वानर के समान[3] तथा उसके मुख को बकरे के समान बताया गया है।[4] उकड़ूँ बैठा व्यक्ति गैंडे के समान होता है।[5] टेढ़े मेढ़े आकार की टिट्टिभी वैसी ही लगती है, जैसे कि बिस्तर पर लेटी कुबड़ी स्त्री हो।[6] कछुये की कठोर पीठ कठोरता का उपमान है।[7] कर्कटक की कठोरता का सादृश्य वृद्ध ब्राह्मण के पैरों से हैं।[8]

जन्तुओं के अवगुण उपमानों के रूप में प्रयोग किये गये हैं। स्वच्छन्द उच्छृंखल व्यक्ति सांड के समान होता है।[9] अरसिक मनुष्य का सादृश्य गधे में है।[10] लम्बे अरसिक व्यक्ति के साथ सुन्दर रसिक युवती का बंध जाना ऐसा ही है, जैसे कि ऊंट की ग्रीवा में वीणा का लटक जाना।[11] हीन चाटुकार व्यक्ति कुत्ते के समान होता है।[12] बेवकूफ और कायर व्यक्ति सूअर के समान हैं।[13] खूब खाने वाले क्रूर व्यक्ति भेड़िये के समान होते हैं।[14] बगले को धूर्तता तथा कपट का प्रतीक मान कर ऊपर से सीधे, परन्तु अन्दर से कपटी व्यक्ति की उपमा बगले से दी जाती रही। मुफ्त का माल खाकर मुटाने वाले व्यक्ति भैंसे के समान होते हैं।[15] तुच्छ, कायर, कपटी और नीच व्यक्ति गीदड़ों के तुल्य होते हैं।[16] कुरुकुच पक्षी के समान मर्म पर आघात करने वाले

---

१. कौमुदीमहोत्सव पृ० २२। २. पादताडितक श्लोक ६६।
३. कौमुदीमहोत्सव पृ० २०, विक्रमोर्वशीय पृ० १६८।
४. पादताडितक श्लोक ६७।
५. विद्धसालभञ्जिका पृ० ४९।
६. पादताडितक श्लोक ९१। ७. हनूमन्नाटक १.९।
८. धूर्तविटसंवाद ५.९३।
९. मृच्छकटिक १०.३०, मालविकाग्निमित्र पृ० ११०।
१०. पादताडितक श्लोक १३१। ११. पद्मप्राभृतक पृ० १६।
१२. मृच्छकटिक पृ० २६२। १३. मृच्छकटिक पृ० ३०४।
१४. वेणीसंहार ५.२५।
१५. पादताडितक श्लोक ७८।
१६. कौमुदीमहोत्सव पृ० ४६, मृच्छकटिक पृ० ३०८, ३१२।

व्यक्तियों का व्यवहार कौरुकुची वृत्ति कहलाता है।[१] भयभीत युवती की उपमा ग्रीष्म से सन्तप्त मयूरी से दी गई है।[२]

स्त्री-हृदय की क्रूरता और धूर्तता पर संस्कृत कवियों को बहुत अधिक आक्रोश था। 'ऋग्वेद' में स्त्री-हृदय को जंगली कुत्तों और भेड़ियों के समान क्रूर कहा गया है।[३] धूर्त स्त्री बिल्ली के समान चालाक होती है। उसको ठगा नहीं जा सकता।[४]

स्वर की कठोरता तथा व्यर्थ की बकवाद के असौष्ठव की अभिव्यक्ति के लिये कवियों ने जन्तुओं को उपमान बनाया था। कर्कश ध्वनि गधे के स्वर के समान होती है।[५] कटु बोलने के कारण काक पद गाली का प्रतीक हो गया था। ऐसे व्यक्ति कौये के समान सिर और पैरों वाले होते हैं।[६] व्यर्थ और तर्कहीन विवादों को कुक्कुटवाद कहा गया था।[७] स्वल्प तथा तुच्छ वस्तुओं की उपमा कवियों ने मशक (मच्छर) से दी है।[८]

जन्तुओं के रूप-रंग प्राकृतिक दृश्यों के भी उपमान बने हैं। आकाश में उमड़ते मेघ हाथियों की पंक्ति के समान[९] और भैंसों के समूह के समान होते हैं।[१०] प्रगाढ़ अन्धकार भी भैंसों के समान होता है।[११] काली वस्तुओं की उपमा कौये से दी जाती है।[१२]

प्रातःकालीन पूर्व दिशा के रंग को बिल्ली के नेत्रों के समान[१३] और सन्ध्याकालीन सूर्य के प्रकाश को शलभ-समूह के समान वर्णित किया गया है।[१४] सुन्दर रंगबिरंगे पंखों वाला चाष पक्षी मेघों के मध्य उदित इन्द्रधनुष का उपमान बना है।[१५] मेघों के मध्य चमकती विद्युत का उपमान खद्योतों (जुगनुओं) की पंक्ति है।[१६] अन्धकार में टिमटिमाते खद्योत उसी प्रकार शोभित होते हैं, जैसे आकाश में टिमटिमाते तारे।[१७]

कवियों को शुक के उदर का हरा रंग तथा कोमलता बहुत भली लगी थी। उर्वशी का स्तनांशुक शुकोदर वर्ण का था। हरे वस्त्र पर लाल बुंदकियाँ उसी प्रकार

---

१. सुभद्राधनञ्जय ४.१५। २. मृच्छकटिक १.९।
३. ऋग्वेद १०.९५.१८। ४. कर्पूरमञ्जरी पृ० ११६।
५. कौमुदीमहोत्सव पृ० २०। ६. मृच्छकटिक पृ० ५२, १७२।
७. प्रियदर्शिका पृ० २०। ८. हनूमन्नाटक १४.१८४।
९. मृच्छकटिक ५.१९–२१, मुद्राराक्षस २.१४।
१०. मृच्छकटिक ५.२१। ११. बालचरित पृ० १५।
१२. मत्तविलास पृ० २८। १३. विद्धसालभञ्जिका १.११।
१४. अभिज्ञानशाकुन्तल १.३०। १५. मालतीमाधव ६.५।
१६. उत्तरमेघ श्लोक २१। १७. हनूमन्नाटक १४.८४।

शोभित होती हैं, जिस प्रकार हरी घास पर सुनहरे-लाल रंग की बीरबहूटियाँ चल रही हों।[१] शकुन्तला ने शुकोदर सदृश नलिनीपत्र पर अपना प्रणय-सन्देश लिखा था।[२] कंक पक्षी की लम्बी नोकीली चोंच के समान चिमटियों को कंकमुख नाम दिया गया था।[३]

कवियों ने जन्तु रूप उपमानों द्वारा अनेक तथ्यों को, जो कि व्यावहारिक रूप से अति उपयोगी हैं, प्रस्तुत किया है। सबल व्यक्ति का निर्बल को पकड़ लेना ऐसा ही है, जैसे कि बिल्ली द्वारा चूहे को पकड़ना।[४] बिल्ली कोयल को भी इसी प्रकार पकड़ लेती है।[५] जिस प्रकार कौये के पंख की वायु मेरु को कम्पित नहीं कर सकती, उसी प्रकार शक्तिहीन व्यक्ति शक्तिशाली का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।[६] बुरा सयय आने पर धन उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार मच्छरों के काटने से भयभीत होकर गोप--बालक घरों से बाहर निकल जाते हैं।[७]

जन्तुओं के विविध व्यवहारों से अनेक लोकोक्तियाँ और न्याय प्रचलित हुये थे। काष्ट को काट कर रेखायें बनाते हुये घुण अनेक बार अनजाने ही रेखाओं से अक्षर बना देते हैं। इसी प्रकार अनजाने ही निरुद्देश्य किसी कार्य का सम्पन्न हो जाना घुणाक्षर न्याय है।[८] विना विचार किये अनुसरण करने को पिपीलिका-धर्म कहा गया है।[९] अनेक निर्बल व्यक्ति यदि मिलकर किसी पराक्रमी व्यक्ति को नष्ट कर देते हों, तो यह पिपीलिकापन्नग न्याय है,[१०] क्योंकि अनेक चीटियाँ मिलकर बड़े साँप को भी खा जाती हैं। अपने बुद्धि और पराक्रम का विचार न करके पराक्रमी व्यक्ति पर आक्रमण करना शालभ विधि से नष्ट होना कहलाता है।[११] इसी व्यवहार के कारण शलभ अग्नि में गिरकर नष्ट हो जाते हैं।

११. जन्तुओं का मानव के लिये उपयोग

मानव जाति ने अपनी सभ्यता के विकास के क्रम में जन्तुओं का विविध कार्यों के लिये उपयोग किया है। संस्कृत नाटकों के सन्दर्भ में जन्तुओं के विविध उपयोग दृष्टिगोचर होते हैं—

(क) कृषि—

कृषि का विकास होने पर मनुष्यों को हल खींचने के लिये शक्तिशाली

---

१. विक्रमोर्वशीयम् ४.१७। २. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० २४६।
३. वेणीसंहार ५.१। ४. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ४४५।
५. मालविकाग्निमित्र पृ० ८४।
६. बालचरित २.६। ७. बालचरित पृ० १७।
८. रत्नावली पृ० ८४। ९. धूर्तविटसंवाद पृ० ११५।
१०. बालरामायण पृ० ५६१।
११. अभिषेकनाटक ४.५, मुद्राराक्षस १.१०, वेणीसंहार ५.२६।

साधनों की आवश्यकता हुई। इस समय तक उसने गौ आदि पशुओं को पालतू बना लिया था। इनकी सन्तानों से हल खींचे जाने लगे। यद्यपि अश्व, महिष, उष्ट्र आदि पशुओं का उपयोग भी हल खींचने के लिये था, तथापि मुख्य रूप से यह कार्य बैलों से लिया गया। कवियों ने बैलों द्वारा हलों को खींचे जाने का वर्णन किया है। बैलों के अड़ जाने पर किसान उनको गालियाँ भी देते होंगे।[१]

(ख) भोजन—

सभ्यता के विकास के साथ ही जन्तुओं का उपयोग भोजन के लिये भी होने लगा। जन्तुओं से भोजन दो प्रकार से निष्पन्न होता है—दूध एवं दूध से बने पदार्थ तथा सामिष आहार।

पशु-पालन का व्यवसाय समुन्नत दशा में होने से प्राचीन भारतीय प्रचुर संख्या में दूध देने वाले पशुओं को पालते थे। गौ, भैंस, बकरी और ऊँट इनमें प्रमुख थे। इनमें भी गौ का दूध अधिक लोकप्रिय था।[२] चिकित्सा ग्रन्थों में गौ, भैंस, बकरी, भेड़, ऊँटनी, गधी, घोड़ी, हथिनी और मानवी इन नौ प्राणियों के दूध के गुणों का वर्णन किया गया है। दूध को धारोष्ण भी पिया जाता था और उबाला भी जाता था।[३]

दूध से अन्य भी अनेक भोज्य पदार्थों को बनाये जाने का वर्णन हुआ है। दही का उल्लेख अनेक स्थलों पर है।[४] मक्खन[५], घृत[६] और तक्र का भी संकेत मिलता है। दूध, दही और घृत को अन्य भोज्य पदार्थों के साथ मिलाने पर वे अधिक स्वादिष्ट और पौष्टिक हो जाते हैं। पञ्चगव्य और पञ्चामृत पवित्र पदार्थ थे।[७] पञ्चगव्य में गौ का दूध, दही, घृत, मूत्र और गोबर मिलाये जाते हैं। पञ्चामृत में गौ का दूध, दही, घृत, मधु और शर्करा होते हैं। गुड़-दही[८] ओर दही-भात[९] स्वादिष्ट भोजन समझे जाते थे। मधु तथा घृत से युक्त भोजन अच्छा माना गया था।[१०]

मधुपर्क पवित्र भोजन का पदार्थ था। यह अतिथियों को विशेष रूप से दिया

---

१. धूर्तविटसंवाद श्लोक ३६।
२. ऋग्वेद ५.१९.४, शतपथ ब्राह्मण २.५.१.१५, चरक–सूत्रस्थान १५.३९।
३. पादताडितक श्लोक १२८।
४. कर्पूरमञ्जरी १.१९, विद्धसालभञ्जिका पृ० १७।
५. बालरामायण ५.७०।
६. उत्तररामचरित ४.१, पादताडितक श्लोक ३६।
७. कर्पूरमञ्जरी पृ० ४०। ८. तापसवत्सराज पृ० ६१।
९. पादताडितक श्लोक २९। १०. पद्मप्राभृतक पृ० ५।

जाता था। यह समांस और मांसरहित दो प्रकार का होता था। मांसरहित मधुपर्क में दही और मधु होते थे।[१] दूध से बने पक्वान्नों को पायस कहा गया था। यह स्वादिष्ट और पौष्टिक आहार था।[२] मधु भी मधुमक्षिकाओं के माध्यम से प्राप्त होता है।

पशुओं से प्राप्त दूसरे प्रकार का आहार सामिष था। इसको तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—पशुओं का मांस, मत्स्य और अण्डा। इस आहार की ग्राह्यता विवादास्पद है। परन्तु प्राचीन काल में यह आहार समाज में प्रचलित अवश्य था। प्राचीन शास्त्रीय और आयुर्वेदिक ग्रन्थों में विविध पशुओं के मांस की भक्ष्यता और अभक्ष्यता पर विशद विचार किया गया है। चरक और सुश्रुत की संहिताओं में और अन्य आयुर्वेदिक ग्रन्थों में उन जन्तुओं के वर्गों का विस्तार के साथ परिगणन किया गया है, जिनका मांस भक्ष्य समझा गया था। 'मनुस्मृति' आदि धर्मशास्त्रों और 'महाभारत' में मांस की भक्ष्यता-अभक्ष्यता पर विचार हुआ है। मछलियों के सम्बन्ध में भी यह प्रश्न उठाया गया है। अण्डों का प्रचलन उस समय कम ही रहा होगा, क्योंकि इस विषय में अधिक वर्णन प्राप्त नहीं हैं। वैसे आयुर्वेदिक ग्रन्थों में कुछ अण्डों के गुण-दोष कहे गये हैं। उनमें मछलियों का भी भक्ष्याभक्ष्य के अनुसार वर्गीकरण किया गया है।

मांसाहार की ग्राह्यता या वर्जनीयता विवाद का विषय है। 'शतपथ ब्राह्मण' का कथन है कि इस लोक में जो व्यक्ति जिस व्यक्ति को खाता है, परलोक में वही उसको बदले में खायेगा।[३] यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति को मांस नहीं खाना चाहिये।[४] तपस्वी के लिये भी मांस खाना उचित नहीं है।[५] 'कौषीतकि ब्राह्मण' का भी यही विचार है कि यज्ञ में यजमान जिस पशु के मांस को खाता है, वह पशु परलोक में उसके मांस को खायेगा।[६] मांस-भक्षण आत्म-उन्नति के प्रतिकूल है। धर्म-सूत्रों के अनुसार आचार्य के लिये उपाकर्म से लेकर उत्सर्जन पर्यन्त मांस नहीं खाना चाहिये।[७] उपनिषदें भी मांस को खाने का निषेध करती हैं।[८] बौद्ध धर्म इसको निरुत्साहित करता है।[९]

पुराण और स्मृति ग्रन्थ मांस-भक्षण को उपादेय नहीं मानते। 'भागवत

---

१. उत्तररामचरित पृ० २८५।
२. सुभद्राधनञ्जय पृ० ११०, पद्मप्राभृतक पृ० २३।
३. शतपथ ब्राह्मण १२.९.१:१। ४. शतपथ ब्राह्मण १६.६.१.३।
५. शतपथ ब्राह्मण १४.१.१.१९। ६. कौषीतकि ब्राह्मण ११.१३।
७. आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.२.५.१५।
८. छान्दोग्योपनिषत् २.१.५३।
९. अशोक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ शिलालेख।

पुराण' में वनस्पतिज भोजन को अच्छा माना गया है।[१] 'स्कन्दपुराण' मांस के गुणों का निषेध करता है।[२] 'मनुस्मृति' के अनुसार मांस का खाना हेय और परिणाम में दुःखद है।[३] प्राणियों की हिंसा के विना मांस प्राप्त नहीं होता, अतः मांस-भक्षण त्याज्य है।[४]

संस्कृत नाटकों में अनेक कवियों ने मांस-भक्षण को क्रूर[५] तथा राक्षसी[६] कहा है। मांस को खाने का वर्णन करके भी बाण उसको साधु-जनों के लिये निन्दित मानते हैं।[७] परन्तु मांस के भक्षण का निषेध करने पर भी जब रसिक जन नहीं माने तो मनु को कहना पड़ा कि यह तो मानव की प्रवृत्ति है, परन्तु न खाना फलदायक है।[८] उन्होंने यज्ञ में पशुओं के वध (बलि) को उचित ठहरा कर उसके मांस को खाने का विधान कर दिया। इससे समाज में मांस-भक्षण का प्रचार बढ़ा ही। कौलों और कापालिकों का मुख्य आहार मांस ही रहा था।

मांस-भक्षण के प्रश्न के साथ ही गोमांस के भक्षण का भी प्रश्न उठता है। भवभूति धर्मशास्त्रों की दुहाई देकर विशिष्ट अतिथियों के लिये समांस मधुपर्क की व्यवस्था करते हैं। इसके लिये बछड़ी या बैल को मार कर उसका मांस पकाया जाता था।[९] वसिष्ठ के अनुसार पिता, देवता और अतिथि का सत्कार करने के लिये पशु का वध किया जा सकता है। मधुपर्क, यज्ञ, पितृ और देवता के कार्य के लिये पशु की हिंसा करनी चाहिये, अन्यत्र नहीं। ब्राह्मण या क्षत्रिय अभ्यागत के आने पर बड़े बैल को या बकरे को पकाया जाता है।[१०] मुरारि के अनुसार सम्भ्रान्त अतिथि का सत्कार वत्सतरी के मांस से करना चाहिये।[११] श्रोत्रिय अतिथि के लिये बैल या बकरे को काटे जाने का समर्थन राजशेखर भी करते हैं।[१२] यज्ञों में अतिथि वत्सतरी का मांस खाते थे और मधुपर्क पीते थे। महाभाष्यकार ने समांस मधुपर्क के अधिकारी अतिथियों को मांसौदनिक कहा है।[१३]

---

१. भागवतपुराण ५.११, ७.११, ७.१५।
२. स्कन्दपुराण नागरखण्ड २९.२२५–२३७।
३. मनुस्मृति ५.५५। ४. मनुस्मृति ५.५६।
५. उत्तररामचरित पृ० २८४।
६. अनर्घराघव ११.१७, वेणीसंहार पृ० ९२।
७. आहारः साधुजननिन्दितः मधुमांसादिः। कादम्बरी विन्ध्याटवी वर्णन।
८. मनुस्मृति ५.५६। ९. मनुस्मृति ५.३९।
१०. उत्तररामचरित पृ० २८५, महावीरचरित २.२।
११. वसिष्ठस्मृति ४.५–८। १२. अनर्घराघव २.१४।
१३. बालरामायण १.८।
१४. अष्टाध्यायी ४.४.६७ पर महाभाष्य।

परन्तु गौ-बैल का मांस का भक्षण आर्य परम्पराओं के विपरीत ही था। धर्म के लिये वेद सर्वोपरि प्रमाण हैं। इनमें गौ को अघ्न्या कहा गया है। अतः गौ का मांस खाना अनार्यत्व का ही द्योतक है।

मांस-भक्षण के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान में रखने योग्य हैं। मांस दो प्रकार के जन्तुओं का होता था—ग्राम्य और आरण्य। क्षत्रिय लोग मृगया से प्राप्त आरण्य जन्तुओं का मांस ही पसन्द करते थे। दुष्यन्त के साथ शिकार पर जाने पर विदूषक को सलाइयों पर भुना हुआ हरिण का मांस ही खाने के लिये मिला था।[1]

(ग) वस्त्र—

मनुष्य को जन्तुओं से वस्त्र भी प्राप्त होते हैं। उसके अनेक रूप हैं। आर्य जन अति प्राचीन काल से ऊनी वस्त्रों का प्रयोग करते रहे हैं। यह ऊन विशेष रूप से भेड़ों से प्राप्त होता है। कालिदास ऊनी वस्त्रों के लिये पत्रोर्ण पद का प्रयोग करते हैं।[2] रल्लक भेड़ के ऊन का वस्त्र उत्तम माना जाता है। अमरसिंह ने इसको एक प्रकार का रोयेंदार कम्बल भी कहा है।[3] ह्वेनसांग के यात्रा-विवरणों में रल्लक का उल्लेख है। यह मूल्यवान् होता था।

वस्त्रों के लिये जन्तुओं के चर्म का भी उपयोग होता था। ब्रह्मचारी रुरु मृग का चर्म उत्तरीय के रूप में ओढ़ते थे। तपस्वी जन मृगचर्म पहनते थे और ओढ़ते थे और बिछाते थे।[4] राम के वन जाने पर भरत मृगचर्म (अजिन) प्रयोग करते रहे।[5] चर्म के सिले वस्त्रों के विवरण प्राप्त नहीं होते। चर्म का उपयोग जूती बनाने तथा आवरण चढ़ाने के लिये भी किया जाता था।[6]

जन्तुओं से प्राप्त एक अन्य वस्त्र-उपादान कौशेय था। इस वस्त्र का प्रयोग समृद्ध जन ही कर सकते थे।[7] यह एक विशेष प्रकार के कीड़ों द्वारा बनाये गये तन्तुओं से बनता था। कौशेय का वर्ण उस वृक्ष के अनुसार बताया गया है, जिस वृक्ष पर रेशम के कीड़े पाले गये हों। इनमें नाग वृक्ष का पीला, लिकुच का गेहुआँ, बबूल का श्वेत और वट का नवनीत वर्ण का होता है।[8] वर्तमान समय में इसके लिये शहतूत का उपयोग सबसे अधिक होता है।

(घ) सन्देश-प्रेषण—

सन्देश भेजने के लिये पक्षियों का, कबूतरों का प्रयोग अति प्राचीन काल में

१. अभिज्ञानशाकुन्तल—द्वितीय अंक का विष्कम्भक।
२. मालविकाग्निमित्र ५.१२।
३. अमरकोष २.६.११६, ३.५.१७।
४. उत्तररामचरित ४.२०।
५. आश्चर्यचूडामणि ३.१, नागानन्द २.२, अनर्घराघव २.२५।
६. हनूमन्नाटक ३.११। ७. ऋतुसंहार ५.८।
८. कौटिल्य अर्थशास्त्र २.११।

विकसित हो गया था। इसके लिये कबूतरों को शौक से पाला जाता था। कौटिल्य ने कबूतरों द्वारा सन्देश को प्रेषित करने का महत्व कहा है।[१] वसन्तसेना के प्रासाद में प्रभूत संख्या में कबूतर इसीलिये पाले गये होंगे कि वे प्रेमियों के पास सन्देश को ले जा सके।[२]

(ङ) वाहन—

जन्तुओं का प्रयोग वाहन के लिये अति लोकप्रिय था। वास्तविकता यह है कि प्राचीन काल में यात्रा या तो पैदल हो सकती थी, या पशु रूप वाहनों द्वारा। अनेक जन्तुओं की देवताओं के वाहन के रूप में भी कल्पना की गई थी। इस तथ्य का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

वाहन के रूप में बैल, हाथी, अश्व का उपयोग अधिक था। उष्ट्र का प्रयोग भी प्रचलित था। परन्तु यह पशु पश्चिमोत्तर भारत में अधिक दृष्टिगोचर होता था। रेगिस्तानी प्रदेशों के लिये तो यह सर्वोत्तम वाहन था।

बैल (वृषभ) का उपयोग रथों और बैलगाड़ियों को खींचने के लिये किया जाता था। कर्णीरथ[३] तथा कम्बलवाह्यक नामक[४] विशेष वाहन बैलों द्वारा खींचे जाते थे। बैलों द्वारा खींचे जाने वाले प्रवहणों का वर्णन 'मृच्छकटिक' में हुआ है। 'अमरकोष' के अनुसार प्रवहण पद कर्णीरथ का पर्याय है।[५] बैलों से खींचे जाने वाली बड़ी बैलगाड़ियों (गोणी)[६] तथा छोटी बैलगाड़ियों (शकटी)[७] का भी उल्लेख नाटकों में है। प्राचीन समय में अनेक भित्तिचित्रों में बैलों पर आरूढ़ मनुष्य चित्रित हैं।

वाहन के लिये अश्व का प्रयोग सबसे अधिक प्रचलित था। यातायात का द्रुततम साधन यही था।[८] इसकी पीठ पर बैठने के लिये काठी (पर्याण)[९], नियन्त्रित करने के लिये लगाम (रश्मि) और प्रेरित करने के लिये चाबुक (प्रतोद) का प्रयोग होता था। लगाम का अगला भाग (कविका) लोहे का बना होता था, जिसको बलपूर्वक खींचने से घोड़े रुक जाते हैं।[१०] चाबुक का प्रहार होने पर घोड़ा तीव्र गति

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र ३.३४, १३.१।
२. मृच्छकटिक अंक ५।
३. पादताडितक श्लोक १४; रघुवंश १४.१३।
४. पादताडितक श्लोक ३४, १०६,
५. अमरकोष ३.८.५१। ६. तापसवत्सराज पृ० ६२।
७. हनूमन्नाटक ३.२२
८. हनूमन्नाटक २.१, तपतीसंवरण पृ० ८।
९. बालरामायण पृ० ४५३। १०. मुद्राराक्षस ४.७।

से भागता है।[१] घोड़ा बिगड़ैल भी हो सकता है। कुलशेखर वर्मन् ने एक बिगड़ैल घोड़े का वर्णन किया है, जिसने अपने सवार को गिरा दिया तथा समीपस्थ व्यक्ति उसका उपहास करने लगे।[२] अश्वारोही विशेष प्रकार की पोशाक पहन कर अश्व पर आरूढ़ होते थे।

घोड़ों का उपयोग रथों को खींचने के लिये भी किया जाता था। यह सम्मानित सवारी थी। रथ में जुते घोड़ों की अधिक संख्या रथारोही की सम्पन्नता की सूचक थी। इसमें एक, दो, चार, आठ या इससे भी अधिक घोड़े जोते जा सकते थे। कालिदास ने रथ की अति तीव्र गति का वर्णन किया है।[३] रथ का संचालन सारथि करते थे।[४] वे रथारोही के आदर के पात्र थे।[५] अर्जुन के रथ का संचालन कृष्ण ने किया था।

वाहन के रूप में हाथी का प्रयोग भी प्रचलित था। विशिष्ट व्यक्तियों के लिये विशिष्ट हाथियों के नामों के उल्लेख मिलते है। सम्राट् चन्द्रगुप्त की हथिनी का नाम चन्द्रलेखा था।[६] 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' के चण्ड प्रद्योत के हाथी का नाम नडागिरि और वासवदत्ता की हथिनी का नाम भद्रवती था। हाथी पर प्रतिष्ठित जन ही आरूढ़ हो सकते थे और वे इभ्य कहलाते थे।[७] हाथियों का उपयोग वरयात्रा (बारात) में भी था। मालती हथिनी पर बैठ कर मदनोद्यान गई थी और उसी पर लौटी थी।[८]

बारातों के लिये हाथियों को विशेष रूप से सजाते थे और सिन्दूर लगाते थे। इन पर घण्टियाँ बाँधी जाती थी।[९] सवारी के हाथी को सजा कर पीठ पर कुशास्तरण बिछाते थे। गले में छोटी घण्टियों की माला तथा पीठ के दोनों ओर दो बड़े घण्टे लटकाये जाते थे।[१०] उसकी ध्वनि को दूर से ही सुन कर हाथी के आने का अनुमान हो जाता था। सवारी के लिये हाथी को प्रशिक्षित करते थे। गति तीव्र करने के लिये अंकुश चुभाते थे तथा जाँघों पर आघात करते थे।[११]

सवारी के हाथी पागल होकर नगर में उपद्रव भी खड़ा कर देते थे। साहसी व्यक्ति इनको रोकने का प्रयत्न करते थे।[१२] 'मृच्छकटिक' तथा 'अविमारक' नाटक में पागल हाथी के उपद्रवों का वर्णन कवियों ने किया है।[१३]

---

१. धूर्तविटसंवाद श्लोक ४२।
२. तपतीसंवरण पृ० ८–९।
३. अभिज्ञानशाकुन्तल १.९।
४. धूर्तविटसंवाद श्लोक ४२।
५. चण्डकौशिक पृ० ४८–४९।
६. मुद्राराक्षस पृ० ६०।
७. पादताडितक पृ० २४०।
८. मालतीमाधव पृ० ४८।
९. मालतीमाधव पृ० २६०–२६१।
१०. उभयाभिसारिका पृ० १४२
११. मुद्राराक्षस पृ० ६०।
१२. धूर्तविटसंवाद पृ० ७२।
१३. मुद्राराक्षस ४.१६–१७।

खच्चरों तथा गधों का उपयोग भी वाहनों के रूप में होने का उल्लेख है। रावण के रथ में गधे जुते थे।

(च) सेना—

प्राचीन भारतीय सैन्य संगठन में सेना के विविध अंगों में पशुओं का प्रयोग प्रचलित था। चतुरंगिणी सेना के तीन अंग—गजसेना, रथसेना और अश्वसेना का संचालन गजों और अश्वों द्वारा किया जाता था।

सैन्य संगठन में हाथियों का उपयोग महत्वपूर्ण था। शत्रु सैनिकों को कुचलने के लिये, किलेबन्दियों को तोड़ने के लिये, नदियों को पार करने के लिये और नगरों (दुर्गों) पर घेरा डालने के लिये ये उपयोगी थे। मलयकेतु की गजसेना के हाथी शोण नदी के जल का पान करके कुसुमपुर की किलेबन्दी को तोड़ने में समर्थ थे।[१] मगधराज दर्शक की प्रबल गजसेना ने कौशाम्बी पहुँच कर यमुना के तट पर शिविर डाला था।[२] युद्धों में ये हाथी अपने दान्तों के प्रबल आघातों से शत्रु पक्ष के हाथियों के पेट चीर डालते थे।[३] चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस पर विजय प्राप्त की थी। इसमें उसकी गजसेना का महत्वपूर्ण योग था। कौटिल्य[४] और कामन्दक[५] ने विजय के लिये गजसेना को अनिवार्य बताया था।

युद्ध के लिये हाथियों को विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाता था। परन्तु बिगड़ जाने पर या अड़ जाने पर वे पराजय का कारण भी हो सकते थे। पोरस की सिकन्दर से पराजय उसके हाथियों के कारण ही हुई। सिन्ध का राजा दाहर[६] और पंजाब का राजा अनंगपाल[७] अपनी गज सेनाओं के कारण ही पराजित हुये थे। अप्रशिक्षित हाथी भी पराजय के कारण हो सकते थे।[८]

अश्व सेना स्फूर्ति और हल्केपन के कारण प्रचण्ड होती थी। अश्वारोही सैनिक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहते थे। 'तापसवत्सराज' में मगधराज दर्शक और पांचालराज आरुणि की अश्व सेनाओं का वर्णन है।[९] यौगन्धरायण ने अश्व पर आरूढ़ होकर युद्ध किया था।[१०] युद्धों में विजय प्राप्त करने के लिये अश्व सेना प्रमुख सहायक थी। इतिहासकारों के अनुसार सिकन्दर की अश्व सेना ने पोरस की भारी-पराक्रम गजसेना को बुरी तरह पराजित किया था। प्राचीन समय में गान्धार

---

१. तापसवत्सराज पृ० १७० ।
२. तापसवत्सराज पृ० १७१ ।
३. अर्थशास्त्र २.२ ।
४. कामन्दकीय नीतिशास्त्र १९.१२ ।
५. नीतिवाक्यामृतम् २२.५ ।
६. एलिफेन्स्टन: हिस्ट्री आफ इण्डिया १९९९ ई० पृ० ३०९ ।
७. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग २ पृ० ६७९ से ।
८. यशस्तिलकचम्पू उत्तरभाग पृ० ४९२ ।
९. तापसवत्सराज पृ० १६७–१६८ ।
१०. तापसवत्सराज पृ० १७९ ।

और काम्बोज के अश्व अधिक उपयोगी माने गये थे।[1] हर्ष के समय में वनायु, आरट्ट, काम्बोज, सिन्धु और पारसीक देशों के अश्व अधिक अच्छे समझे जाते थे।[2]

रथसेना के लिये भी अश्व अनिवार्य थे। रथों को अश्व ही खींचते थे। प्रशिक्षित घोड़े सारथियों द्वारा हांके जाते थे। युद्धक्षेत्र में रथारोही सैनिक शत्रुओं के रथों के घोड़ों को मार देने का प्रयत्न करते थे।[3] खच्चरों तथा गधों से भी यह कार्य कराया जाता था। रावण के रथ में खच्चर और गधे जुते हुये थे।

ऊँटों का प्रयोग भी सेनाओं में होता था। राजस्थान की उष्ट्रसेना प्रसिद्ध थी परन्तु इसका उल्लेख इन संस्कृत नाटकों में नहीं है। सेना की रसद की सप्लाई के लिये हाथी, घोड़े, गधे, खच्चर, ऊँट, भैंसे आदि पशु उपयोगी थे।

(छ) चिकित्सा—

अनेक प्राणिज द्रव्यों का चिकित्सा में भी उपयोग था। सीप, शंख, वराट, प्रवाल, मुक्ता आदि द्रव्य प्राणिज हैं तथा आयुर्वेद के ग्रन्थों में इनके चिकित्सात्मक गुणों का वर्णन है। मृगनाभि से उत्पन्न कस्तूरी प्राणरक्षक द्रव्य है। यह अनेक गम्भीर रोगों की चिकित्सा में उपयोगी है। विविध पशुओं के मांसों के गुणों का वर्णन किया गया है। मयूर और कपोत का मांस अति उष्ण है तथा वात-व्याधियों में उपयोगी समझा गया था।

(ज) मनोरञ्जन—

जन्तुओं द्वारा मानव-समाज को मनोरञ्जन के भी अनेक साधन प्राप्त हो सके थे। इसके लिये विविध पशु-पक्षियों का पालन भी किया जाता था। वाटिकाओं, तपोवनों और घरों में इनके विस्तृत विवरण उपलब्ध होते हैं। शुक, सारिका, मयूर, हंस आदि पक्षी और मृग आदि पशु मनोरञ्जन के लिये पाले जाते थे। शुकों और सारिकाओं से वार्ता करके युवतियाँ अपना मन बहलाती थीं।[4]

जन्तुओं का उपयोग मृगया में सहायता के लिये भी किया जाता था। मृगया के व्यसनी जन वनों में जाकर मृग, वराह, सिंह आदि जन्तुओं का शिकार करते थे। इसके लिये शिकारी कुत्तों (कौलेयक) को पाला जाता था। जंगलों को घेरने वाले सेवक प्रशिक्षित कुत्तों को छोड़ देते थे।[5] ये हरिण आदि जन्तुओं को मार कर अपने स्वामी को दे देते थे। पक्षियों का शिकार करने के लिये बाज को पाला जाता था।

सर्पों का खेल देखना मनोविनोद का अच्छा साधन रहा था। सपेरे (आहितुण्डिक) साँपों को पाल कर उनका खेल दिखाते थे।[6] वे पिटारियों में साँपों

---

१. महाभारत–सभापर्व ५३.५।
२. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग २ पृ० १८१।
३. वेणीसंहार २.२३, २.२८।
४. पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थाम्। उत्तरमेघ श्लोक २५।
५. चण्डकौशिक २.२। ६. मुद्राराक्षस पृ० ४२।

को बन्द करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते फिरते थे। साँपों को पकड़ने के लिये तन्त्रों (औषधि-विशेष) को जानना, मण्डलों (माहेन्द्र आदि) का लेखन तथा रक्षा के उपाय (मन्त्रों) का जानना आवश्यक था।[१]

वानरों का खेल भी मनोरञ्जन का अच्छा साधन था। इनको पकड़ कर प्रशिक्षित करके खेल दिखाये जाते थे।[२] रीछों का खेल भी मनोरञ्जन प्रदान करता था।

पशु-पक्षियों के द्वन्द्व-युद्धों को देखना मनोविनोद का अच्छा हेतु था। प्राचीन साहित्य में इसका विशद वर्णन है। वात्सायन ने नागरिक के मनोविनोद के हेतुओं में मेष, लावक और कुक्कुटों के द्वन्द्व-युद्धों का वर्णन भी किया है। इनमें पण भी लगाये जाते थे।[३] भोजन के पश्चात् नागरिक बटेरों, कुक्कुटों और मेषों का द्वन्द्व-युद्ध देखता है।[४] नागरिक की पत्नी पति के मनोविनोद के लिये इनको पालती है।[५] पक्षियों के युद्ध के समय नायक पीठमर्द को वेश्या के यहाँ ले जाता है।[६]

राजशेखर ने बटेरों, तीतरों, मृगों और महिषों के[७] एवं कपिञ्जलों के[८] द्वन्द्व-युद्धों का वर्णन किया है। मेषों के द्वन्द्व-युद्धों को हुडुक-युद्ध नाम दिया गया है।[९] प्रचुर संख्या में एकत्रित होकर लोग इनको देखते थे। इस समय जीत-हार की बाजी भी लग जाती थी। इसमें दो दल बन जाते थे। रसिक तथा शौकीन जन अपनी प्रेमिकाओं और वारांगनाओं को साथ लेकर इनको रिझाने के लिये ऊँची बाजी लगाते थे तथा बढ़ती हुई बाजी की परवाह नहीं करते थे।[१०] राजशेखर ने एक स्थान पर भैंसों के द्वन्द्व-युद्ध का वर्णन किया है।[११] कालिदास हाथियों के द्वन्द्व-युद्ध का वर्णन भी करते हैं।[१२]

मयूर पालना और उनको नचाना युवतियों के मनोविनोद का अच्छा साधन था। कालिदास की यक्षिणी ताली बजा-बजा कर मयूरों को नचाती थी।[१३] श्यामिलक ने युवतियों द्वारा आम्र की मञ्जरियों को हिला-हिला कर मयूर को नचाने का वर्णन किया है।[१४] भवभूति ने वर्णन किया है कि सीता का पालतू मयूर उसकी तालियों की ताल पर चारों ओर चक्कर काटता हुआ नृत्य करता था। सीता की भँवों के नचाने पर उसके नेत्र भी उसी प्रकार गोलाकार घूमते थे।[१५]

---

१. मुद्राराक्षस ५.१। २. तापसवत्सराज पृ० ६।
३. कामसूत्र १.३.६। ४. कामसूत्र १.४.२१।
५. कामसूत्र ४.१.३३। ६. कामसूत्र ६.१.२५।
७. बालरामायण २.१०। ८. बालरामायण पृ० ३७८।
९. बालरामायण पृ० १९१। १०. धूर्तविटसंवाद पृ० ७२।
११. बालरामायण २.६। १२. मालविकाग्निमित्र पृ० २२।
१३. तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः। उत्तरमेघ श्लोक १९।
१४. पादताडितक श्लोक ३७। १५. उत्तररामचरित ३.१९।

(झ) प्रसाधन तथा आभूषण—

जन्तुज द्रव्यों का प्रसाधन और आभूषणों के लिये भी उपयोग होता था। कस्तूरी मृग की नाभि से प्राप्त काले रंग का सुगन्धित पदार्थ कस्तूरी है। यह अति सुगन्धित तथा मूल्यवान् होता है। प्रसाधनों के लिये इसका उपयोग था। परन्तु अति मूल्यवान् होने से समृद्ध जन ही इसका उपयोग कर पाते थे। कस्तूरी के लेप की सुगन्धि चारों ओर फैल जाती थी।[२] प्रेमिकायें कस्तूरी के द्रव से प्रेम-पत्र लिखती थीं।[३] माथे को कस्तूरी के तिलक से सुशोभित करते थे।[४]

अलङ्कारों के निमित्त से भी जन्तुज द्रव्य प्रयुक्त होते थे। युवतियों के कर्णा-भूषणों तथा वलयों की रचना हाथीदान्त से भी की जाती थी। शुक्ति नामक जन्तु से प्राप्त मुक्ता अलङ्कारों का मूल्यवान् उपादान थे। इनके हार भी बनाये जाते थे तथा उनको आभूषणों में भी जड़ा जाता था। कवियों ने गज से प्राप्त गजमुक्ता का भी उल्लेख किया है। प्रवाल का उपयोग भी आभूषणों के रूप में था। वराट की मालायें निर्धन वर्ग की महिलायें पहनती थीं। देवी दुर्गा को वराट की मालायें पहने हुये दिखाया गया है।

पक्षियों के पंख आदि भी आभूषणों के रूप में प्रयुक्त होते थे। इस सम्बन्ध में मयूर-पंख अधिक लोकप्रिय रहा। वन्य जातियों का तो यह प्रिय आभूषण था ही, सभ्य आर्यों में भी यह प्रचलित था। बाल कृष्ण का मयूर पंख को धारण करना साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। कालिदास ने वर्णन किया है कि पार्वती कार्तिकेय के मयूर के पंख को कानों में धारण करती थी।[५]

———

१. कर्पूरमञ्जरी पृ० २१। २. अनर्घराघव ३.३०।
३. कर्पूरमञ्जरी २.७। ४. हनुमन्नाटक १४.८०।
५. ज्योतिर्लेखावलयि गलितं तस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति। पूर्वमेघ श्लोक ४६।

जन्तुओं का वर्णन

संस्कृत नाटकों में अनेक प्रकार के जन्तुओं के उल्लेख आये हैं। इनमें कुछ पशु हैं। ये आरण्य, ग्राम्य आदि विविध वर्गों के हो सकते हैं। आकाश में उड़ने का सामर्थ्य रखने वाले पक्षियों का वर्णन है। इनमें अनेक पक्षी पालतू बनाये गये थे और अनेक स्वतन्त्र विचरण करने वाले हैं। कुछ पक्षी ज़लीय स्थानों पर विचरण करना पसन्द करते हैं। जल के भीतर तथा ऊपर विचरण करने वाले जल-जन्तुओं का वर्णन हुआ है। रेंगने वाले जल-जन्तु भी वर्णित हुये हैं। क्षुद्र जन्तुओं कृमि-कीट आदि का भी वर्णन हुआ है। इनका वर्गीकरण एक कठिन कार्य है तथा विवादास्पद भी है। वर्गीकरण के प्रसङ्ग में इस विषय का उल्लेख किया जा चुका है। जन्तुओं का वर्णन किस क्रम से किया जावे, यह विषय विवादास्पद हो सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक वर्गीकरण के अनुसार क्रम का निर्धारण करने से प्राचीन वर्गीकरण खण्डित होता है और प्राचीन वैज्ञानिक वर्गीकरण का क्रम अपनाने पर आधुनिक वैज्ञानिक वर्गीकरण खण्डित होता है। अतः इस विवाद से बचने के लिये जन्तुओं के भौतिक स्थूल रूप को लक्ष्य करके सरल ढंग से इनको पाँच वर्गों—पशु, पक्षी, जलधर, सरीसृप और क्षुद्र जन्तु में बाँट कर अकारादि क्रम से इनका वर्णन किया गया है।

(क) पशु

स्थल पर चार पैरों से विचरण करने वाले जन्तुओं को, चाहे वे पालतू हों या आरण्यक हो, पशुवर्ग में रखा ग़या है। वे निम्न हैं—

१. अज (बकरा)—

संस्कृत नाम—स्तभ, छाग, वस्त, छगलक, अज, बर्कर, स्तुभ।
हिन्दी नाम—बकरा, बकरी।
अंग्रेजी नाम—Goat
लैटिन नाम—**Hemitragus jimlahicus**।

भारतीय पालतू पशुओं में बकरा-बकरी का मुख्य स्थान है। बकरी का दूध सुपच और सस्ता माना जाता है। निर्धन व्यक्ति बकरी के दूध पर ही निर्वाह कर लेते हैं। ये बहुत सस्ते घास-पात पर सन्तोष कर लेती हैं। बकरे का मांस भोज्य है। यह सबसे अधिक खाया जाता है।

विविध रंगों तथा अनेक जातियों के बकरे भारतवर्ष में मिलते हैं। इनमें काश्मीरी, पहाड़ी, बरबरी और जमनापारी अधिक प्रसिद्ध हैं। काश्मीरी बकरा ऊन के लिये, पहाड़ी मांस के लिये, बरवरी वंश-वृद्धि के लिये और जमुनापारी दूध के

लिये अच्छे माने गये हैं। बकरे की वंशवृद्धि तेजी से होती है। बकरियाँ वर्ष में दो-तीन बार बच्चे जनती हैं और ये ६–७ महीनों में युवा हो जाते हैं। बकरी शाकाहारी जन्तु है तथा मुख्य रूप से घास-पात खाती है। बकरों की कुछ जंगली जातियाँ भी मिलती हैं।

बकरा-बकरी को पालने का वर्णन संस्कृत नाटकों में यत्र-तत्र मिल जाता है। इसको दूध और मांस के लिये पाला जाता होगा। यह यज्ञीय पशु भी है। बकरे की यज्ञ में बलि देने का उल्लेख शूद्रक करते हैं। बलि के लिये बाँध कर ले जाते हुये बकरे का हृदय काँपता रहता है।[1]

कवियों ने बकरे के मुख में असौन्दर्य का अवलोकन किया था। कुरूप व्यक्ति के मुख की उपमा बकरे के मुख से दी गई है।[2]

२. अवि (भेड़)—

संस्कृत नाम—अवि, एडका, उरणी, भेड़क, जालकिनी।

हिन्दी नाम—भेड़।

अंग्रेजी नाम—Sheep।

लैटिन नाम—Ovis ammon।

भेड़ की अनेक जातियाँ भारतवर्ष में उपलब्ध होती हैं। इसको मुख्य रूप से ऊन और मांस के लिये पाला जाता है। विदेशों में भेड़ की जातियों को बहुत समुन्नत किया गया है। बड़े-बड़े बालों से भरे हुये इनके शरीर बकरियों से अधिक भारी होते हैं। बालों को वर्ष में दो बार काटा जाता है। इससे ऊनी वस्त्र बनते हैं। भेड़ का मांस भी खाया जाता है। भेड़ का दूध पौष्टिक होता है, जिसमें वसा का प्रतिशत अधिक है। मादा भेड़ वर्ष में दो बार बच्चा जनती है। जंगली भेड़ों की भी कुछ जातियाँ हमारे देश में पहाड़ों में मिलती हैं।

प्राचीन भारतीय जन भेड़ों से खूब परिचित थे। इनके ऊन से बने वस्त्र आर्यों में लोकप्रिय थे। भेड़ों के पालन का प्रचुर वर्णन मिलता है, परन्तु संस्कृत नाटकों में यह कम ही है। भास ने लिखा है कि भेड़ के रूप को धारण करने वाले एक असुर को अविमारक ने मार डाला था।[3]

३. अश्व (घोड़ा)—

संस्कृत नाम—घोटक, तुरङ्ग, तुरङ्गम, तुरग, अश्व, वाजी, वाह, अर्वा, गन्धर्व, हय, सैन्धव, सप्ति, हरि।

---

१. पशुबन्धोपनीतस्येव छागलस्य हृदयं फुरफुरायते। मृच्छकटिक पृ० ४४।
२. पादताडिक श्लोक ६७।
३. किं मानुषैः सोऽप्यसुरेश्वरो मे हतो भुजाभ्यामविरूपधारी।
अविमारक २.६।

हिन्दी नाम—घोड़ा।

अंग्रेजी नाम—Horse।

लैटिन नाम—**Equus caballus**।

वाहन के रूप में अश्व का प्रयोग भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से प्रचलित है। यह सवारी करने और वाहनों को खींचने के लिये उपयोगी है। यह अति त्वरित गति से चलता है। इसको हाथी के समान बुद्धिमान् और कुत्ते के समान स्वामिभक्त समझा जाता है। अश्व शाकाहारी जीव है। घोड़ी ११ महीने में एक बच्चे को जनती है।

भारतवर्ष में अश्व की अनेक जातियाँ मिलती हैं। इनमें काठियावाड़ी और सिन्धी अच्छी मानी जाती हैं। अरबी घोड़ा बहुत प्रसिद्ध है। घोड़ी और गधे के संयोग से उत्पन्न पशु खच्चर कहलाता है। थह घोड़े के समान ऊँचा, शक्तिमान् तथा गधे के समान भार के वहन की क्षमता वाला है। परन्तु इसमें सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती।

प्राचीन भारतीय समाज में गौ के पश्चात् अश्व का स्थान महत्वपूर्ण था। इसको अनेक बार गौ से भी अधिक सम्मान दिया गया है। वैदिक साहित्य में एक अश्व का मूल्य एक हजार गौओं के तुल्य कहा गया है। तीव्रगामी वाहन के रूप में इसका महत्व था[१]।

वाहन के रूप में अश्व की पीठ पर बैठकर तो सवारी की ही जाती थी[२], इसके द्वारा रथ भी खींचे जाते थे। सभी वर्गों के लोग अपनी सामर्थ्य के अनुसार अश्व को पालते थे। राजप्रासादों में अश्व को रखने के लिये अश्वशाला (मन्दुरा) बनाई जाती थी। इसका अध्यक्ष अश्वों की देख-रेख करता था। अश्व को विविध प्रकार से संवारा और विभूषित भी किया जाता था। इसके केश काटने की प्रक्रिया को केशकल्पना कहा गया है[३]।

सुदूरवर्ती तथा निकटवर्ती यात्राओं के लिये वाहन के रूप में अश्व का अधिक उपयोग था। इसको स्थल पार करने का सर्वोत्तम साधन माना गया था[४]। स्थानीय यात्राओं के लिये भी यह उपयोगी पशु था। नगरों के राजमार्ग अश्वों से भरे रहते थे[५]। घुड़सवारी के लिये अश्व की पीठ पर विशेष आसन रखे जाते थे। अश्वारोहण के लिये विशेष प्रकार की सुन्दर वेशभूषा धारण की जाती थी[६]।

---

१. वीणावासवदत्तम् २.१०। २. प्रतिज्ञायौगन्धरायण पृ० १९।

३. मृच्छकटिक पृ० १७२। ४. वाजी स्थले। मृच्छकटिक ३.२०।

५. पद्मप्राभृतक श्लोक १९।

६. वाहवाहोचितवेशपेशलः। नैषधीयचरित १.६६।

वाहनों को भी अश्व खींचते थे[१]। इनमें रथ की सवारी सर्वोत्तम थी। रथ का संचालक सूत कहा गया है। वह लगामों द्वारा अश्व की गति पर नियन्त्रण करता था। लगाम के ढीला छोड़ देने पर इसकी गति तीव्र हो जाती है तथा खींचने से मन्द हो जाती है[२]। अधिक खींचने पर घोड़े रुक जाते हैं[३]। इस समय रथ के रुक जाने से रथारोही नीचे उतर सकता है[४]।

अश्व का उपयोग युद्ध में भी था। तीव्र गति से भागने के कारण अश्वारोही त्वरित गति से प्रहार कर सकते हैं, अतः भारतीय चतुरङ्गिणी सैन्य पद्धति में अश्वसेना का बहुत महत्व रहा। इसकी ओर समुचित ध्यान न देने पर भारतीय राजा पराजित हुये। पोरस की गजसेना को सिकन्दर ने त्वरित गति वाली अश्वसेना से पराजित कर दिया था। संस्कृत नाटकों के युद्ध-वर्णनों में अश्वसैन्य द्वारा विजय प्राप्त करने की अनेक घटनायें वर्णित हैं। सैनिक अश्वों पर बैठकर युद्ध करते हैं। यौगन्धरायण ने अश्वसेना का नायक बनकर आरुणि को पराजित कर दिया था। रथ-सेना में रथों को खींचने का कार्य अश्व ही करते थे।

अश्वों के तीव्र गति से भागने के रोचक वर्णन संस्कृत कवियों ने किये हैं। इनके खुरों के प्रहार से खुद कर धूल आकाश में उड़ती है[५]। यह कबूतर के कण्ठ के समान वर्ण की होती है[६]। लगामों को ढीला छोड़ देने पर तीव्र गति से भागते अश्व के शरीर का अगला भाग लम्बा हो जाता है, गरदन तथा पूँछ के बाल निष्कम्प हो जाते हैं और कान ऊपर को खड़े हो जाते हैं। इनके द्वारा उड़ाई धूल भी बहुत पीछे छूट जाती है[७]। घोड़ों की इस तीव्र गति के उपमान सूर्य के अश्व ही हो सकते हैं[८]। तीव्र गति से दौड़ सकने (तुर शीघ्रं गच्छति इति तुरङ्गः) से इसको तुरङ्ग कहा गया तथा इसका तीव्रगामी सवारी के रूप में उपयोग किया गया[९]।

---

१. कुन्दमाला पृ० ७।

२. रश्मिसंयमनाद् रथस्य मन्दीकृतो वेगः। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० १३६।

३. कुन्दमाला १.४।

४. धृताः प्रग्रहाः। अवतरतु आयुष्मान्। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० १४६।

५. तुरगखुरहतस्तया हि रेणुः। अभिज्ञानशाकुन्तल १.३०।

६. वाजिव्रातखुरप्रहारदलितक्षोणीरजोभिर्युतं
सान्द्रैर्जीर्णकपोतकण्ठरुचिभिर्व्योमेदमास्तीर्यते। हनूमन्नाटक १४.६६।

७. मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया निष्कम्पचामरशिखाः निभृतोर्ध्वकर्णाः।
आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीयाः धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः।
अभिज्ञानशाकुन्तल १.८।

८. (क) दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः। उत्तरमेघ श्लोक १३।
(ख) सत्यमतीत्य हरितो हरीन् वर्तन्ते वाजिनः। अभिज्ञानशाकुन्तल ।

९. हनूमन्नाटक ३.१।

अश्वों के थक जाने पर इनको विश्राम देना भी समुचित समझा गया था। इनको स्नान तथा भोजन कराया जाता था। इससे तरोताजा होकर वे आगे की यात्रा के लिये तैयार हो जाते हैं। इसके लिये कहा जाता था कि घोड़ों की पीठ गीली कर दी जावे[१]।

संस्कृत कवियों ने उत्तम अश्व के लक्षण तथा उपलब्धि के स्थान बताये हैं। उत्तम अश्व अधिक ऊँचा होता है और ग्रीवा पर देवमणि के समान केशों का आवर्त मस्तक तक चला जाता है। सुन्दर लम्बी पूँछ वाला अति वेगशाली यह अश्व अति चंचल होता है[२]।

सिन्ध देश के अश्व बहुत अच्छे माने जाते थे, अतः अश्व को सिन्धुज या सैन्धव भी कहा गया। काम्बोज के अश्व भी अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध थे। सम्पन्नता के प्रतीक ये अश्व राजाओं द्वारा भी आदरणीय थे[३]। वे युद्धभूमि से भागते नहीं हैं।

प्राचीन मनीषियों ने अश्व में देवत्व की कल्पना भी की थी। समुद्र का मन्थन करने से प्राप्त १४ रत्नों में उच्चैःश्रवा नाम का अश्व भी था, जो सवारी के हेतु इन्द्र को प्राप्त हुआ। सूर्य के रथ के वाहन हरे रंग के सात अश्व हैं। इनका संचालन अरुण नाम का सारथि करता है[४]।

आर्यघोटक—

संस्कृत नाटकों में आर्यघोटक का उल्लेख किया गया है। इस अश्व का उपयोग केवल सजावट के लिये था। बारात आदि जलूसों में इस सुन्दर अश्व को आभूषणों से सुसज्जित करके निकालते थे। इसको आर्यघोटक कहा गया है। इस उपलक्षण द्वारा उस पुरुष को भी आर्यघोटक कह दिया गया, जो सजसंवर कर घूमते थे, परन्तु कोई भी कार्य नहीं करते थे[५]।

४. उष्ट्र (ऊंट)—

संस्कृत नाम—उष्ट्र, क्रमेलक, महाङ्ग, क्रम, दाशेर

हिन्दी नाम—ऊँट

अंग्रेजी नाम—Camel

लैटिन नाम—Camelus dromedarius

ऊँट एक अति परिचित पालतू पशु है। रेगिस्तानों के लिये यह बहुत उप-

१. आर्द्रपृष्ठाः क्रियन्तां वाजिनः। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० १४८।
२. नैषधीयचरितम् १.५७-६१। ३. कर्णभार १.९।
४. अभिज्ञानशाकुन्तल ७.४।
५. पादताडितक पृ० १८१।

योगी है। इसके बिना रेगिस्तानों को पार करना अति कठिन है। इसको रेगिस्तानी जहाज भी कहा जाता है। यहाँ के लिये यह गाय, बैल, घोड़ा सभी कुछ है। भार के वाहन के लिये उपयोगी होने के साथ ही इसके दूध और मांस का भोजन के लिये उपयोग किया जाता है।

ऊंट ऊँचा, लम्बा तथा लम्बी गरदन वाला पशु है। इसकी पीठ पर एक ऊँचा कूबड़ होता है। मध्य एशिया में दो कूबड़ के ऊँट भी होते हैं। ऊँट के शरीर पर भूरे कोमल बाल होते हैं। इसके पेट में विशेष जल की थैलियां लगभग ८०० तक होती हैं इनमें यह जल का संग्रह कर लेता है। ऊँट के चमड़े से जूते आदि सामग्रियां और बालों से ब्रश, कम्बल तथा वस्त्र बनाये जाते हैं।

संस्कृत साहित्य में ऊँट का उल्लेख अरसिक पशु के रूप में हुआ है तथा यह अरसिक मनुष्यों का उपमान बना है। 'पद्मप्राभृतक' में कवि कहता है कि सुन्दर रसिक युवती का किसी लम्बे अरसिक पुरुष से सम्बन्ध होना ऐसा ही है, जैसे कि ऊँट की ग्रीवा में वीणा का अटक जाना[२]। विल्हण के अनुसार विलास उपवन में प्रवेश करके भी ऊँट कांटों को ही खोजता है[३]।

५. कुक्कुर (कुत्ता)—

संस्कृत नाम—कौलेयक, सारमेय, कुक्कुर, मृगदंशक, शुनक, भषक, श्वन्, वृकारि

हिन्दी नाम—कुत्ता

अंग्रेजी नाम –Dog

लैटिन नाम—**Canis familiaris**

कुत्ता मनुष्य का बहुत पुराना साथी है। मानव सभ्यता के विकास में उसका भी महत्व रहा है। पहले कुत्ते वन्य ही थे, परन्तु इनको पालतू बना लिया गया। स्वामिभक्त तथा साथ देने वाले इस पशु को लगभग सारे विश्व में पाला जाता है। प्राचीन साहित्य में जंगली कुत्तों का काफी वर्णन मिलता है। परन्तु अब इनकी संख्या बहुत कम हो गई है।

कुत्ता मुख्य रूप से मांसाहारी पशु है। परन्तु मनुष्यों के साथ रह कर इसने वनस्पतिज भोजन करना भी सीख लिया है। मादा कुतिया एक बार में अनेक बच्चे उत्पन्न करती है। पैदा होते समय इनकी आँखें बन्द रहती हैं, जो १०–१२ दिन तक खुलती हैं।

---

१. करभककण्ठावसक्तां वल्लकीमिव शोचामि तां रशनावतिकाम्।
पद्मप्राभृतक पृ० ३६।

२. क्रमेलकः केलिवनं प्रविश्य निरीक्षते कण्टकजालमेव।
विक्रमांकदेवचरित १.२९।

ग्राम्य कुत्तों के दो भेद किये जा सकते हैं—आबादियों में आवारा घूमने वाले और घरों में पाले जाने वाले। पालतू कुत्तों में से कुछ कुत्ते घरों में न रह सके तथा स्वच्छन्द आवारा होकर गलियों में घूमने वाले हो गये।

कुत्ते में अनेक गुण हैं। इसकी स्वामिभक्ति, स्नेह और बुद्धिमत्ता प्रसिद्ध हैं। स्वामिभक्त कुत्ते स्वामी के वियोग में खाना-पीना तक छोड़ देते हैं और स्वामी के हित के लिये प्राणों तक को निछावर कर देते हैं। प्रशिक्षण पाकर ये अद्‌भुत चमत्कारी हो सकते हैं। कुत्ते की घ्राण शक्ति अति तीव्र होती है, अतः इसको जासूसी के लिये प्रशिक्षित किया जाता है। घर की चौकीदारी, शिकार में साथ देना और जासूसी करना इसके प्रमुख उपयोग हैं। छोटे आकार के सुन्दर कुत्ते मनोविनोद के भी हेतु हैं। वर्तमान समय में अलसेशियन, स्पेनियल, तिब्बती, भोटिया आदि जातियाँ अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं।

संस्कृत नाटकों में घरों के पालतू तथा आवारा घूमने वाले दोनों ही प्रकार के कुत्तों का वर्णन है। घरों में सुरक्षा के हेतु कुत्तों को पाला जाता था। परन्तु इनको बाँध कर रखा जाता था[1], क्योंकि अनेक बार ये आगन्तुक मित्रों को भी काट लेते होंगे।

मृगया के शौकीन व्यक्ति कुत्तों को पालते थे। बड़े आकार के कौलेयक शिकार के लिये विशेष रूप से प्रशिक्षित किये जाते थे। क्षेमीश्वर ने इनका वर्णन किया है। राजा हरिश्चन्द्र ने मृगया के लिये जाने पर आदेश दिया कि श्वगणि (कुत्तों को पालने वाले सेवक) शिकारी कुत्तों को जंजीरें खोल कर वनों में छोड़ दें।[2] छोटे जानवरों को स्वयं मार कर ये कुत्ते शिकारी को स्वामी के लिये दे देते थे। हिंस्र पशुओं को भी ये घेर लेते थे। वनों में शिकारी कुत्तों द्वारा गीदड़ियों का पीछा करने[3] तथा उनको मार डालने[4] के वर्णन हैं।

कुत्ते का उपयोग वध-दण्ड के लिये भी किया जाता था। अति घृणित अपराधियों को आधा भूमि में गाड़ देते थे। इन पर चाण्डालों द्वारा पाले गये भूखे कुत्तों को छोड़ दिया जाता था। वे वध्य को खा जाते थे। 'मृच्छकटिक' में वर्णन है कि लोगों ने दुष्ट शकार को मार डालने के लिये चारुदत्त से पूछा कि क्या इसको कुत्तों को खिला दिया जावे[5]? 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में धीवर को रत्न चुराने के अपराध में वध-दण्ड की सम्भावना होने पर नगर-रक्षक कहते हैं कि यह अब कुत्तों के मुख का शिकार होगा।[6]

---

१. बद्धः कुक्कुरः। मृच्छकटिक १०.५३।
२. मुच्यन्तां शृङ्खलाभ्यः श्वगणिभिरटवीगह्वरे सारमेयाः। चण्डकौशिक २.२।
३. मृच्छकटिक १.२६।
४. मृच्छकटिक १.२८।
५. श्वभिः संखाद्यताम्। मृच्छकटिक १०.५४।
६. शुनो मुखं वा द्रक्ष्यति। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३८५।

गलियों में आवारा स्वच्छन्द घूमने वाले कुत्तों के रोचक वर्णन मिलते हैं। ये मौका पाते ही खाने-पीने की वस्तुओं को उठा ले जाते थे। 'मत्तविलास' में अपने कपाल रूप पात्र के खो जाने पर कापालिक ने यही अनुमान किया कि मांस लगा होने से कोई कुत्ता उसको उठा ले गया होगा।[१] अवसर पाकर ये कुत्ते घरों में घुस जाते थे।[२] इनको रोकने के लिये प्राकार आदि की रचना करनी पड़ती थी।[३] रात्रि में ये मार्गों पर पड़े दृष्टिगोचर हो जाते थे।[४]

कवियों ने कुत्ते के गुण-स्वभाव के भी वर्णन किये हैं। कुत्ता अन्य पशु के बल का अनुमान लगाने में कुशल होता है। वह सोये या जागते व्यक्ति के पराक्रम को जान सकता है।[५] नगरों के कुत्ते अपने निर्धारित क्षेत्र में अन्य कुत्ते या गीदड़ का आना पसन्द नहीं करते। उनके आने पर भौंकते हैं।[६] वे उनका पीछा भी करते हैं।[७]

कुत्तों की कायरता भी अभिव्यक्त की गई है। वे बाहर निकल कर पराक्रम नहीं दिखा सकते, परन्तु घर में आने वाले पर भौंकते हैं तथा काटने का प्रयत्न भी करते हैं, अतः यह कहावत प्रसिद्ध हो गई है कि अपने घर में कुत्ता भी बलवान् होता है।[८]

मनुष्यों के साथ रह कर वनस्पतिज आहार को सीख कर भी कुत्ते को मांसाहार अधिक प्रिय है। इसकी टोह में वे घूमते दिखाई देते हैं।[९] मृतक शवों का मांस खाने के लिये श्मशानों[१०] और युद्ध-क्षेत्रों[११] में घूमते कुत्तों का कवियों ने वर्णन किया है। परन्तु उत्तम जाति के कुत्ते मृतक मांस नहीं खाते। अच्छा भोजन मिलने पर वे उस मांस की ओर देखते भी नहीं।[१२]

कुत्ते को हीन कोटि का तथा चाटुकारिता का प्रतीक भी माना गया था। अतः इस पद के द्वारा गाली भी जाती थी। 'मृच्छकटिक' में राजा के खुशामदी वीरक से चन्दनक कहता है—"जा, राजा के पास जा, न्यायालय में जा। कुत्ते के समान तुझ से मुझको क्या लेना है?"[१३] प्राचीन साहित्य में कुत्ते को क्रूरता का प्रतीक भी माना जाता रहा था। 'ऋग्वेद' में नारी-हृदय को जंगली कुत्ते के समान क्रूर कहा गया है।[१४]

---

१. मत्तविलास पृ० १५। २. चारुदत्त पृ० ९६।
३. प्रतिज्ञायौगन्धरायण पृ० ७२। ४. मृच्छकटिक पृ० १५, ११०।
५. सुप्तासुप्तमनुष्यवीर्यतुलने श्वा। मृच्छकटिक ३.२०।
६. मृच्छकटिक १.५२। ७. चारुदत्त १.१०।
८. स्वके गेहे कुक्करो अपि तावच्चण्डो भवति। मृच्छकटिक पृ० ४४।
९. वेणीसंहार ३.२२।
१०. चण्डकौशिक ४.९। ११. वीणावासवदत्तम् २.२०।
१२. मृच्छकटिक १.२६।
१३. राजकुलमधिकरणं वा व्रज। किं त्वया शुनकसदृशेन। मृच्छकटिक पृ० २६२।
१४ न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।
ऋग्वेद १०.९५.१५।

कुत्ते को शुभ-अशुभ का सूचक माना गया था। कुत्ते का रोना, विशेष रूप से दोपहर में, अशुभ का सूचक है।[१]

कुत्ते में देवत्व की कल्पना भी की गई है। यह कालभैरव का वाहन है। 'महाभारत' की एक कथा के अनुसार युधिष्ठिर के साथ एक कुत्ता स्वर्ग गया था। बौद्ध साहित्य में बोधिसत्व का कुत्ते के रूप में जन्म लेने का वर्णन है। 'ऋग्वेद' में वर्णन है कि इन्द्र ने सरमा नाम की कुत्ती को अपना गुप्तचर बना कर पणियों के पास भेजा था।[२]

६. गण्डक (गैंडा)—

संस्कृत नाम—गण्डक, खड्ग, खड्गी।

हिन्दी नाम—गैंडा।

अंग्रेजी नाम—Rhinoceros।

लैटिन नाम—Rhinoceros indicus।

गैंडा भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध पशु है। परन्तु अधिक शिकार होने से इसकी संख्या बहुत कम रह गई है। प्राचीन साहित्य के अनुसार विन्ध्य और हिमालय के वन गैंडों से भरे हुये थे। वर्तमान समय में ये आसाम और नेपाल की तराई के वनों में ही मिलते हैं। गैंडों के दो प्रकार हैं—थूंथन पर एक सींग वाले और दो सींग वाले।

गैंडा लम्बा-चौड़ा, ५–६ फीट ऊँचा एवं १०–१०.५ फीट लम्बा पशु है। इसके थूंथन पर एक फीट लम्बा सींग होता है। यह कड़े बालों का बना होता है, परन्तु इतना तेज और कठोर होता है कि अपने शिकार को चीर-फाड़ डालता है। टूट जाने पर यह सींग पुनः उग आता है। गैंडे की खाल गहरी सलेटी बहुत मोटी होती है। इससे उसका शरीर ढालों से ढका हुआ सा प्रतीत होता है। इसका सिर बड़ा और आँखें छोटी होती हैं।

गैंडा शाकाहारी और शान्त स्वभाव का पशु है। परन्तु छेड़े जाने पर भयानक हमला करता है। भारी-भरकम होने पर भी यह तेजी से भाग सकता है। गैंडे की आयु लगभग १०० वर्ष होती है। मादा गैंडा १७–१८ महीनों में एक बच्चा जनती है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में गैंडे के शिकार के प्रचुर वर्णन हैं। परन्तु संस्कृत नाटकों में इस रूप में वर्णन नहीं हैं। गैंडे के मांस को पवित्र माना गया था। भास ने श्राद्ध में परोसे जाने वाले पशुओं के मांस में गौ और गैंडे के मांस को अच्छा बताया है।[३]

---

१. हनूमन्नाटक ३.२। २. ऋग्वेद-दशम मण्डल १०८ सूक्त।
३. पशुषु गौः खड्गो वा। प्रतिमानाटक पृ० १३६।

गैंडे का उपमान के रूप में भी प्रयोग हुआ है। राजशेखर ने उकडू बैठे व्यक्ति की उपमा गैंडे से दी है।[1]

७. गर्दभ (गधा)—

संस्कृत नाम—गर्दभ, रासभ, खर, चक्रीवान्, बालेय, वैशाखनन्दन ।

हिन्दी नाम—गदहा, गधा ।

अंग्रेजी नाम—Ass

लैटिन नाम—Equus asinus

गधा एक परिचित पालतू पशु है। परिश्रमी, सरल तथा सहनशील स्वभाव के इस पशु को बोझा ढोने के निमित्त पाला जाता है। कुम्हार, धोबी, आदि इसको अधिक पालते हैं। गधे और घोड़े के संयोग से खच्चर उत्पन्न होता है। यह बोझा ढोने तथा गाड़ी खींचने में अधिक समर्थ है।

गधा सामान्यतः तीन फीट ऊँचा और ४-४.५ फीट लम्बा होता है। कान विशेष रूप से लम्बे तथा आगे को झुके होते हैं। शाकाहारी इस पशु का मुख्य भोजन घास-पात है। गधी ११ महीने में एक बच्चा जनती है। जंगली गधे भी मिलते हैं। इनको गोरखर (Wild Ass) कहा जाता है।

गधे का उल्लेख नाटकों में मुख्य रूप से बोझा ढोने[2] या गाड़ियाँ खींचने के लिये हुआ है। कवियों के वर्णनों के अनुसार आबादियों में गधे मार्गों में स्वतन्त्र घूमते देखे जाते थे।[3] उनको बांधकर भी रखा जाता था। परन्तु छूटते ही वे तीव्र प्रहार करते हैं। गधों की पिटाई का भी वर्णन हुआ है। पीटे जाने पर वह भूमि पर लोटने लगता है।[4]

गधे को निरीहता, मूर्खता और मूकता का प्रतीक समझा गया था। अरसिक मनुष्य की उपमा गधे से दी गई है।[5] गधे के स्वर के कर्कश और कर्णकटु होने से कर्कश ध्वनि को गधे के स्वर के समान कहा गया है।[6]

८. गवय—

संस्कृत नाम—गवय, गवालूक, वनगौ ।

हिन्दी नाम—गयाल ।

अंग्रेजी नाम—Gayal

लैटिन नाम—Bos gaurus

---

१. विद्धसालभञ्जिका पृ० ४९ ।

२. चारुदत्त पृ० ८९ ।

३. उद्दाम इव गर्दभः । मृच्छकटिक १०.४४ ।

४. भूम्यामेव मया ताडितगर्दभेनेव पुनरपि लोठितव्यम् । मृच्छकटिक पृ० १२ ।

५. पादताडित श्लोक ३१ ।

६ कौमुदीमहोत्सव पृ० २० ।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में वर्णित गवय को गयाल ही माना जा सकता है। यह गो के समान होता है। महाभाष्यकार का यह कथन है कि गवय गो के समान है[1], गयाल पर चरितार्थ होता है।

गयाल सामान्यतः आरण्य पशु है। परन्तु यह बहुत सीधा होता है। वनों के समीपस्थ जन आवश्यकतानुसार इस पशु को पकड़ लाते हैं तथा काम में लाते हैं। यद्यपि यह कृषि के लिये अधिक उपयोगी नहीं है, तथापि दूध और मांस की आवश्यकता को पूरा कर देता है। वर्तमान समय में गयाल पशु त्रिपुरा और आसाम के पर्वतीय वनों में उपलब्ध है। परन्तु प्राचीन समय में अन्य अनेक वनों में भी बहुत संख्या में था।

संस्कृत नाटकों में गवय का वर्णन कम ही है। 'हनूमन्नाटक' में श्वेत वर्ण के गवय की उपस्थिति दक्षिण वनों में वर्णित है।[2]

९. गोलाङ्गूल (लंगूर)—

संस्कृत नाम—गोलाङ्गूल, लङ्गूलिन्।

हिन्दी नाम—लङगूर।

अंग्रेजी नाम—Langur

लैटिन नाम—Presbytis entillus

काला मुख, भूरा-सलेटी शरीर और लम्बी पूंछ वाले लंगूर को लम्बी-लम्बी कुलाचे भरते हुये वनों में देखा जा सकता है। इसकी आकृति यद्यपि कुछ-कुछ बन्दर के समान है, तथापि यह इससे अधिक बड़ा और शक्तिशाली होता है। 'रामायण' की कथा के अनुसार राम की सेना में लंगूर भी थे। धार्मिक विश्वासों के कारण हिन्दू इसको मारना पसन्द नहीं करते।

लंगूर मुख्य रूप से फल-फूल का भोजन करता है। परन्तु मौका पड़ने पर कीड़े-मकौड़े और अण्डों को भी खा जाता है। मादा लंगूर लगभग ६ महीने में एक बार में एक बच्चा जनती है। यह बड़ा होने तक माँ के पेट से चिपका रहता है।

लंगूर आरण्य ही जन्तु है, जिसको पालतू बनाने के वर्णन प्राप्त नहीं होते। नाहीं यह आबादियों में घूमते देखा जाता है। राजशेखर ने इस पशु का वर्णन विन्ध्यारण्य में[3] और दामोदर मिश्र ने दक्षिण वनों में किया है[4]। हिमालय के वनों

---

१. गौरिव गवयः। यस्य गवयो निर्ज्ञातः स्याद् गौरनिर्ज्ञातः तेन कर्तव्यं स्याद् गवय इह गौरिति। पाणिनीय अष्टाध्यायी २.१.५५ पर महाभाष्य।

२. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०।

३. बालरामायण ४.४५।

४. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०।

में भी ये प्रचुर होते हैं। भवभूति लंगूर के प्रणय-विलासों का वर्णन करते हैं। दक्षिण अरण्य में एक लंगूर अपनी प्रिया के कपोलों पर पुष्पों का पराग लगा रहा था[१]।

१०. गो—

गो पशु के मुख्य रूप से दो भेद किये जाते हैं—मादा और नर। मादा गो हिन्दी में गाय नाम से प्रसिद्ध है, जो माता के समान आदरणीय और अवध्य मानी जाती है। नर गो दो प्रकार का है—बैल और साँड। बछड़े का जन्म होने पर उसके अण्डकोशों को दबा कर शक्तिहीन कर दिया जाता है (खस्सी करना)। इसमें सन्तान के उत्पादन की क्षमता नहीं रहती। यह बैल कहलाता है। यह कृषि आदि कार्यों में उपयोगी है। खस्सी न किया गया नर गो साँड कहलाता है। यह वीर्यवान् तथा सन्तान उत्पादन की क्षमता रखने वाला होता है। साँड को बलीवर्द तथा बैल को वृषभ नाम से प्रस्तुत किया गया है। गाय, साँड तथा बैल के एक जाति का होने पर भी प्रयोजन की भिन्नता के कारण एक शीर्षक में कह कर भी अलग वर्णन किया गया है।

(क) गो (गाय)—

संस्कृत नाम—गो, धेनु, माहेयी, सौरभेयी, उग्रा, माता, शृङ्गिणी, अर्जुनी, अघ्न्या, रोहिणी, भद्रा।

हिन्दी नाम—गाय।

अंग्रेजी नाम—Cow

लैटिन नाम—Bos indicus

गौ एक अति परिचित पालतू पशु है। इसके दो मुख्य भेद मिलते हैं—कूबड़ वाली भारतीय और बिना कूबड़ वाली योरोपीय। विविध रंग की गौओं के सिर पर दोनों ओर अर्धचन्द्राकार सींग होते हैं। यह सीधा पशु मानव जाति के लिये अति हितकर है। भारतवर्ष में गौ की अनेक जातियाँ—साहीवाल, हरियाणा, थारपरकर, कनकथा, गंगातीरी, सिन्धी, खैरागढ, पवार आदि मिलती हैं।

भारतीय ऋषियों और मनीषियों ने गौ को अति आदरणीय पशु माना था। गौवों का पालन आर्यों का परम धर्म रहा संस्कृत नाटककारों ने गोवंश की वृद्धि की कामना की है[२]। गोपालन के सम्बन्ध में संस्कृत कवियों ने विशद जानकारी दी है। राजाओं के पास प्रचुर संख्या में गौवें होती थीं और वे विशाल गोशालाओं की रचना करवाते थे। गौवों की सेवा और सुरक्षा के लिये गोरक्षकों की नियुक्ति की जाती थी[३]। इनके पृथक् ग्राम बस जाते थे। भास ने गोवों के बालकों (गोपदारकों) और

---

१. गोलाङ्गूलः कपोलं पुरयति रजसा कौसुमेन प्रियायाः। मालतीमाधव ९.३०।
२. सकलं वर्धतां गोकुलं च। कुन्दमाला ६.४५।
३. प्रतिमानाटक ३.२३।

बालिकाओं (गोपदरिकाओं) का विस्तृत उल्लेख किया है। कुलशेखर वर्मन् के अनुसार गौओं को चराने के लिये गोरक्षक हरी-भरी घास वाली खुली भूमि पर ले जाते थे[१]।

भास ने गोपों के विविध व्यवहारों का वर्णन किया है। ये गोप ग्रामों में स्वतन्त्र रूप से या राजसेवकों के रूप में गो-पालन में संलग्न रहते थे। गौवों की समृद्धि के लिये वर्ष में एक बार वर्षवर्द्धन उत्सव मानते थे, जिसमें गोदान की अनिवार्य परम्परा थी[२]। गोपों का आराध्य धन और सुख का हेतु गौये ही थीं। परस्पर मिलने पर वे दूसरों से गौ की कुशल पूछते थे तथा अन्य जन भी इसी विषय में कुशल प्रश्न करते थे[३]।

गौवों के स्वतन्त्र विचरण करने के अनेक वर्णन नाटकों में है। नगरों में स्वतन्त्र विचरण करती गौवों को कोई रोकता-टोकता नहीं था। नगरनिवासी इनको घास तथा अन्य पदार्थ खिला कर तृप्ति का अनुभव करते थे[४]।

गोपालन तथा वन में गौवों को चराना राजाओं के लिये पुण्यप्रद था। वे सभी कामनाओं को पूरा करती हैं। दिलीप ने नन्दिनी की सेवा करके पुत्र पाया[५]। संस्कृत नाटकों में गौवों के वनों में चरने के सुन्दर दृश्य हैं। गौवें वनों में चरने जाती हैं। मध्याह्न वेला की तीव्र धूप में चरना छोड़ कर वृक्षों की छाया में सो जाती है[६]। वनों में चर कर तथा जल पीकर वे हुम्मारव करती हुई वापिस लौटती हैं[७]। उस समय इनके लिये शान्ति की कामना की जाती है[८]।

गौवों का होना तथा दर्शन शुभ माना गया। कपिला गौ सर्वोत्तम थी[९]। बछड़े से युक्त गौ (अहीनवत्सा) का दर्शन कल्याणकारी था[१०]। विदा होते समय सवत्सा गौ की परिक्रमा करके प्रस्थान करना मंगलदायक समझा गया था[११]। दिलीप ने सवत्सा नन्दिनी की परिक्रमा करके वशिष्ठ के आश्रम से प्रस्थान किया था[१२]।

गोपालन का मुख्य उद्देश्य दूध प्राप्त करना था। उत्तम जाति की गौवें अमृत के समान मधुर दूध प्रचुर मात्रा में देती हैं और अपने बछड़ों के साथ सन्तुष्ट रहती

---

१. सुभद्राधनञ्जय पृ० १२७—११८। २. पञ्चरात्र पृ० ५१।
३. अपि भवतीभ्यो गोभ्यः कुशलम्। बालचरितम् पृ० १७।
४. मत्तविलास श्लोक १४। ५. रघुवंश द्वितीय सर्ग।
६. छायासु प्रतिमुक्तशष्पकवलं निद्रायते गोकुलम्। मृच्छकटिक ८.११।
७. बालचरितम् पृ० ५१।
८. शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवत्वस्माकं गोधनस्य। बालचरितम् पृ० ५२।
९. स्वप्नवासवदत्तम् १.१२। १०. पञ्चरात्र पृ० ५१।
११. सुभद्राधनञ्जय १.६।
१२. धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः। रघुवंश २.७१।

है[1]। यज्ञों के लिये उपयोगी घी-दूध के लिये गौवें पलती थीं। ऐसी गौ को होमधेनु कहा गया है। राजकीय यज्ञशाला में होमधेनु अवश्य रहती थी[2]। धार्मिक वृत्ति के जन इनको अपने पास सदा रखते थे। राम के वनों में जाने पर अनेक प्रजाजन अपनी होमधेनुओं को लेकर उनके पीछे-पीछे गये थे[3]।

यज्ञों का सम्पादन अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य होने से आर्य जन गौ को अवश्य पालते थे। वे गोबर से कुटीरों के आंगन लीपते थे[4]। कालिदास का कथन है कि गौ का दूध प्रथम उसके बछड़े को मिलना चाहिये, तदनन्तर उससे यज्ञ के कार्य निष्पन्न होने चाहियें और उसके बाद अवशिष्ट दूध को पीना चाहिये। सिंह द्वारा नन्दिनी को पकड़ लेने पर दिलीप सिंह से कहते हैं कि वह उसको छोड़ दे, तभी वसिष्ठ मुनि के यज्ञ कार्य विलुप्त नहीं होंगे[5]। तदनन्तर वह नन्दिनी से कहता है कि गुरु की अनुमति लेकर तुम्हारा दूध तभी पिऊँगा, जबकि तुम बछड़े को दूध पिला चुकी होगी और होम आदि निष्पन्न हो चुके होंगे[6]।

गोदान एक धार्मिक कृत्य था। विभिन्न अवसरों पर, विशेष रूप से श्राद्ध के समय गोदान को अनिवार्य कहा गया है[7]।

गौवें परम धन थीं और समृद्धि का प्रतीक थीं। जिसके पास जितनी अधिक गौवें होती थीं, वह उतना ही अधिक समृद्ध समझा जाता था। समृद्ध जन ऐश्वर्य का प्रदर्शन करने के लिये गौओं के सींगों पर स्वर्ण मढवा देते थे[8]। कवियों ने प्रचुर दूध देने वाली गौवों की कामना की है[9]।

गौवों की चोरी और लूट के वर्णन भी मिलते हैं। वैर का बदला लेने के लिये विरोधी साजाओं की गौवों को लूटा जा सकता था। भीष्म के कहने पर कि विराट के साथ उनका गुप्त वैर है, दुर्योधन ने विराट की गौवों को लूटने का यत्न किया[10]।

भारतीय जनों ने गौ को सदा से पूजनीय और आदरणीय माना है। अमृत

---

१. कर्णभार १.४४।
२. सन्निहितहोमधेनुरग्निशाला। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३४१।
३. प्राक्प्रस्थापितहोमधेनत्र इमे धावन्ति वृद्धा अपि। महावीरचरित ४.५७।
४. तापसवत्सराज ३.६। ५. भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः। रघुवंश २.५५।
६. रघुवंश २.६६। ७. प्रतिमानाटक पृ० १३६।
८. कर्णभार १.१८।
९. क्षीरिण्यः सन्तु गावः। मृच्छकटिक १०.६१।
सुरभिदुहितरो भूरिदोहा भवन्तु। मत्तविलास श्लोक २३।
१० पञ्चरात्र पृ० ४७।

से भरी जगत् की माता गौ को सादर प्रणाम करना चाहिये[1]। सभी जनों का तथा राजाओं का भी कर्तव्य था कि गौवों की रक्षा तथा कल्याण हो, उनको कोई दुःख न हो[2] तथा उनकी इच्छा का उल्लंघन न हो[3]। राज्य गौवों की रक्षा करता था[4]। वीर पुरुष रणक्षेत्र में उनके लिये प्राणों का परित्याग करने में भी संकोच नहीं करते[5]। गौवों का अंग-भंग करना[6] तथा वध करना[7] महान् पाप था।

गौ और ब्राह्मण के प्रति पुण्य भावना समान थी तथा दोनों के कल्याण की कामना की गई थी।[8] गौ को सताने वाला दण्डनीय था। कालिय नाग का दमन करके कृष्ण उसको आदेश देते हैं कि आज से तुम गौ और ब्राह्मणों के प्रति कभी प्रमाद मत करना[9]। बलराम कृष्ण से कहते हैं कि कालिय का दमन करके तुमने गौ-ब्राह्मण का हित किया है[10]। कालिय के उपद्रवों के विषय में सुनकर कृष्ण ने तत्काल उसको दण्ड देने का निर्णय किया था[11]।

गौवों को अघ्न्या (अवध्या) कहा गया है। तथापि प्राचीन साहित्य में कहीं-कहीं गोवध तथा गोमेध के संकेत मिलते हैं। संस्कृत नाटकों में भी इसका प्रतिबिम्ब है।

प्राचीन धार्मिक साहित्य में गोमेध यज्ञ के उल्लेख से कुछ समालोचकों का अनुमान है कि इस यज्ञ में गौ का वध करके उसके मांस की आहुति दी जाती थी। परन्तु अन्य विद्वान् "मेध" धातु का अर्थ पूजा करते हैं तथा गौमेध यज्ञ में गौ के पूजन का विधान करते हैं। मीमांसा दर्शन के "गौरनुबन्ध्यः" का अर्थ "यज्ञ में गौ का वध करना चाहिये", करके कुछ समालोचकों ने गोमांस की आहुति को उचित बताया है। परन्तु यह अर्थ समुचित नहीं है। इसका अभिप्राय यही है कि दूध आदि की प्राप्ति के लिये होमधेनुओं को यज्ञशाला के समीप बाँधना चाहिये।

---

१. अनुदितमात्रे सूर्ये सर्वादरेण शीर्षेण। नित्यं जगन्मातॄणां गवाममृतपूर्णानाम्। बालचरितम् ३.१।
२. भवन्त्वरजसो गावः। अभिषेकनाटक ६.३५, अविकारक ६.२२।
३. मृच्छकटिक पृ० १२४।
४. कर्णभार पृ० १३।
५. रणशिरसि गवार्थे नास्ति मोघः प्रयत्नः।
निधनमपि यशः स्यान्मोक्षयित्वा तु धर्मः। पञ्चरात्र २.५।
६. चारुदत्त पृ० ७६।
७. हनूमन्नाटक १.३६।
८. गोब्राह्मणानां हितमस्तु नित्यम्। अविमारक ६.२१।
९. अद्य प्रभृति गोब्राह्मणपुरोगासु सर्वप्रजास्वप्रमादः कर्तव्यः।
बालचरितम् पृ० ८१।
१० दिष्ट्या गोब्राह्मणहितं कृतम्। बालचरितम् पृ० ८२।
११. गोब्राह्मणादयस्तेन सुजूष्यन्ते किल प्रजाः।
अद्य प्रभृति शान्तात्मा निष्प्रभः स भविष्यति। बालचरित ३.१६।

प्राचीन समय में गौ के प्रति आदरणीय भाव होने तथा इसको अघ्न्या मानने के कारण यज्ञों में गौ के वध की कल्पना असम्भव है। तो भी यज्ञीय कर्मकाण्डों के विकृत होने पर इसमें पशुओं की और गौवों की आहुतियाँ दी जाने लगीं। तब गोमेध यज्ञ के सम्पादन में गोवध का प्रचलित हो जाना आश्चर्यजनक नहीं है। कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में पशुवध रूप कठोर कार्य करने वाले श्रोत्रिय को भी अनुकम्पा भाव से मृदु कहा है[१]। विमान से अयोध्या लौटने पर राम ने सीता के लिये यज्ञीय यूपों को सरयू के तट पर गड़ा हुआ दिखाया था[२]। यूप, यज्ञ में पशु के वध के लिये प्रयुक्त काष्ठ का स्तम्भ होता है। राजा रन्तिदेव ने यज्ञ में गौवों को कटवाया था, जिनके रक्त से चर्मण्वती नदी बनी[३]।

संस्कृत नाटककारों के समय पशुबलि प्रचलित और मान्य हो चली थी। विशेष अवसरों पर अतिथि-सत्कार के लिये बछड़ी का मांस परोसा जाता था। 'चण्डकौशिक' में कात्यायनी के मन्दिर में गौओं और भैंसों की बलि देने का संकेत है[४]। वाल्मीकि के आश्रम में वसिष्ठ का सत्कार गोमांस द्वारा करने का वर्णन[५], मुरारि[६] और राजशेखर ने[७] किया है। भास का कथन है कि श्राद्ध के अवसर पर गौ अथवा गैंडे का मांस देना सर्वोतम है।[८]

परन्तु कवियों के वर्णन अपने समय में तथा प्राचीन साहित्य में यज्ञों की परम्परा देख कर किये गये होंगे। वस्तुत: उनके विचार में गौ का माँस खाना राक्षसी कार्य ही था। वसिष्ट आदि के लिये वत्सतरी के वध के समाचार को जान कर वाल्मीकि के शिष्यों ने इनको बाघ ही मान लिया था[९]। मुरारि ने माँसाहार को राक्षसी आहार कहा है[१०]। तन्त्रशास्त्रों तक ने गौ आदि पशुओं के वध का निषेध किया है[११]।

प्राचीन मनीषियों ने गौ में देवत्व की भी कल्पना की थी। देव-दानवों द्वारा समुद्र का मन्थन करने से कामधेनु निकली थी, जिसको ऋषियों के यज्ञों के निमित्त दे दिया गया था। राजशेखर इसको सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाला

---

१. पशुमारणकर्मदारुण: अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः। अभिज्ञानशाकुन्तल ६.१।

२. जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनुराजधानीम्। रघुवंश १३.६१।

३. व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजामानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्। पूर्वमेघ श्लोक ४९।

४. चण्डकौशिक ४.१२।

५. उत्तररामचरित पृ० २८५

६. अनर्घराघव २.१४।

७. बालरामायण १.८।

८. पशुषु गौ: खड्गो वा। प्रतिमानाटक पृ० १३६।

९. उत्तररामचरित पृ० २८४।

१०. अनर्घराघव ११.१७।

११. अश्वालम्भं गवालम्भं सन्यासं पलपैत्रिकम्।
देवरात् सह सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्। कुलार्णवतन्त्र।

कहते हैं[1]। कामधेनु की अवहेलना से दिलीप को पुत्र न होने का शाप मिला। परन्तु उसी की पुत्री नन्दिनी की सेवा करके दिलीप ने मनोवाञ्छित पुत्र पाया[2]। पुराणों के अनुसार मृत्यु के पश्चात् गौ ही वैतरिणी से पार कराने वाली है, जो कि गोदान के पुण्य से प्राप्त होती है। अतः गोदान का हिन्दू धर्म में बहुत महत्व माना गया है।

(ख) बलीवर्द (सांड)—

संस्कृत नाम—उक्षा, भद्र, बलीवर्द, ऋषभ, वृषभ, वृष, अनड्वान्, सौरभेय, गौ, वृषणाश्व, गोपति।

हिन्दी नाम—सांड

अंग्रेजी नाम—Bull

लैटिन नाम—**Bos indicus**

गौ की नर सन्तति बैल (वृषभ) या सांड (बलीवर्द) है। दोनों एक से ही है, अतः संस्कृत में इनके लिये एक से ही पदों का प्रयोग हुआ है। दोनों में प्रजनन की सामर्थ्य का अन्तर है। शैशव अवस्था में बछड़े के अण्डकोशों को शक्तिहीन करके प्रजनन की सामर्थ्य से रहित कर देने पर बैल होता है। अण्डकोशों के शक्तिसम्पन्न रहने पर सांड बनते हैं। इनमें प्रजनन की सामर्थ्य होती है। सांड के अति उच्छृंखलित तथा शक्तिशाली होने से इसका घरेलू उपयोग नहीं होने पाता। घरेलू उपयोग के के लिये बैलों को तैयार किया जाता है।

इस प्रकरण में यहाँ पहले सांड का वर्णन किया गया है तथा इसके लिये नाटकों में प्रायः बलीवर्द पद आया है, अतः बलीवर्द को सांड के रूप में वर्णन किया है। वृषभ पद का प्रयोग प्रायः बैल के अर्थ में है, अतः उसका वर्णन भी इसी रूप में यहाँ है।

गोपालन के लिये साँड अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि इनके द्वारा ही गर्भिणी होकर गौवें वंश की वृद्धि कर सकती हैं। वर्तमान समय में इस प्रकार के सांड नगरों और ग्रामों में खुले घूमते दृष्टिगोचर होते हैं। वे कभी-कभी बड़ा उपद्रव भी उपस्थित कर देते हैं। प्राचीन समय में भी सांडों के खुला छोड़ देने के वर्णन मिलते हैं। वे नगरों के बाजारों में जुगाली करते हुये स्वतन्त्र घूमते थे[3]। इस प्रकार के सांडों को विपणिवृष भी कहा गया है[4]। वे जहाँ इच्छा होती थी, चौराहों पर बैठ जाते थे[5]। तीखे सींगों वाले इन दुष्ट सांडों से सब डरते थे तथा देखकर दूर से ही हट जाते थे।

---

१. अभीष्टदोहिनी। बालरामायण १.६।

२. रघुवंश—द्वितीय सर्ग।

३. नगरचत्वरवृषभ इव रोमन्थायमानः। मृच्छकटिक पृ० १४।

४. पादताडिक श्लोक २५। ५. मृच्छकटिक पृ० ११।

कवियों ने स्वच्छन्द घूमते उद्दण्ड लोगों की उपमा सांडों से दी है। समुद्र-गृह के द्वार पर सोये उच्छृंखल विदूषक को निपुणिका दासी बाजार के सांड के समान बताती है[1]। दुष्ट उच्छृंखल शकार को आते देखकर चेट कहता है कि हटो, मार्ग दो, द्वार बन्द कर लो, चुप हो जाओ, अविनयरूपी तीक्ष्ण सींगों वाला दुष्ट सांड इधर ही आ रहा है[2]।

कवियों ने साँड या बैल के परिवार की भी कल्पना की है। इसमें वृषभ पिता के रूप में, गौ माता के रूप में तथा बछड़ा सन्तान के रूप में होते हैं[3]।

(ग) वृषभ (बैल)—

संस्कृत नाम—भद्र, वृषभ, वृष, अनड्वान्, सौरभेय, गो, धुर्य, धूर्वह, बलद, उक्षा, ककुद्मान्।

हिन्दी नाम—बैल।

अंग्रेजी नाम—Ox.

लैटिन नाम—**Bos indicus.**

गौ और सांड (बलीवर्द) का उल्लेख किया जा चुका है। बछड़े की पौरुष ग्रन्थियों को शक्तिहीन कर देने पर यह बैल होता है। बैल भारतीय अर्थ-व्यवस्था में अति महत्वपूर्ण है। इसके दो प्रमुख उपयोग रहे—कृषि और वाहन।

कृषि के लिये वृषभ की उपयोगिता अति प्राचीन काल में मान्य हो चुकी थी। हल जोतने के लिये मुख्य रूप से इसी का उपयोग था। इसको वश में रखने के लिये नाक को मध्य में वेध कर नकेल (रस्सी) पहना कर[4] सरलता से हल में जोता जा सकता था।[5] शूद्रक ने इस दृश्य का मनोरञ्जक वर्णन किया है कि खेती का कार्य कराते हुये कृषक को यह ध्यान रखना चाहिये कि वे बैल धान्यों को भी न खा डालें। ऐसे समय उसको रोका नहीं जा सकता।[6]

वाहन के रूप में बैलों का प्रचुर प्रयोग था। सामान्यतः नागरिकों के रथों और गाड़ियों को बैल ही खींचते थे।[7] बैलों से खींचे जाने वाले वाहन—प्रवहण, शकट, रथ आदि थे। शौकीन लोग उत्तम जाति के बैल पालते थे और इनको खूब

---

१. विपणिगत इव बलीवर्द आर्यगौतम आसीन इव निद्रायते।
मालविकाग्निमित्र पृ० ११०।

२. अपसरत, दत्त मार्गं, द्वारं पिधत्त भवत तूष्णीकाः।
अविनयतीक्ष्णविषाणो दुष्टबलीवर्द इत एति। मृच्छकटिक १०.३०।

३. मध्यमव्यायोग १.३।

४. विद्धसालभञ्जिका १.३।

५. कर्पूरमञ्जरी पृ० ४१।

६. सस्यलम्पटबलीवर्दो न शक्यते वारयितुम्। मृच्छकटिक ३.३।

७. चारुदत्त पृ० ४७।

घास, भूसा, दाना आदि खिलाते थे। सींगों को तेल मल कर चिकना किया जाता था[1]। अच्छे बैल आँधी-पानी की परवाह न करके खूब मजे में चलते रहते थे[2]। पालतू बैलों की नाक बींध कर उनमें नकेल डाल कर नियन्त्रित किया जाता था[3]। 'मृच्छकटिक' में बैलों से खींचे जाने वाले प्रवहणों का मनोरंजक वर्णन है। कभी-कभी मार्गों पर अनेक प्रवहणों की भीड़ हो जाती थी और मार्ग पाना कठिन होता था।

बैलों की पीठ पर आरूढ होकर सवारी करने के दृश्य नहीं हैं। तथापि शिव के वाहन के रूप में नन्दी वृषभ की कल्पना करने से इस प्रकार के वाहनत्व की अभि-व्यञ्जना होती है[4]। अनेक संस्कृत लोक-कथाओं में बैल की पीठ पर आरूढ होकर यात्रा करने के विवरण हैं। आज भी भारतीय ग्रामों में इस प्रकार के दृश्य देखने को मिल जाते हैं, तथापि इस प्रकार की घटनायें कम ही हैं। वाहन के रूप में बैल का उपयोग प्रायः गाड़ियाँ खींचने के लिये ही है।

वृषभ को सौन्दर्य और शक्ति का प्रतीक भी समझा गया था। संस्कृत नाटकों में सुन्दर और शक्तिशाली युवक की उपमा वृषभ (उक्षा) से दी गई है[5]। समर्थ मनुष्य के कन्धों का सादृश्य बैल के कन्धों से है[6]।

वृषभ में देवत्व की कल्पना भी की गई थी। शिव का वाहन नन्दी नाम का वृषभ है। यह उनका द्वारपाल भी है। शिववाहन नन्दी के कैलास पर्वत पर क्रीडा करने का वर्णन हुआ है[7]। संस्कृत कवियों ने वृषभारूढ शिव के स्वरूप का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है[8]। शिवमन्दिरों में लिंगरूप या मनुष्यरूप शिव-मूर्तियों के साथ ही नन्दी की मूर्ति भी अवश्य होती है।

११. भल्लूक (भालू)—

संस्कृत नाम—ऋक्ष, भल्लूक, अच्छभल्ल, भालूक, भल्ल।

हिन्दी नाम—भालू, रीछ।

अंग्रेजी नाम—Bear।

लैटिन नाम—**Ursus arctos** (Brown-bear)।
Melursus Ursinus (Sloth-bear)।
Selenarctos thibetanus (Himalayan black-bear)।

---

१. तैलाभ्यक्तविषाणा बलीवर्दाः। मृच्छकटिक पृ० २४०।
२. मध्यमव्यायोग १.४८।
३. नासिकारज्जुकटुका बलीवर्दाः। मृच्छकटिक पृ० २४०।
गामिव नासिकां विद्ध्वा। मृच्छकटिक पृ० २७८।
४. विद्धसालभञ्जिका १.३ कौमुदीमहोत्सव १.७।
५. कौमुदीमहोत्सव पृ० २३। ६. उत्तररामचरित ६.१५।
७. उत्तरमेघ श्लोक ५६।
८. विद्धसालभञ्जिका १.३, बालभारत २.३, कौमुदीमहोत्सव १.७।

नगरों में मदारी को भालू का खेल दिखाते हुये प्रायः देखा जाता है। इस जंगली पशु को मानव ने पाल कर खिलौना बना लिया है। भारतवर्ष में प्रायः सभी क्षेत्रों में यह मिलता है। इन भालुओं के तीन भेद है—

(क) **भूरा भालू** (Brown bear)—२ से २.५ फीट ऊंचा और ५ से ५.५ फीट लम्बा यह भूरे लाल रंग का भालू ऊँचे हिमालय के बर्फीले प्रदेशों में होता है। बाल लम्बे मोटे तथा कोमल होते हैं। वक्ष पर V का निशान रहता है। सीधे स्वभाव का यह पशु आक्रमण होने पर बच निकलना पसन्द करता है। सरदियों में किसी गुफा में सोकर यह वसन्त में उठता है और भोजन की खोज में उपद्रव मचाता है। इससे पूर्व यह मादा भालू को गर्भिणी कर देता है, जो अप्रैल-मई के लगभग दो बच्चे जनती हैं। सामान्यतः शाकाहारी होने पर भी भूख लगने पर कीड़े-मकोड़ों को और छोटे शिकार को खा जाता है।

(ख) **रीछ** (Sloth bear)—यह वही भालू है, जिसको पकड़ कर मदारी खेल दिखाते हैं। शरीर पर काले-लम्बे बाल तथा वक्ष पर V का निशान होता है। आकार में अन्य भालुओं से छोटा होने पर भी यह उत्पाती बहुत है। मनुष्य पर अचानक आक्रमण कर सकता है, परन्तु अधिक शक्तिशाली नहीं है। यह १२ महीनों घूमता रहता है। इसको फल-फूल और शहद पसन्द है। कीड़ों-मकौड़ों को, विशेष रूप से दीमक को बहुत पसन्द करता है। कभी भूख लगने पर मांस भी खा जाता है। मादा भालू सरदियों में दो बच्चे जनती है।

(ग) **काला भालू** (Himalayan black-bear)—लगभग ५ फीट लम्बा यह सारे हिमालय के क्षेत्र में मिलता है। शरीर पर लम्बे काले कोमल बाल तथा वक्ष पर V का निशान होता है। आबादियों के समीप रह कर यह बहुत उत्पात मचाता है। यह बहुत चालाक है और पेड़ पर भी चढ़ जाता है। यह भालू दिन में अपनी मांद में पड़ा रहता है तथा रात्रि में भोजन की खोज में निकलता है। इसको फल, फूल और शहद अधिक पसन्द है। कभी-कभी मांस भी खा लेता है। मादा भालू मार्च में लगभग दो बच्चे जनती है।

संस्कृत कवियों ने हिमालय और विन्ध्य के वनों में भालुओं की उपस्थिति का वर्णन किया है।[१] इनकी थूत्कार से युक्त गर्जनाओं से पर्वतों की गुफायें गूंजने लगती थीं,[२] जिनकी प्रतिध्वनियाँ चारों ओर फैल जाती थीं।[३] युवा भालुओं की गुफाओं में होने वाली अम्बूकृत ध्वनियाँ प्रतिध्वनित होकर चारों ओर फैल जाती हैं।[४]

---

१. अनर्घराघव ५.२०। २. उत्तररामचरित २.२१।
३. महावीरचरित ५.४१।
४. दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना–
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि। मालतीमाधव ९.६६।

भालुओं का शिकार करना साहसिक शिकारियों को अति प्रिय था, परन्तु अनेक बार शिकारी स्वयं भी उनकी पकड़ में आ जाते थे। तब भालू उनकी सबसे पहले नाक चबाते थे। दुष्यन्त के मृगयाप्रेम से पीड़ित विदूषक सेनापति से कहता है कि तुम मनुष्य की नासिका के लोभी बूढ़े रीछ के मुख में पड़ोगे।[1]

महिष

महिष दो प्रकार का है—ग्राम्य (पालतू) और वन्य (जंगली)। कभी अति प्राचीन समय में महिष वन्य ही होते थे। मनुष्यों ने कुछ महिषों को पालतू बना लिया। पालतू महिष मादाओं से वे दूध प्राप्त करने लगे तथा नरों से खेती, बोझ ढोना आदि कार्य लेने लगे। जो पालतू नहीं बनाये जा सके, वे वनों में विचरते रहे तथा वन्य (जंगली) कहलाये। ग्राम्य और वन्य दोनों प्रकार के महिषों के एक जाति का होने पर भी प्रयोजन की भिन्नता के कारण इनका अलग-अलग वर्णन किया गया है।

१२ महिष (ग्राम्य) भैंस-भैंसा—

संस्कृत नाम—महिषी, सैरिभेयी, पयस्विनी, महाक्षीरा।

हिन्दी नाम—भैंस।

अंग्रेजी नाम—Buffalo cow, She Buffalo ।

भैंसा—संस्कृत नाम—महिष, लुलाय, सैरिभ, कासर, कृष्णशृङ्ग।

हिन्दी नाम—भैंसा।

अंग्रेजी नाम—Buffalo।

लैटिन नाम—Bubalus bubalus ।

भैंस और भैंसे का भारतीय अर्थव्यवस्था में बहुत महत्व है। भैंस प्रचुर दूध देती है। भैंसा कृषि करने तथा भार के वहन के लिये अति उपयोगी है। इनका चर्म विविध वस्तुओं को बनाने के काम आता है। मांस का आहार के रूप में प्रयोग होता है।

वन्य महिष (Wild Buffalo) पालतू भैंस का ही भाई-बन्द है, जिसको कभी प्राचीन समय में पालतू बना लिया गया था। इसका वर्णन वन्य महिष के अन्तर्गत किया गया है।

संस्कृत नाटकों में भैंस (महिषी) और भैंसा (महिष) का वर्णन कुछ स्थलों पर हुआ है। दूध के पशुओं में भैंस महत्वपूर्ण है। इसके दूध में आम का रस मिलाकर पीना उत्तम पेय था।[2] भैंस के दूध की दही का भी वर्णन हुआ है।[3]

---

१. नरनासिकालोलुपस्य जीर्णऋक्षस्य मुखे पतिष्यति। अभिज्ञानशाकुन्तल पृष्ठ १६६।

२. पादताडितक श्लोक १३१।

३. कर्पूरमञ्जरी १.१९।

कवियों ने भैंस के सींगों में असौन्दर्य का अवलोकन किया था। दीर्घ काल तक केशों का शृङ्गार न करने वाली विरहिणी की वेणी को भैंस के सींग के समान कहा गया है।[1]

महिष (भैंसा) के दो वर्ग थे—पालतू और वन्य। पालतू भैंसों को घरों में पालकर विविध कार्यों में लगाते थे, वसन्तसेना के घर में अन्य पशुओं के साथ भैंसा भी पला था।[2] वन्य महिष का वर्णन उसके प्रसंग में आगे हुआ है।

देवी के समक्ष भैंसे की बलि देने की परम्परा रही है, क्योंकि यह महिषासुर का प्रतीक है। संस्कृत नाटकों के युग में भी यह परम्परा प्रचलित थी। 'चण्ड-कौशिक' में कात्यायनी देवी के मन्दिर में देवी के समक्ष भैंसे की बलि देने का वर्णन हुआ है।[3]

१३. महिष (वन्य) जंगली भैंसा—

संस्कृत नाम—महिष, कासर, सैरिभ, लुलाय, अश्वारि।

हिन्दी नाम—अरना भैंसा।

अंग्रेजी नाम—Wild Buffalo।

लैटिन नाम—Bubalus bubalus।

वन्य महिष पालतू भैंसे का ही भाई-बन्द है। ये जंगली पशु वनों में ही होते हैं और इनका अब पालतू भैंस जाति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है।

वन्य महिष अति भयानक और भारी-भरकम पशु है, जो अवसर पड़ने पर सिंह से भी मुकाबला करने में नहीं चूकता। सात फीट ऊँचे तथा ग्यारह फीट लम्बे इस भैंसे के सींग तीन फीट तक लम्बे नोकीले और चन्द्राकार होते हैं। वर्ण गाढ़ा सलेटी या काला होता है। यह बहुत निडर साहसी तथा ढीठ पशु है। सामान्यतः यह आक्रमण नहीं करता। परन्तु छेड़े जाने पर अति भयानक हो जाता है। इसका शिकार करना अति साहस का कार्य है।

संस्कृत कवियों ने आरण्य पशुओं के रूप में महिष का रोचक और रोमाञ्चक वर्णन किया है। हिमालय की तलहटियों के वनों में बड़ी संख्या में विशाल और भयानक आकार के महिष घूमा करते थे।[4] वे कीचड़ में लोट लगाना पसन्द करते थे[5] और दोपहरी भर धूप की गरमी से रक्षा पाने के लिये उसी में पड़े रहते थे।[6]

---

१. महिषीविषाणविषमां वेणीम्। पादताडितक श्लोक ६६।
२. कुलीनो दीर्घं निःश्वसिति सैरिभः। मृच्छकटिक पृष्ठ १७२।
३. चण्डकौशिक ४.१२।
४. तपतीसंवरण २.१।
५. रत्नावली पृ० १००।
६. विद्धसालभञ्जिका १.४३।

अति शक्ति-सम्पन्न तथा मस्त भैंसा अपने बल के गर्व से उन्मत्त होकर सींगों के प्रहारों से वनों में पत्थरों को बखेरता रहता है ।[१]

वन्य महिषों का शिकार वीर पुरुषों के मनोरञ्जन का साधन था। इसके मनोरञ्जक वर्णन मिलते हैं। शिकारियों के भय के कारण वनों में भी महिष निश्चिन्त नहीं रह सकते थे। बाणों के भय से वे छिपते रहते थे। शिकारी के भय से मुक्त होने पर ही उनको आराम मिल पाता था। दुष्यन्त द्वारा मृगया बन्द कर धनुष की डोरी ढीली करने पर ही महिषों को वन के जलाशयों में स्नान करने का अवसर मिला ।[२]

प्राचीन साहित्य में मनोरञ्जन के हेतु महिषों को पालने के भी वर्णन मिलते हैं। वन्य जाति के महिष को इस हेतु पाला जाता था। बचपन से ही इस महिष को पालकर द्वन्द्व-युद्ध के लिये तैयार करते थे। जनता के लिये यह अच्छा मनोरञ्जन का हेतु था ।[३]

खूब विशाल तथा काले रंग के महिष को कवियों ने उपमान भी बनाया है। प्रगाढ़ अन्धकार की उपमा महिष-समूह से दी गई है ।[४] शुभ्र आकाश में उड़ती मेघों की काली घटायें महिषों के समूह के समान होती हैं ।[५] महिषों का व्यवहार भी उपमान बना है। द्वन्द्व-युद्ध के महिष को खूब खिला-पिला कर मोटा किया जाता है। इस सादृश्य से मुफ्त का माल खा-खाकर मुटाने वाले व्यक्ति की उपमा नर भैंसे से दी गई है ।[६]

१४. मृग (हरिण)—

संस्कृत नाम—सामान्य नाम—मृग, कुरङ्ग, वातायु, हरिण, अजिनयोनि ।

हिन्दी नाम—मृग, हरिन, हिरन ।

अंग्रेजी नाम—Deer, Antelope ।

लेटिन नाम—Antelope picta ।

संस्कृत कोषों के अनुसार मृगों के भेद—

कृष्णसार, रुरु, न्यङ्कु, रङ्कु, शम्बर, रौहिष, गोकर्ण, पृषत, एण, ऋष्य, रोहित, चमर ।

---

१. अनर्घराघव ५.२० ।

२. गाहन्तां महिषाः निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितम् । अभिज्ञानशाकुन्तल २.६ ।

३. बालरामायण २.६ ।

४. महिषशतसम्पातसदृशोऽहो बलवानन्धकारः । बालचरित पृ० १५ ।

५. महिषकुलनीलैः जलधरैः । मृच्छकटिक ५.२१ ।

६. पादताडितक श्लोक ७८ ।

कुछ मृग-भेदों के लैटिन नाम—

कृष्णसार (काला सारङ्ग)—Antelope cervicapra ।

सारङ्ग (बारहसिंगा)—Cervus duvauceli ।

चित्रक (चीतल)—Axis axis ।

चमरी मृग (सुरागाय, याक)—Bos grunniens ।

कस्तूरी मृग—Moschus moschiferus ।

संस्कृत नाटकों में अनेक मृगों का वर्णन हुआ है। एण, रुरु, कृष्णसार, (काला सारङ्ग), चित्रक (चीतल), सारङ्ग (बारहसिंहा), चमरी मृग, कस्तूरीमृग और काञ्चनपार्श्व मृगों का वर्णन है। एण और रुरु मृग काले रंग के होते हैं, जिनका चर्म बिछाने और ओढ़ने के लिये उपयोगी था। ये मृग खुले वनों के मध्य मैदानों के भीतर विचरना पसन्द करते हैं। इनके दो लम्बे नोकीले और धारीदार सींग होते हैं। ये बहुत तेज भागते हैं तथा समूहों में रहते हैं। इनका आकार लगभग तीन फीट ऊँचा और चार फीट लम्बा होता है।

चित्रक और सारंग मृग की ऊँचाई चार फीट तथा लम्बाई छः फीट तक हो सकती है। सिर पर दो सींगों के मध्य से अनेक शाखायें फूटती हैं, अतः इसको बारहसिंहा कहा गया है। शरीर की बादामी त्वचा पर श्वेत चित्तियाँ होती हैं। प्रतिवर्ष सर्दियों में इनके पुराने सींग गिर कर फरवरी के लगभग नये सींग निकल आते हैं।

चमरी मृग (सुरागाय, याक) को चमरी गौ भी कहते हैं। यह पशु ऊँचा तथा लम्बा होता है और ऊँचे हिमालय क्षेत्र में, तिब्बत और लद्दाक में अधिक मिलता है। इसको पाला भी जाता है। इसका दूध तथा मांस भोजन में उपयोगी है। यह वाहन के लिये भी उपयोगी है। इसकी पूँछ में सुन्दर बालों का गुच्छा होता है, जिसका उपयोग चंवर के रूप में होता है।

कस्तूरी मृग (Musk Deer)—ऊँचे हिमालय क्षेत्रों में ८००० फीट और इससे भी ऊपर होता है। दो फीट तथा तीन फीट लम्बे शरीर की गाढ़ी-भूरी त्वचा पर श्वेत-भूरी चित्तियाँ होती हैं। शरीर के बाल लम्बे, कड़े तथा लहरदार होते हैं। पिछली टाँगें अगली से बड़ी होती हैं। यह अकेला प्राणी है तथा समूहों में रहना पसन्द नहीं करता। जोड़े में भी प्रायः दिखाई नहीं देता। युवा होने पर नर कस्तूरी मृग के पेट के समीप की ग्रन्थि (नाभि) में एक सुगन्धित पदार्थ (कस्तूरी) एकत्रित होता है, जिससे मादा कस्तूरी मृग आकृष्ट होती है। मादा मृग लगभग ५ महीने बाद एक या दो बच्चे जनती है।

काञ्चनपार्श्व मृग कवि की कल्पना ही प्रतीत होते हैं।

संस्कृत कवियों को मृग बहुत प्रिय रहे हैं। नाटकों में इसका रोचक वर्णन है। इससे इसके प्रति पाठकों के हृदय में सहज स्नेह और वात्सल्य का भाव उत्पन्न

होता है। मूलतः आरण्य होने पर भी इसके पाले जाने का, विशेष रूप से तपोवनों के प्रसङ्ग में प्रचुर वर्णन है। सामान्य गृहस्थ घरों और राजकीय अन्तःपुरों में भी इसके पाले जाने के वर्णन हैं।

कवियों ने मृगों के आरण्यों में घूमने तथा शिकार का रोचक वर्णन किया है। घने आरण्यों में मदमत्त मृग घूमते रहते हैं।[१] वे शिकारी आदि के भय से निश्चिन्त होकर छाया में बैठकर जुगाली करते हैं।[२] मध्याह्न की गरमी में प्यास लगने पर जलाशयों के समीप जाकर उसके गरम जल को भी शौक से पीते हैं।[३]

स्वभाव से शंकालु हरिण मनुष्य या अन्य किसी की आहट पाकर तुरन्त भाग जाता है। वन में शिकारियों तथा हिंस्र जन्तुओं का उसको भय है। सिंह आदि का प्रिय आहार होने से उनसे डरता है।[४] पीछा किये जाने पर तेजी से भाग जाता है।[५]

मृग अति तीव्रगामी है। शूद्रक ने इसको सबसे अधिक वेगशाली कहा है।[६] भयभीत होने पर तो वह और भी तेज भागता है। दुष्यन्त द्वारा पीछा किया जाता हुआ मृग इतनी लम्बी छलांगें, इतनी तीव्रता से लगा रहा था कि वह पृथिवी पर कम और आकाश में अधिक जा रहा था।[७] परन्तु कवियों ने इसका भी वेग अश्व से कम बताया है। रथ को खींचने वाले तीव्रगामी अश्वों ने दुष्यन्त के रथ को मृग के समीप पहुँचा ही दिया और वह दुष्यन्त के बाणों की पहुँच में आ गया।[८]

कवियों ने मृगों की सङ्गीतप्रियता का भी वर्णन किया है। मधुर सङ्गीत की ध्वनि से आकृष्ट होकर वे समीप आ जाते हैं। मन्दिर में गीत गाती हुई मलयवती की गीति को सुनकर हरिण एकत्रित हो गये थे। वे आँखें बन्द करके अश्रु बहाते हुये उस गीति को सुनते रहे।[९] हरिणों को विमोहित करने वाली व्याध-गीति का वर्णन भी कवियों ने किया है।[१०]

शिकार के शौकीनों के लिये मृग एक अति आकर्षक जन्तु रहा था। मुख्य रूप से इसी का शिकार किया जाता था। अतः शिकार को मृगया नाम दिया

---

१. उत्तररामचरित। २.२३।
२. छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु। अभिज्ञानशाकुन्तल १.६।
३. तृष्णार्तैश्च निपीयते वनमृगैरुष्णं पयः सारसम्। मृच्छकटिक ८.११।
४. अभिषेकनाटक २.१३। ५. चारुदत्त १.६।
६. मृगः प्रसरणे। मृच्छकटिक ३.२०।
७. पश्पोदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति। अभिज्ञानशाकुन्तल १.७।
८. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० १३६।
९. नागानन्द १.१३।
१०. व्याधगीतिरक्तया हरिणीव। मालविकाग्निमित्र पृ० ७८।

गया। राज-परिवारों के लिये मृगया सदा से व्यसन रहा। क्षत्रियों के लिये यह धर्म-सम्मत था, जिसके निमित्त वे वनों में घूमते थे। सुन्दर त्वचा वाले स्वर्ण मृग को देखकर सीता को उसके चर्म का लोभ हुआ था।[1] इसी के कारण सीता का रावण द्वारा अपहरण हुआ।

नाटकों में मृगया का तथा शिकारियों द्वारा मृग का पीछा करने का रोमाञ्चक वर्णन हुआ है। व्याधों द्वारा पीछा करने पर हरिणियाँ तेजी से भाग जाती हैं।[2] व्याध-गीति द्वारा विमोहित किया जाकर भी उनका शिकार किया जाता था। कालिदास ने मृगों का पीछा करने का अति रोचक वर्णन किया है। वन में निश्चिन्त होकर मृग विचरण कर रहे हैं। रथारूढ दुष्यन्त उनका शिकार करना चाहता है। वे तेजी से भागते हैं और मुड़-मुड़ कर पीछे की ओर देखते जाते हैं। उनके आधे खाये दर्भ मार्ग में बिखरते जाते हैं। तीव्र गति से कूदने के कारण उनके पैर भूमि पर कम, परन्तु आकाश में अधिक दृष्टिगोचर होते हैं।[3] 'हनूमन्नाटक' में भी इस वर्णन का अनुकरण हुआ है।[4]

मृगों का शिकार रोचक, लोकविहित तथा शास्त्रसम्मत होने पर भी आश्रमों के पालतू मृग अवध्य थे।[5] शिकारी स्वयं भी इस बात का ध्यान रखते थे। कभी असावधानी होने पर आश्रमवासी अपने मृगों की रक्षा करने के लिये शिकारी के बाणों तथा मृग के मध्य में भी खड़े हो सकते थे।[6]

आरण्य पशु होने पर भी मृग को प्राचीन भारतीय जन शौक से पालते थे। शङ्कालु स्वभाव का होने पर भी पालतू मृग मनुष्यों के प्रति अधिक शङ्कित नहीं होता। मनुष्य का स्पर्श पाकर वह सहनशील हो जाता है। दुष्यन्त ने कण्व के तपोवन

---

१. महावीरचरित ५.१६।

२. व्याधानुसारचकिता हरिणीव। यासि। मृच्छकटिक—१.१७।

३. ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिर्कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥
अभिज्ञानशाकुन्तल १.७।

४. हनूमन्नाटक ४.३।

५. आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः—
न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्।
मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल १.१०।

६. खलु ते बाणपातवर्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिताः।
अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० १३८।

के समीप जाकर देखा कि वहाँ के मृग उसको देखकर भागे नहीं, क्योंकि मनुष्यों के प्रति उनको विश्वास उत्पन्न हो गया है।[१] वे आश्रम की भूमियों पर निःशङ्क विचरण करते रहे।[२]

मृगों के पालन के तीन स्थान कवियों ने वर्णित किये हैं—गृहस्थों के गृह, राजाओं के प्रमद वन और तपोवन।

गृहस्थ अपने घरों में मृग पालते थे।[३] वे दिन में क्रीड़ा करते हैं, सायंकाल होने पर ऊँघने लगते हैं और शयन के लिये स्थान खोजते हैं।[४] राजकीय अन्तःपुरों के उद्यानों में इनके विहरण के वर्णन मिलते हैं। अशोक आदि के पल्लवों को खाते हुये वे इन उद्यानों में निःशंक विचरण करते है।[५] प्यास लगने पर वृक्षों के आलवालों में भरे जल का पान कर लेते हैं।[६]

तपोवन और आश्रम मृगों के पालन के विशेष स्थान थे,[७] जहाँ वे निःशंक घूमते थे।[८] मृग एक प्रकार से तपोवनों के प्रतीक ही थे, जहाँ उनको निःशंक घूमते देख कर समीपवर्ती तपोवन का अनुमान लगाया जा सकता था।[९] तपस्वि-जन प्रिय मृग-शावकों को साथ लेकर घूमते थे तथा अपने साथ सुग भी लेते थे।[१०] कालिदास ने तपोवनों में मृग-युगलों की प्रणय-केलियों का वर्णन किया है। मृग के प्रति प्रणयासक्ता मृगी अपनी आँखों की खुजली को कृष्ण मृग के सींग से रगड़ कर मिटा रही थी।[११]

आश्रमों की कन्याओं द्वारा मृगों का पालन उत्तम मनोविनोद था। इसके मनोमोहक चित्र कवियों ने अङ्कित किये हैं। मृगों के शिशु उनके पुत्रतुल्य ही थे।[१२] जो कठिनाई से अलग किये जा सकते थे।[१३] शकुन्तला अपने पालतू मृग-शावक को

---

१. विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः।
अभिज्ञानशाकुन्तल १.१४।

२. नष्टाशङ्का हरिणशिशवो मन्दमन्दं चरन्ति। अभिज्ञानशाकुन्तल १.१५।

३. कुन्दमाला पृ० १०।

४. पादताडितक श्लोक १०२।

५. एष बालाशोकपल्लवानि लंघयति हरिणः। मालविकाग्निमित्र पृ० १०५।

७. प्रियवंशिका १.१२। ६. आश्चर्यचूडामणि ३.१।

८. अभिज्ञानशाकुन्तल १.१५, स्वप्नवासवदत्तम् १.१२।

९. अभिज्ञानशाकुन्तल १.१४।

१०. कौमुदीमहोत्सव ३.१०।

११. शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।
अभिज्ञानशाकुन्तल ६.१७।

१२. तापसवत्सराज पृ० ५४। १३. तापसवत्सराज २.१।

अपने कोमल हाथों से श्यामाक आदि धान्य खिलाती थी। कुश आदि की नोक से मुख में घाव हो जाने पर इंगुदी का तेल लगा कर चिकित्सा करती थी।[1] और कमलिनी के पतों का दोना बना कर जल पिलाती थी।[2] अपने पालतू मृग शिशु का नाम उसने दीर्घापाङ्ग रखा था।[3] पञ्चवटी में सीता ने मृग पाल रखे थे। वह इनको अपने हाथों से घास खिलाया करती थी।[4]

हरिणियों का गर्भधारण करना और प्रसव करना आश्रवासिनी महिलाओं के लिये उत्सव का विषय था। शकुन्तला को गर्भ के भार से अलस पालतू हरिणी से बहुत स्नेह था। तपोवन से विदा होते हुये भी वह उसके कुशल प्रसव के सम्बन्ध में बहुत चिन्तित है।[5] मुनि-कन्यायें मृग-शिशु को उसकी मां से वियुक्त नहीं देख पाती। शिशु को भटकता देख कर वे उसको मां से मिला देने का प्रयत्न करती हैं।[6]

आश्रमों के पालतू मृगों का भी सहज स्नेह मुनि-कन्याओं के प्रति कालिदास ने व्यक्त किया है। मृग इनके पीछे-पीछे घूमते रहते थे। कहीं जाने पर खाना-पीना छोड़ कर आँखों में आसू भर कर उनका दामन पकड़ लेते थे। शकुन्तला की विदाई के समय पालतू मृगशावक ने उसके वस्त्र को पकड़ कर मार्ग को रोक लिया।[7] हरिणियों ने खाये हुये भी दर्भों को बाहर उगल दिया।[8]

मृग शाकाहारी ही हैं। तपोवनों में पालतू मृगों को घास आदि आहार मिलता था। सीता अपने हाथ से मृगों को घास खिलाती थी।[9] कभी नौकीली घास से मृग-शिशुओं के मुख में क्षत हो जाने पर इंगुदी का तेल लगा कर चिकित्सा

---

१. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितकों जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते ॥ अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१४।

२. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३६३।

३. दीर्घापाङ्गो नाम मृगपोतक उपस्थितः। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३६३।

४. उत्तररामचरित २.१। ५. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३०४।

६, मृगपोतको मातरमन्विषति। एहि संयोजयाव एनम्।
अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० २५४।

७. शकुन्तला—को नु खलु एषो निवसने मे सज्जते?
काश्यपः—……………………जहाति।
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते। अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१४॥

८. उद्गलितदर्भकवलाः मृग्यः। अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१२

९ उत्तररामचरित २.१।

की जाती थी।[१] तपोवनों में मृगों को वहाँ के विशेष अन्न भी खाने को मिल जाते थे। कालिदास ने श्यामाक धान्य खिलाने का उल्लेख किया है।[२] बिज्जिका[३] और दिङ्नाग[४] नीवार धान्य खिलाने का वर्णन करते हैं।

मृग-शिशु अपनी माता का दूध पीते थे। अनेक तपोवनों में मृग-शावकों द्वारा निडर होकर सिंहनियों का दूध पीने का वर्णन है[५]।

मृगों का अनेक दृष्टियों से उपयोग था। इनका शिकार मांस और चर्म के लिये किया जाता था। शिकारियों तथा क्षत्रियों के लिये मृग-मांस का भक्षण विहित था। मृग का चर्म लोभनीय था। स्वर्णमृग के चर्म के लिये सीता को भी लोभ उत्पन्न हुआ। तपोवनों में आसन और शयन के लिये मृगचर्म व्यवहार में आता था।[६] छात्रगण मृगचर्म का उपयोग वस्त्र के रूप में भी करते थे।[७]

मृग के मुग्ध सौन्दर्य ने कवियों को प्रेरणा दी कि वे उनके अंगों को अपने काव्यों में उपमान बनावें। मष्नुयों के सुन्दर केश चमरी मृग की पूंछ के बालों के समान हो सकते हैं।[८] कवियों को मृगों के नयनों का नयनाभिराम सौन्दर्य अति आकर्षक लगा था।[९] उन्होंने इसको बहुधा उपमान बनाया है।

सुन्दरियों की दृष्टि के सौन्दर्य की उपमा मृगों की आंखों से बहुधा दी गई है।[१०] उनकी चञ्चल दृष्टि मृगों के या मृगशिशुओं के समान होती है।[११] कालिदास ने कल्पना की है कि हरिणियों ने ही शकुन्तला को मुग्ध दृष्टि से देखने का उपदेश दिया था।[१२] भयभीत युवतियों की दृष्टि की उपमा डरी हुई मृगियों की आँखों से दी गई है।[१३]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१४।
२. श्यामाकपुष्टिपरिवर्धितकः। अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१४।
३. कौमुदीमहोत्सव ३.१०। ४. कुन्दमाला १.८।
५. सुभद्राधनञ्जय १.६। ६. अनर्घराघव २.२६।
७. महावीरचरित १.१८, उत्तररामचरित ३.२०, हनूमन्नकाट १.२६
८. स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैः स्वयं चमयेव तुलाभिलाषिणः नैषधीय-चरितम् १.२५।
९. बालरामायण १.४२।
१०. मृगलोचना। विक्रमोर्वशीय ४.४६, सारङ्गाक्ष्या प्रियया। अभिज्ञान-शाकुन्तल ६.७।
११. मालतीमाधव ४.८, हनूमन्नाटक ५.३, कर्पूरमञ्जरी २.४१, बालरामायण ५.६७।
१२. प्रियायाः कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः। अभिज्ञानशाकुन्तल २.३।
१३. मृच्छकटिक १ १७, चारुदत्त १.६ अभिषेकनाटक २.१३, प्रतिमानाटक ६.१।

संस्कृत नाटकों में उल्लिखित कुछ विशेष मृगों का परिचय पहले दिया जा चुका है। नाटकों के माध्यम से भी इन मृगों की कुछ विशेषतायें अभिव्यञ्जित होती हैं।

एण मृग ऋषियों को अति प्रिय था। बड़े आकार, काले वर्ण, सुन्दर आँखों और छोटे पैरों वाले इस मृग के चर्म का उपयोग शयन तथा आसन के लिये था।[१] रूरू मृग का चर्म वस्त्रों की आवश्यकता को पूरा करता था।[२] विद्यार्थी इस चर्म को उत्तरीय के रूप में ओढ़ लेते थे।[३] डा० भगवतशरण उपाध्याय ने रुरु मृग को ही मृग या कृष्णनसार कहा है।[४] कृष्णसार मृग के अति पवित्र चर्म को आसन बनाने तथा ओढ़ने के लिये प्रयोग में लाया जाता था। इसका नाम कृष्णाजिन प्रसिद्ध था।[५]

डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री काले मृग को कृष्णसारङ्ग कहते हैं।[६] इनकी आँखें सुन्दर होती हैं और ये वनों में स्वतन्त्र विचरते हैं।[७] दुष्यन्त ने मृगया के हेतु जिस मृग का पीछा किया था, वह कृष्णसार ही था।[८] वही सारङ्ग भी प्रतीत होता है, क्योंकि कालिदास ने कृष्णसार और सारङ्ग को एक ही माना है।[९] सारङ्ग या कृष्णसार मृगों की गति तीव्र होती है।[१०] उनके शरीर पर काली-श्वेत बुंदकियाँ रहती हैं, जिनसे यह बहुत सुन्दर लगते हैं। इनको देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वन की शोभा ने नव शष्प को देख कर कटाक्ष किया है।[११] सारङ्ग मृग समूहों में रहते हैं, परन्तु खतरा उपस्थित होने पर उनका यह समूह विच्छिन्न भी हो जाता हैं।[१२]

चित्रक (चीतल) मृग की उपस्थिति दक्षिण वनों में वर्णित है।[१३] परन्तु वे प्रायः सभी वनों में मिलते थे। शरीर पर श्वेत बुंदकियाँ होने से यह चित्रक (चितकबरा)

---

१. अनर्घराघव २.२६। २. हनूमन्नाटक १.२६।
३. महावीरचरित १.१८, उत्तररामचरित ४.२०।
४. कालिदास का भारत—प्रथम भाग पृ० ८२।
५. नागानन्द २.२।
६. पतञ्जलिकालीन भारतवर्ष पृ० ३०१।
७. हनूमन्नाटक २.२३।
८. कृष्णसारे ददच्चक्षुस्त्वयि। अभिज्ञानशाकुन्तल १.६।
९. अभिज्ञानशाकुन्तल १.५—६।
१० सारङ्गेणातिरहसा। अभिज्ञानशाकुन्तल १.५।
११. कृष्णसारच्छवियोऽसौ दृश्यते काननश्रिया।
नवष्पावलोकाय कटाक्ष इव पातितः। विक्रमोर्वशीय ४.५७॥
१२. भिन्नसारङ्गयूथः। अभिज्ञानशाकुन्तल १.३१
१३. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०।

कहलाया। राजशेखर रल्लक मृग का भी वर्णन करते हैं। ये मृग हेमन्त ऋतु में अधिक प्रसन्न रहते है।[१]

चमरी मृग का मनोमोहक वर्णन हुआ है[२] इसकी पूँछ के सुन्दर गुच्छेदार बालों से चंवर बनाये जाते थे। वन में कभी आग लग जाने पर ये बाल बहुत शीघ्र आग पकड़ लेते है।[३] विलसन ने याक (सुरागाय) को चमरी मृग माना है।

कस्तूरी मृग का बहुधा उल्लेख है। इसकी नाभि में जम जाने वाला अति सुगन्धित काला द्रव्य ही कस्तूरी है। इस मृग का मुख्य आहार ग्रन्थिपर्ण (गठिवन) घास है, जो अति सुगन्धित होती है।[४] कवियों के वर्णनों के अनुसार यह मृग अगर के वृक्षों के नीचे विश्राम करता है।[५] ये मृग जिन शिलाओं पर बैठते हैं, वे भी सुगन्धि से भर जाती हैं।[६] कस्तूरी मृग का निवास ऊँचे हिमालय पर्वतों में है।

भास ने हिमालय पर्वत पर काञ्चनपार्श्व नाम के मृगों की कल्पना की है। इनका पृष्ठ भाग वैदूर्य मणि के समान श्याम वर्ण होता है। ये पवन के समान वेगशाली हैं। गंगा के जल का पान करके निर्वाह करते हैं। बालखिल्य आदि ऋषि उनके द्वारा ही ? को सम्पन्न करते हैं, जो उनके विचारमात्र से उपस्थित हो जाते हैं।[७] परन्तु ये मृग कविकल्पना ही प्रतीत होते हैं।

१५. मेष (मेंढा)—

संस्कृत नाम—मेष, मेढ, उरण, ऊर्णायु, उरभ्र, वृष्णि, एडक

हिन्दी नाम—मेंढा।

अंग्रेजी नाम—Ram

लैटिन नाम—Ovis orientalis

नर भेड़ को पाल-पोस कर तगड़ा करके मेंढे के रूप में तैयार किया जाता था। यह अत्यधिक शक्तिशाली होता था। इसका विकास मुख्य रूप से जंगली भेड़ से किया गया था।

---

१. बालरामायण ५.३५। २. बालरामायण १.६२।
३. बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दवाग्निः। पूर्वमेघ श्लोक १७।
४. कर्पूरमञ्जरी पृ० १८०: विद्धसालभञ्जिका पृ० ६७, बालरामायण १.६२।
५. बालरामायण ३.२८।
६. आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणाम्। पूर्वमेघ श्लोक ५६।
७. हिमवतः सप्तमे शृङ्गे प्रत्यक्षस्थाणुशिरः पतितगङ्गाम्बुपायिनो वैदूर्यश्याम-पृष्ठाः पवनसमजवाः काञ्चनपार्श्वा नाम मृगाः यैर्वैखानसबालखिल्यनैमीषादयोमहर्षयश्चिन्तितमात्रोपस्थितविपन्नैः श्राद्धानि अभिवर्धयन्ति। प्रतिमानाटक पृ० १३७।

मेष को पालने का मुख्य उद्देश्य द्वन्द्व-युद्ध द्वारा मनोरञ्जन प्राप्त करना था। प्राचीन भारत में पशु-पक्षियों के युद्ध मनोरञ्जन के हेतु रहे थे।[1] इनमें तीतर (तितिरि), बटेर (लावक), मुर्गा (ताम्रचूड़) आदि पक्षी और मेष (मेंढा), महिष (भैंसा) अदि पशु प्रमुख थे।

जनता का मनोरञ्जन करके धन उपार्जित करने के लिये मेषों को पालने के विवरण मिलते हैं। शौकीन लोग भी इनको पालते थे। मेषों को खूब खिला-पिला कर मोटा-ताजा करते थे, अतः मुफत का माल खा-खाकर मुटा जाने वाले व्यक्ति को मेष कहा जा सकता था।[2] मेषों का द्वन्द्व-युद्ध देखने के लिये लोग खूब उत्सुक रहते थे।[3] इस युद्ध का नाम हुडुक-युद्ध भी कहा गया है।[4] द्वन्द्व-युद्ध के अनन्तर थके हुये मेष की गरदन को उसके स्वामी थपथपाते थे।[5]

वराह—

वराह (सूअर) को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—ग्राध्य और वन्य। कभी प्राचीन काल में कुछ सूअर मनुष्यों द्वारा पालतू बना लिये गये। कुछ वन्य रह गये। इस प्रकार सूअर दो प्रकार के हो गये—ग्राभ्य (पालतू) और वन्य (जंगली)। दोनों के एक ही जाति का होने पर भी प्रयोजन की भिन्नता के कारण यहाँ इनका अलग-अलग वर्णन किया जा रहा है।

१६. वराह (सूअर जंगली)—

संस्कृत नाम—अरण्यसूकर, वराह, क्रोड, भूदार, घृष्टि, कोल, पौत्री, किटि, दंष्ट्री, किर, घोणी, स्तब्धरोमा।

हिन्दी नाम—जंगली सूअर।

अंग्रेजी नाम—Wild Boar.

लैटिन नाम—**Sus Scrofa.**

जंगली सूअर प्रायः सारे भारतवर्ष में मिलते हैं। ऊँचे हिमालय पर्वतीय भागों में बड़ी संख्या में हैं। जंगली सूअर की शकल-सूरत बहुत कुछ पालत् सूअर जैसी है। किन्तु इसके दान्त अधिक नोकीले, बड़े एवं शरीर भारी-भरकम होता है। दान्त इनका अच्छा हथियार है, जिससे वे अपने से कहीं बड़े भयानक जानवर को भी चीर देते हैं।

जंगली सूअर सामान्यतः शान्त स्वभाव का है। परन्तु घायल होने पर पलट कर भयानक हमला करता है। ग्रामों के समीप के जंगलों में रहने वाले सूअर खेती

---

१. बालरामायण २.६। २. पादताडितक श्लोक ७८।
३. पश्याम उरभ्रसम्पातम्। मालविकाग्निमित्र पृ० २२।
४. बालरामायण पृ० ५५१।
५. अपनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्द्यते ग्रीवा मेषस्य। मृच्छकटिक पृ० १७२।

को बहुत हानि पहुँचाते हैं। सामान्यतः वे शाकाहारी हैं तथा कन्दों को अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु भूख लगने पर मांस भी खा जाते हैं। मादा सूअर वर्ष में दो बार चार से छः बच्चे पैदा करती है। सूअर का शिकार अच्छा साहसिक मनोरञ्जन माना जाता रहा है।

संस्कृत नाटककारों ने प्रायः सारे भारतवर्ष में वन्य वराहों का उल्लेख किया है। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में स्वतन्त्र विचरण करने वाले वन्य वराहों का वर्णन है।[1] भास ने गोकुल के समीप यमुना के तटवर्ती वन में वन्य वराह बताये हैं, जो कालिय नाग के विषैले यमुना-जल को पीकर मर जाते थे।[2] हिमालय की उपत्यकाओं में प्रचुर संख्या में सूअर थे।

कवियों ने वराह के स्वभाव का विशद चित्रण किया है। वनों में वे विशाल खुरों से **पृथिवी** को खोदते हुये घूमते रहते हैं।[3] कीचड़ में ये बड़े शौक से लोट लगते हैं।[4] जलाशयों में घुस कर लोट लगाते हुये ये कमलिनियों को मसलते तथा जड़ों को खोद कर खाते हैं।[5] भद्रमोथा या मोथा इनका प्रिय आहार है, जिसके कन्दों को खोद कर वे खाते रहते हैं।[6]

जंगली सूअर का शिकार करना वीर शिकारियों का प्रिय व्यसन था। वनों में वे इसको खोजते थे।[7] सिंह को भी घायल करने वाले, पहाड़ को भी खोद डालने वाले, काले पहाड़ के समान[8] जंगली वराह का शिकार करना शिकारियों के लिये गौरव की बात थी।[9]

पीछा करने पर ये सूअर कभी-कभी पलट कर भी आक्रमण कर देते हैं। इस समय की भयानकता का कवियों ने रोमाञ्चक वर्णन किया है। यह सूअर कभी तो पीछे के भाग को सिकोड़ता है, कभी लम्बी सांस लेता है और कभी मुख को खोलता है। इसके विकृत मुख के भीतर से तेज दान्त चमकते हैं और मुख से बाहर झाग गिरते हैं।[10]

शिकारियों के कारण बराह सदा दुःखी रहते थे। उनके विश्राम करने पर ही वे वराह आराम पाते थे और जलाशयों में घुस कर मोथा उखाड़ पाते थे।[11]

---

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०। २. बालचरितम् पृ० ७४।
३. प्रसृतखरनखरदारितमेदिनिर्वनगहनेऽविचलः।
परिसर्पति पश्यत लीनो निजकार्योद्युक्तः कोलः। विक्रमोर्वशीय ४.१८।
४. रत्नावली पृ० १००। ५. विद्धसालभञ्जिका १.४३।
६. चण्डकौशिक् २.१।
७. अयं वराहः। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० १८४।
८. तापसवत्सराज पृ० ३२–३३।
९. चण्डकौशिक पृ० ३६–३७। १०. चण्डकौशिक २.६।
११. अभिज्ञानशाकुन्तल २.६।

प्राचीन ऋषियों ने वराह में देवत्व की कल्पना भी की है। विष्णु भगवान् ने जल में डूबी पृथिवी का उद्धार करने के लिये वराह के रूप में अवतार लिया था। हिरण्यक्ष नामक दैत्य का वध करके उन्होंने अपनी दाढ़ में पृथिवी को घुसा कर बाहर निकाला था।

१७. वराह ग्राम्य (पालतू सूअर)—

संस्कृत नाम—वराह, शूकर, घृष्टि, कोल, पौत्री, किर, किटि, दंष्ट्री, घोणी, स्तब्धरोमा, क्रोड भूदार।

हिन्दी नाम—पालतू सूअर।

अंग्रेजी नाम—Pig.

लैटिन नाम—Sus Scrofa.

पालतू सूअर एक अति परिचित जन्तु है। भारतवर्ष में इसको निम्न वर्ग की जातियाँ ही पालती हैं। अतः यह आबादियों में गन्दगी के स्थानों में घूमते देखा जा सकता है। विदेशों में सूअर शौक से पाला जाता है एवं इसकी विशिष्ट जातियों का विकास किया गया है। पालतू सूअर की बाह्य आकृति जंगली सूअर के समान है, किन्तु उससे यह आकार में छोटा, निर्बल और कायर होता है।

पालतू सूअर को मुख्य रूप से मांस के लिये पाला जाता है। इसके बाल भी बहुत उपयोगी हैं, जो अधिक मूल्य पर बिकते हैं। यह पशु मुख्य रूप से शाकाहारी है, किन्तु विष्ठा को भी मजे में खाता है। अतः अनेक नगरपालिकायें भंगियों द्वारा इस प्रयोजन के लिये सूअर का पालन कराती थीं। मादा सूअर वर्ष में दो बार ४–१० बच्चे जनती है।

पूर्व काल में सूअर की एक ही जाति आरण्य रही होगी। कुछ सूअरों को पालतू बना लेने के कारण इनकी दो जातियाँ ग्राम्य और आरण्य हो गईं। अतः दोनों के नाम-पर्याय कोशग्रन्थों में एक ही हैं। किन्तु भिन्न परिस्थितियों में रह कर उनकी आदतें एवं शक्ति में परिवर्तन हो गया है। आरण्य सूअर का वर्णन पहले किया गया है, यहाँ पालतू सूअर का वर्णन किया जा रहा है।

सूअर के गन्दगी-पसन्द होने से शिष्टजन इसको नहीं पालते थे। ग्रामों में चाण्डाल आदि निम्न वर्गों द्वारा इसको पालने के विवरण मिलते हैं।[1] वे उसको मांस के लिये पालते थे।[2] सूअर का पालन बालों के लिये भी था। महाभाष्य में वर्णन है कि सूअर के बालों को बेरहमी से नोच कर निकाला जाता है।[3]

गन्दगी-प्रिय सूअर से सामान्य जन घृणा करते थे। मुख्य भोजन घास-कन्द-

---

१. मत्तविलास पृ० ३४।
२. वीणावासवदत्तम् पृ० २७।
३. अष्टाध्यायी ५.२.४४ पर महाभाष्य।

मूल होने पर भी ये विष्ठा खाते और गन्दगी छोड़ते देखे जाते हैं। भास ने वर्णन किया है कि बूढ़े सूअर गन्दी अपान वायु छोड़ते हुये घूमते रहते हैं।[1]

सूअर को गन्दगी, कायरता और बेवकूफी का प्रतीक माना गया था। तुच्छ व्यक्ति को इस शब्द (कोल) द्वारा गाली दी गई है।[2]

१८. वानर (बन्दर)—

संस्कृत नाम—कपि, प्लवङ्ग, प्लवग, शाखामृग, वली, मर्कट, कीश, वनौकस, वानर।

हिन्दी नाम—बन्दर।

अंग्रेजी नाम—Monkey.

लैटिन नाम—Macaca mullata; Macaca radiata.

बन्दर प्रायः सारे भारतवर्ष में पाये जाते हैं। परन्तु उत्तर भारत में ये अधिक हैं। मूलतः आरण्य होने पर भी पालतू बनाया जा सकता है। आबादियों में भी ये स्वतन्त्र विचरण करते देखे जा सकते हैं। प्राचीन भारतीय कथाओं के अनुसार राम-रावण युद्ध में वानरों ने भगवान् राम के पक्ष में युद्ध किया था। अतः हिन्दू जन इनके प्रति धार्मिक भावनायें रखते हैं और इनको मारना पाप समझते हैं। इस कारण हिन्दू तीर्थ स्थानों पर वानरों की संख्या प्रचुर है। यहाँ भक्तजन इनको खाद्य पदार्थ देते हैं।

बन्दर की अनेक जातियाँ और प्रजातियाँ हैं। भारतीय बन्दर लाल मुख के और सुनहरे-भूरे वर्ण के होते हैं। मादा बन्दर एक बार में एक बच्चा जनती है, जो बड़ा होने तक उसके पेट से चिपका रहता है।

बन्दर एक उपद्रवी पशु है। घरों, वाटिकाओं और खेतों में वह काफी हानि पहुँचाता है। अतः मनुष्य इससे सावधान रहते हैं। यह प्रधानतः शाकाहारी है, परन्तु कीड़े-मकोड़ों तथा अण्डों को भी खा जाता है।

कवियों ने अरण्यों में वानरों का काफी वर्णन किया है। हिमालय के वनों में प्रचुर वानर थे। ये वनों में आने-जाने वाले पथिकों को परेशान करते थे और उनकी वस्तुयें छीन लेते थे।[3] वानर समूह में और युगल में भी रहते हैं। भवभूति ने इसके प्रणय-विलास का भी वर्णन किया है। एक वानर अपनी प्रिया के अतिशय लाल मुख का चुम्बन कर रहा था।[4]

वानर अधिकतर वृक्षों की शाखाओं पर घूमते तथा क्रीड़ायें करते हैं, अतः इनको शाखा-मृग भी कहते हैं।[5] ये वृक्षों के फलों के लोभी होते हैं।[6]

---

१. प्रतिज्ञायौगन्धरायण पृ० ७२। २. मृच्छकटिक पृ० ३०४।
३. तपतीसंवरण पृ० ५३। ४. मालतीमाधव ९.३१।
५. विक्रमोर्वशीय पृ० २४७। ६. विद्धसालभञ्जिका पृ० ५१।

वानरों को आबादियों में स्वतन्त्र विचरण करते हुये देखा जाता है। ये आबादियों के बाहर तथा अन्दर वृक्षों पर रहते हैं। दिन भर वे भोजन की तलाश में आबादियों में घूमते हैं और रात्रि में अपने आवास में आकर सो जाते हैं। खुले में वे सूखते वस्त्रों को उठा कर ले जा सकते हैं। अतः उनसे सावधान रहना पड़ता है।[1] वे बच्चों को डरा भी देते हैं।[2] क्रोधित होने पर वानर का मुख लाल तथा भयानक हो जाता है।[3]

प्राचीन समय में युद्ध से ध्वंस्त नगरों में वानरों को घूमते तथा क्रीड़ा करते देखा जा सकता था।[4] यहाँ वे उपवनों में क्रीड़ा करते थे और वृक्षों के कोमल-शाखा-पलल्वों को तोड़ते थे[5] और फलों को खा जाते थे।

बन्दरों को पालतू बनाने के भी वर्णन मिलते हैं। इस समझदार जन्तु को पालकर प्रशिक्षित किया जा सकता है। नये पकड़े गये बन्दर को गले में वस्त्र और डोरी बाँध कर रखा जाता था। इसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर डोरी खींच कर ले जाते थे।[6]

संस्कृत नाटककारों ने राजकीय मन्दुराओं (अश्वशालाओं) में बन्दरों को रखे जाने का वर्णन किया है।[7] सम्पन्न नागरिकों की मन्दुराओं में भी इनको पाला जाता था[8]। उदयन के राजप्रासाद में मन्दुरा में पाले गये बन्दर का रोचक वर्णन हुआ है। यह मजबूत बन्दर स्वर्ण की शृङ्खला में बंधा रहता था। उसके पैरों में घुंघरू पहनाये गये थे।[9] किसी कारण उसकी जंजीर खुल गई। वह जंजीर खींचता तथा घुंघरू बजाता हुआ राजकीय अन्तःपुर में पहुँच गया और उसने वहाँ भयजनक दृश्य उपस्थित कर दिया।[10]

मन्दुराओं में वानरों को मनोरञ्जन के लिये तो पालते ही होंगे, इसका उपयोग चिकित्सा में भी था। बन्दरों की चर्बी अश्वों के दाह की चिकित्सा में उपयोगी समझी गई थी। 'पञ्चतन्त्र' के 'अपरीक्षितकारक' की एक कथा के अनुसार एक राजा ने मन्दुरा में अनेक बन्दर पाल रखे थे। राजपरिवार के लोग उनकी क्रीडाओं से मनोरञ्जन करते थे और उनको विविध भोज्य पदार्थ खिलाते थे। एक बार अश्वशाला की आग में अनेक अश्वों के जल जाने पर बन्दरों का वध करके उनकी चर्बी से अश्वों की चिकित्सा की गई।

---

१. मृच्छकटिक पृ० ३२८।
२. पिङ्गलवानरेण बलवत् त्रासिता। मालविकाग्निमित्र पृ० ११६।
३. दुष्प्रेक्ष्यः कुपितवानरसदृशः। मृच्छकटिक ८.१००।
४. हनूमन्नाटक १४.८७।
५. आश्चर्यचूडामणि ५.६।
६. सुभद्राधनञ्जय पृ० ६५।
७. विद्धसालभञ्जिका पृ० २२।
८. मृच्छकटिक पृ० १७२।
९. रत्नावली २.२।
१०. रत्नावली २.४।

कवियों ने वानरों को उपमान भी बनाया है। पिङ्गल वर्ण की आँखों को वानर की आँख के[1] तथा लाल मुख को वानर के लाल मुख के[2] समान कहा गया है। कुरूप व्यक्ति की उपमा वानर की आकृति से दी गई है।[3] कालिदास पुरूरवा के विदूषक की उपमा चित्रलिखित वानर से देते हैं।[4]

वानर में देवत्व की कल्पना भी की गई थी। असुरों का विनाश करने तथा धर्म की स्थापना करने के लिये विष्णु द्वारा राम के रूप में अवतीर्ण होने पर अनेक देवता वानरों के रूप में अवतीर्ण हुये थे। वानरों ने राम-रावण युद्ध में राम की सहायता की थी[5]। इनमें हनुमान् विशेष थे। हनूमान् को शिव के अंश से अवतीर्ण भी माना जाता है। भारतवर्ष में हनूमान् के भक्त हिन्दुओं की संख्या बहुत अधिक है। वे शौर्य के प्रतीक हैं। प्राय: सारे भारतवर्ष में हनूमान् के मन्दिर हैं, जहाँ भक्तजन मनोकामनाओं की पूर्ति के लिये इस देवता की उपासना करते हैं। चित्रों में तथा मूर्तियों में हनूमान् को गदाधारी दिखाया जाता है।

१६. विडाल (बिलाव-बिल्ली)—

संस्कृत नाम—विडाल, मार्जार, आखुभुक्, ओतु, वृषदशक

हिन्दी नाम—बिल्ली, बिलाव

अंग्रेजी नाम—Cat

लैटिन नाम—Felis domestica

भारतीय घरों में बिल्लियाँ प्राय: घूमती देखी जाती हैं। ये मुख्यत: दो प्रकार की है—वन्य और ग्रामीण। वन्य बिल्लियाँ (वनबिलाव) बहुत दुष्ट और चालाक होती हैं। वनों के समीप की बस्तियों में घुस कर वे छोटे जन्तुओं को मार कर खा जाने की ताक में रहती हैं। ग्राम्य बिल्लियाँ इतनी खतरनाक नहीं हैं। आहट पाते ही वे भाग जाती हैं। घरों में घुस कर वे भोज्य पदार्थ को हानि पहुँचाती है। परन्तु चूहों को खाकर उनकी रक्षा भी करती हैं। इनको पालतू भी बनाया जा सकता है। पालतू बिल्ली के स्यामी और ईरानी दो भेद प्रसिद्ध हैं।

बिल्ली प्रधानत: मांसाहारी है। परन्तु मनुष्य के साथ रह कर इसने शाकाहार और दुग्धाहार को भी सीख लिया है। मादा बिल्ली एक बार में अनेक बच्चे जनती है तथा थोड़े-थोड़े समय में इनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है।

भारतीय घरों में बिल्लियों के घूमने तथा स्वभाव के विविध पक्षों का कवियों

---

१. पादताडितक श्लोक ६७।

२. बालभारत १.२१। ३. कौमुदीमहोत्सव पृ० २०।

४. आलेख्यगत वानर इव। विक्रमोर्वशीय पृ० १६८।

५. हनूमन्नाटक १४,८७।

ने वर्णन किया है। नर का आकार मादा से बड़ा होता है। नर को ओतु तथा मादा को ओतुपत्नी कहा गया है[1]। इसके नेत्र पिङ्गल वर्ण के होते हैं। यह अति फुर्तीला, तीव्रगामी और कूदने में निपुण पशु है। घरों में घुस कर दूध-दही की ताक में रहता है[2]। दही की मलाई इसको अति प्रिय है[3]।

कवियों ने बिल्लियों द्वारा घरेलू छोटे जन्तुओं के शिकार का वर्णन किया है। चूहे की यह विशेष शौकीन है, जिनको यह बिलों में से खींचकर निकाल लेती है। बिल्ली से पकड़े जाने पर चूहे का छुटकारा नहीं है[4]। मौका पाकर बिल्ली पालतू पक्षियों को भी खा जाती है। वे इसको देखते ही शोर मचाने लगते हैं[5]। पालतू पक्षियों की बिल्लियों से रक्षा के लिये विशेष प्रबन्ध किये जाते थे। कालिदास ने विडाल से पकड़ी कोयल का उल्लेख किया है।[6]

बिल्ली को बहुत धूर्त और चालाक प्राणी समझा गया था। इसको धोखा देना उसी प्रकार कठिन है, जैसे कि धूर्त स्त्री को ठगना। धूर्त स्त्री को ठगना ऐसा ही है, जैसे कि बिल्ली को दूध के स्थान पर मठा पिला देना[7]। बिल्ली की कूदने में निपुणता के कारण कूदने में कुशल व्यक्ति का इसको उपमान बनाया गया है[8]। इसके नेत्रों के पिङ्गल होने के कारण प्रातःकालीन पूर्व दिशा के रंग की उपमा बिल्ली के नेत्रों से दी गई है।[9]

२०. **वृक (भेड़िया)**--

संस्कृत नाम—कोक, ईहामृग, वृक

हिन्दी नाम—भेड़िया

अंग्रेजी नाम—Wolf

लैटिन नाम—Canis lupus

भेड़िया प्रायः सारे भारत में मिलता है। यह बहुत चालाक और छल करने वाला जन्तु है। अलसेशियन कुत्ते की शकल वाला यह जन्तु धोखा देकर शिकार को

---

१. हनूमन्नाटक २.३०।
२. विद्धसालभञ्जिका पृ० ९४।
३. दधिसरपरिलुब्धायाः मार्जारिकायाः। मृच्छकटिक पृ० ४२॥
३. विडालगृहीतमूषक इव निराशोऽस्मि जीविते।
अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ४४५।
५. पादताडितक श्लोक १०२।
६. विडालपरिगृहीतायाः परभृतिकायाः। मालविकाग्निमित्र पृ० ८४।
७. कर्पूरमञ्जरी पृ० ११६।
८. मार्जारः क्रमणे। चारुदत्त ३.११, मृच्छकटिक ३.२०।
९. विद्धसालभञ्जिका १.११।

मार डालने में सक्षम है। यह प्रायः छोटे जन्तुओं को खाता है, परन्तु अनेक भेड़िये मिलकर बड़े पशु को भी मार डालते हैं। कई बार भेड़िये आदमखोर हो जाते हैं और बच्चों को उठाकर ले जाते हैं।

भेड़िया दो-ढाई फीट ऊँचा तथा लगभग तीन फीट लम्बा खाकी-भूरे रंग का होता है। यह युगल रूप में भी रहता है और समूहों में भी। मादा भेड़िया सर्दियों में एक साथ ५–७ बच्चे जनती है।

संस्कृत नाटककारों ने वनों में घूमते भेड़िये का, उनके पद-चिह्नों का वर्णन किया है। सीता ने भेड़िये के पैरों से चिह्नित वन-मार्ग में चरण रखे थे।[१] कुलशेखर वर्मन् हिमालय की अधित्यकाओं में वृकों की उपस्थिति का वर्णन करते हैं।[२]

वृक की दो विशेषतायें नाटकों से अभिव्यक्त होती हैं—प्रचुर खाना और क्रूर होना। इन विशेषताओं से युक्त मनुष्य को वृककर्मा कहा गया है। पाण्डुपुत्र भीम वृककर्मा वृकोदर थे[३]। 'ऋग्वेद' में भी वृकों की क्रूरता वर्णित है। स्त्रियों के हृदय जंगली कुत्तों और भेड़ियों के समान क्रूर होते हैं।[४]

भेड़िया खूब खाता है। मांस का यह लोभी है और मृतकों का भी मांस खा जाता है। युद्धस्थल में मृत वीरों का मांस खाने के लिये भेड़िये प्रचुर संख्या में एकत्रित हो जाते हैं[५]। भेड़ियों को श्माशानों में घूमते तथा मृतकों का मांस खाते देखा जा सकता था[६]।

वृक को भागने में बहुत तेज माना गया था। छिप कर निकल भागने में वह आदर्श है[७]। उसकी पकड़ भी बहुत मजबूत होती है, जो छूटनी कठिन है[८]। अतः ऐसे व्यक्ति की उपमा वृक से दी गई है।

२१. शरभ—

प्राचीन संस्कृत साहित्य में शरभ नामक जन्तु का प्रायः उल्लेख रहा है। कोष-ग्रन्थों तथा टीकाकारों के अनुसार यह आठ पैरों वाला अष्टापद जन्तुविशेष है। इस प्राणी की पहचान नहीं हो सकी है, क्योंकि वर्तमान समय में यह प्राप्त नहीं होता। डा० भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार यह पशु कवियों की कल्पनामात्र है। कालिदास ने ऊँचे हिमालय पर शरभों का वर्णन किया है, जो मेघों को भी लांघ सकते हैं।[९]

---

१. आश्चर्यचूडामणि १.१३। २. तपतीसंवरण २.१।
३. वेणीसंहार ५.२५। ४. ऋग्वेद १०.९५.१८।
५. वीणावासवदत्तम् २.२०। ६. मालतीमाधव ५.१४।
७. वृकोऽपसरणे। चारुदत्त ३.११।
८. वृक इव च ग्रहणे। मृच्छकटिक ३.२१।
९. मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लंघयेयुर्भवन्तम्। पूर्वमेघ श्लोक ५८।

'हनूमन्नाटक' और 'तपतीसंवरण' में शरभ का उल्लेख हुआ है। 'हनूमन्नाटक' के अनुसार यह पशु दक्षिण वनों में[1] और 'तपतीसंवरण' के अनुसार हिमालय की अधित्यकाओं[2] में होता है।

२२. शश (खरगोश)—

संस्कृत नाम—शश, शशक, मृदुरोमन्, रोमकर्ण

हिन्दी नाम—खरगोश

अंग्रजी नाम—Hare

लैटिन नाम—**Lepus nigricollis**

खरगोश प्रायः सारे भारतवर्ष में पाया जाता है। विभिन्न स्थानों पर रहने के कारण इसकी अनेक जातियाँ हो गई हैं, परन्तु सूरत-शकल और स्वभाव में ये सब एकसे ही हैं।

लगभग ढाई किलोग्राम का खरगोश १८–२० इंच लम्बा पशु है। पूंछ तीन-चार इंच लम्बी होती है। खरगोश की मादा नर से कुछ बड़ी होती है। सामान्यतः इस पशु का वर्ण भूरा होता है, परन्तु अन्य रंगों की, विशेष रूप से श्वेत वर्ण की जातियों का भी विकास किया गया है।

खरगोश का मुख्य भोजन कोमल घास और पौधे है। वैसे तो यह पशु सीधा और निरीह है, परन्तु खेतों को बहुत हानि पहुँचाता है। खरगोश बहुत तेज दौड़ता है तथा इसकी वंशवृद्धि भी तीव्र गति से होती है। मादा खरगोश प्रतिमास एक-दो बच्चे जनती है। ये बच्चे भी ६ महीने बाद सन्तान उत्पन्न करने लगते हैं।

संस्कृत लोक-कथाओं के अनुसार शश बुद्धिमत्ता का प्रतीक है। शूद्रक ने इसकी दृष्टि तीव्र तथा दूरगामी बताई है[3]। भारतीय लोक-कथाओं में चन्द्रमा की गोदी में शश बैठा है, इसी कारण चन्द्रमा को शशिन् कहा गया है। इस पद का प्रयोग संस्कृत नाटककारों ने भी किया है।[4]

२३. शृगाल (गीदड़)—

संस्कृत नाम—शृगाल, सृगाल, गोमायु, मृगधूर्तक, भूरिमाय, वञ्चक, क्रोष्टा, फेरू, जम्बुक, शिवालु, शिवा (गीदड़ी)

हिन्दी नाम—गीदड़

अंग्रेजी नाम—Jackal

लैटिन नाम—**Canis aureus**

---

१. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०। २. तपतीसंवरण २.१।
३. शश इव भुवनावलोकने। मृच्छकटिक ३.२१।
४. मुद्राराक्षस १.८।

गीदड़ की लोक में अवधारणा एक धूर्त-चालाक पशु के रूप में है। यह वन्य पशु सारे भारतीय वनों में खुले मैदानों में तथा ३–४ हजार फीट की ऊंचाई तक की पर्वतीय भूमियों में मिलता है। बस्तियों के समीपस्थ वनों में भी वे रहते हैं। ये बस्तियों में घुस जाते हैं और छोटे जन्तुओं तथा बच्चों तक को उठा ले जाते हैं। ये अकेले या युगल में या समूहों में भी देखे जाते हैं। हुआ-हुआ करके चिल्लाते हैं। एक गीदड़ के चिल्लाने पर दूर-दूर तक के गीदड़ चिल्लाने लगते हैं।

सामान्यतः कुत्ते जैसी शक्ल वाले गीदड़ की ऊचाँई १½ फीट तथा लम्बाई २½ फीट तक होती है। यह मांसाहारी पशु है, परन्तु फल-सब्जी भी खाता है और खेतों को बहुत हानि पहुँचाता है। इसकी मादा एक बार में अनेक बच्चों को जन्म देती है।

कवियों ने शृगाल को अति तुच्छ स्वभाव का कल्पित किया है। मांस खाने का यह लोभी मुर्दों का मांस खाने वाले जन्तुओं—गृध्र, काक, वृक और शृगाल में परिगणित है[1]। मृत पशुओं का मांस खाने के लिये शृगाल वनों में घूमते रहते हैं।[2]

शृगालों का शमशान में घूमने का प्रचुर वर्णन है। रात्रि में वे उच्च स्वर से चिल्लाते हैं[3]। उनकी चीखें मुर्दों का मांस खाने के लिये होती हैं[4], जिनको ये नोच-नोच कर खाते हैं[5]। नर गीदड़ों के साथ उनकी मादायें भी मुर्दों को खाने के लिये शमशान में घूमती हैं[6]। मृत्यु-दण्ड प्राप्त सूली पर लटके हुये अपराधियों के मृत शरीरों को शृगाल खींच कर ले जाते थे और खा जाते थे[7]। मोटे मांसल व्यक्ति का शव मिलने पर अनेकों शृगालों की उदरपूर्ति हो सकती है[8]।

युद्ध-क्षेत्रों में मृत वीरों का मांस खाने के लिये घूमती हुई गीदड़ियाँ[9] और शोर मचाते हुये गीदड़[10] प्रायः दृष्टिगोचर हो जाते थे। इनको ध्वंस्त नगरों में घूमते और चिल्लाते हुये देखा जा सकता था[11]।

शृगाल और कुत्तों में परस्पर वैर-भाव का वर्णन हुआ है। शृगालों के कभी नगरों में निकल आने पर कुत्ते उनका पीछा करते हैं।[12] भौंकते कुत्तों द्वारा पीछा

---

१. हनूमन्नाटक ८.२०।
२. वने शृगालेन यथा मृताङ्गम्। मृच्छकटिक ८.१६।
३. मालतीमाधव ५.१६। ४. चण्डकौशिक ४.८।
५. चण्डकौशिक ४.६। ६. नागानन्द ५.१८।
७. अर्ध कलेवरं प्रतिवृत्तं कर्षन्ति दीर्घगोमायवः। मृच्छगटिक १०.३५।
८. मृच्छकटिक पृ० १८०। ९. बालरामायण पृ० ४५६।
१०. वेणीसंहार १.१०, वीणावासवदत्तम् २.२०।
११. हनूमन्नाटक १४.८७।
१२. अनुबध्यमाना शृगालीव कुक्कुराभ्याम्। चारुदत्त १.१०।

करने शृगाल सीधे अपने घर को वन में भाग जाते हैं ।[1] वनों में शिकारी कुत्ते शृगाल का पीछा करके उनको मार डालते हैं ।[2]

शृगाल के कायर, तुच्छ और हीन स्वभाव को कवियों ने उपमान बनाया है । इस प्रकार के स्वभाव के व्यक्ति को 'शृगाल" कह कर गाली दी जाती थी ।[3] शृगाल को अत्यधिक कपटी रूप का भी उपमान बताया गया है ।[4] पराक्रम के अयोग्य माना जाना के कारण शृगाल से उपमा हीनबल व्यक्ति की दी गई है । हीनबल व्यक्ति का बलवान् पर आक्रमण इसी प्रकार का है, जैसे कि शृगाल द्वारा हाथी पर आक्रमण करना ।[5] शृगाल विशेष प्रकार से भद्दे रूप से चीखता है, अतः भद्दा चीखने वाले मनुष्य शृगाल के समान होते हैं ।[6]

शृगाल को अशुभ का सूचक भी माना गया था । मध्याह्न के समय गीदड़ों का घूमना और चिल्लाना अशुभ की सूचना देता है ।[7]

२४. सिंहजातीय हिंस्र जन्तु—सिंह, व्याघ्र, तिन्दुक, चित्रक—

सिंह, व्याघ्र (बाघ), तिन्दुक (तेन्दुआ) और चित्रक (चीता) यद्यपि भिन्न-भिन्न पशु हैं, तथापि उनको प्रायः एक मान कर काव्यों में अनेक स्थानों पर सिंह नाम से अभिहित कर दिया गया है । आधुनिक जन्तु विज्ञान के अनुसार ये चारों जन्तु एक ही बिल्ली परिवार (Felidae Family) के हैं । यद्यपि संस्कृत कोष-ग्रन्थों में सिंह तथा उसके सदृश मांसभक्षी पशुओं के चार भेदों—सिंह(Lion) (शेर), व्याघ्र (Tiger) (बाघ), तिन्दुक (Leopard) (तेन्दुआ) और चित्रक (Panther) का वर्णन है,[8] तथापि काव्यकारों ने इन भेदों की विशेष परवाह नहीं की । अतः इन चारों जन्तुओं का वर्णन एक ही शीर्षक के अन्तर्गत किया जा रहा है । तथापि उनके भिन्न नामों की सूचना अवश्य दी जा रही है ।

सिंह—

संस्कृत नाम—सिंह, मृगेन्द्र, पञ्चास्य, हर्यक्ष, केसरी, हरि, कण्ठीरव

हिन्दी नाम—सिंह, शेर

अंग्रेजी नाम—Lion

लैटिन नाम—Panthera leo

---

१. कुक्कुरैः कुक्कुरीभिश्च बुक्वयमानो यथा शृगालः । मृच्छकटिक १.५२ ।
२. चण्डमभिसार्यमाणा वने शृगालीव कुक्कुरैः । मृच्छकटिक १.२८ ।
३. मृच्छकटिक पृ० ३०८ ।
४. शृगाल इव कपटं करोति । मृच्छकटिक पृ० ३१२ ।
५. गजो वा सुमहान् मत्तः शृगालेन निहन्यते । अभिषेकनाटक ३.२० ।
६. कौमुदीमहोत्सव पृ० ४६ । ७. हनूमन्नाटक ३.२ ।
८. अमरकोष २.५.१ ।

व्याघ्र—

संस्कृत नाम—शार्दूल, द्वीपी, व्याघ्र
हिन्दी नाम—बाघ
अंग्रेजी नाम—Tiger
लैटिन नाम—Panthera tigris

तिन्दुक—

संस्कृत नाम—तरक्षु, मृगादन, तिन्दुक
हिन्दी नाम—तेन्दुआ
अंग्रेजी नाम—Leopard, Hyena
लैटिन नाम—Hyaena hyaena

चित्रक—

संस्कृत नाम—चित्रक
हिन्दी नाम—चीता
अंग्रेजी नाम—Panther
लैटिन नाम—Panthera pardus

सिंह पशुओं का तथा वन का राजा है। यह अधिकतम शक्तिशाली, बहादुर और साहसी है। भारत सरकार के राजचिह्न में सिंह अङ्कित है। सिंह के कन्धे पर बाल (रसर, सटा) होने से यह केसरी कहलाता है। पूँछ के सिर पर भी बालों का गुच्छा रहता है। शरीर के अन्य अङ्गों की अपेक्षा इसका मुख अधिक विस्तृत होता है, अतः यह पञ्चास्य का पञ्चानन (पञ्च विस्तृतम् आननं यस्य स) कहलाता है। भूरे शरीर वाले इस सिंह की ऊँचाई ३-३½ फीट तथा लम्बाई ६-६½ फीट होती है। पूँछ भी २½-३फीट लम्बी होती है। यह विशुद्ध रूप से मांसाहारी जन्तु है तथा स्वयं का मारा हुआ शिकार खाता है। भारतवर्ष में सिंहों का बुरी तरह शिकार किया गया है तथा इसको संख्या बहुत कम रह गई है। इस समय काठियावाड़ के वनों में ही सिंह रह गये हैं, जिनकी संख्या अनुमानतः १००–२०० के मध्य है। अन्य कुछ स्थानों पर भी इसकी वृद्धि के प्रयत्न किये गये हैं। सिंह प्रायः अकेले या अपनी मादा के साथ रहना पसन्द करते हैं। सिंहनी ८–६ महीने बाद २–३ बच्चे जनती है। ये ५–६ महीने माता के साथ रह कर अलग हो जाते हैं।

सिंह के पश्चात् व्याघ्र सबसे शक्तिशाली है। यह लगभग सारे देश के वनों में विद्यमान है। बंगाल, विन्ध्य तथा हिमालय के वनों में इसकी संख्या अधिक है। हिमालय में यह ६०००–६५०० फीट की ऊँचाई तक मिलता है। व्याघ्र का शरीर सिंह से कुछ छोटा, ऊँचाई तीन-साढ़े तीन फीट, लम्बाई साढ़े पांच-छः फीट, पूँछ ढाई-तीन फीट होती है। इसके कन्धे तथा पूँछ पर बाल नहीं होते। बादामी रंग के

शरीर पर आड़ी धारियाँ होती हैं, जो इसको लम्बी घास के मैदानों में तथा वनों में छिपने में सहायता देती हैं। बाघ विशुद्ध मांसाहारी जन्तु है, जो स्वयं शिकार करके पेट भरता है। सामान्यत: यह मनुष्य पर आक्रमण नहीं करता, परन्तु भूखा होने पर अवसर पाकर मनुष्य को मार कर खा जाता है। एक बार आदमखोर होने पर इसको मनुष्य के मांस का चसका लग जाता है। व्याघ्र अपनी मादा के साथ रहता है। बाघिन लगभग चार महीने बाद २–६ बच्चे जनती है।

तेन्दुआ भी सिंह का भाई-बन्द है। सिंह से कुछ छोटा होते हुये भी वह चालाकी और फुर्ती में कम नहीं है। पंजाब को छोड़ कर यह प्रायः सारे भारतीय वनों में मिलता है। इसकी ऊँचाई लगभग दो-ढाई फीट, लम्बाई ४-५ फीट और पूँछ तीन फीट तक होती है। शरीर हल्की लाली लिये हल्का भूरा होता है। पीठ, पूँछ और दोनों बगलों पर गोल छल्ले (गुल) होते हैं, जिनके मध्य का रंग पीला होता है। इन गुलों के कारण इसको गुलदार भी कहते हैं। तेन्दुआ ताकतवर, फुर्तीला और धूर्त पशु है। यह छिपकर आक्रमण करता है तथा खतरा देखकर छिप जाता है। यह वृक्षों पर चढने तथा जल में तैरने में भी कुशल है। तेन्दुआ अकेले या समूह में रहता है। इसकी मादा एक बार में २–४ बच्चे जनती है।

चित्रक (चीता) भी सिंह का ही भाई-बन्द है। परन्तु आकार में काफी छोटा है। दक्षिण भारत, मध्य प्रदेश, राजपूताना तथा पञ्जाब के वनों में किसी समय बहुत चीते थे, परन्तु अधिक शिकार होने के कारण उनकी संख्या बहुत कम रह गई है। चीते की ऊँचाई लगभग दो-ढाई फीट, लम्बाई ४-५ फीट और पूँछ ढाई फीट होती है। बादामी भूरे शरीर पर काली चित्तियाँ होने के कारण इसको चित्रक कहते हैं। चित्तियों के भीतर किसी प्रकार का रंग नहीं होता। चीता विश्व का सबसे तेज दौड़ने वाला पशु है, जो अपने शिकार पर तेजी से टूटता है। इसको पाला भी जा सकता है। इसको लोहे की जंजीरों से बाँध कर रखते हैं। शिकार के शौकीन इसकी सहायता से हिरन आदि पशुओं का शिकार करते हैं। मादा चीता एक साथ २-४ बच्चे जनती है।

संस्कृत साहित्य में तथा नाटकों में भी सिंह को पराक्रम, शौर्य, शक्ति, साहस और स्फूर्ति का प्रतीक माना गया है। शूद्रक का कथन है कि बल का आदर्श सिंह है।[1] पराक्रम तथा साहस के कारण सिंह को पशुओं का राजा, मृगराज, मृगेन्द्र मान लिया गया था। सिंह के निवास, स्वरूप तथा गुणों का विशेष संकेत संस्कृत नाटकों में उपलब्ध है।

सिंह मांसभक्षी पशु है। यह घने वनों तथा पर्वतों की उपत्यकाओं में रहता है। विभिन्न वनों, विशेष रूप से दक्षिण वन, विन्ध्य वन और हिमालय के वनों में

---

१. बले च सिंहः। मृच्छकटिक ३.२१।

इसकी उपस्थिति कही गई है। 'हनूमन्नाटक' में पर्वतों की उपत्यकाओं[1] और दक्षिण वनों में रहने वाले सिंहों का वर्णन है।[2] राजशेखर विन्ध्य वनों में सिंहों का वर्णन करते हैं[3] भास के अनुसार गोकुल के समीप यमुना के तट पर सिंह रहते थे। कालिय नाग के विष से विषैले यमुना-जल को पीकर वे मर जाते थे।[4] वे विन्ध्य वनों में भी सिंहों की उपस्थिति बताते हैं।[5]

बस्तियों के समीपवर्ती वनों में सिंहों के रहने तथा बस्तियों में आकर उपद्रव करने के वर्णन मिलते हैं। युद्ध आदि कारणों से नगरों के ध्वस्त और जनहीन हो जाने पर समीपस्थ वनों से सिंह आदि क्रूर हिंस्र जन्तु आ जाते थे।[6]

वनों में सिंह आदि पशु छोटे हरिण आदि पशुओं का शिकार करके जीवन-निर्वाह करते हैं। क्रूर तथाहिंस्र स्वभाव का यह पशु निर्बल पशुओं की गरदन पर सवार होकर उनका रक्त पी जाता हैं।[7] सिंह के समीप रहने पर मृगों का विनाश निश्चित है।[8] कवियों ने सिंहों द्वारा हरिणों का पीछा करने तथा शिकार करने के रोमाञ्चक वर्णन किये हैं। हरिणियाँ इनको देख कर भय से विह्वल हो जाती है।[9] वे डर कर भागती हैं तथा सिंह पीछा करते हैं।[10] परन्तु ये निर्बल पशु बच कर भाग नहीं सकते तथा पकड़े जाते हैं।[11] व्याघ्र आदि सिंह पशु वनों में गौओं और बैलों का भी पीछा करते हैं।[12]

वन्य हाथियों के साथ सिंहों के वैर का वर्णन कवियों ने प्रायः किया है। हाथी को देखते ही सिंह उस पर तुरन्त आक्रमण करता है। इस प्रकरण को हाथी के प्रसंग में दिया जावेगा।

सिंहों की उपस्थिति के कारण मनुष्यों के लिये वनों में जाना सुरक्षित नहीं था। मनुष्यों पर वे आक्रमण कर सकते थे, अतः राजा का कर्तव्य था कि वह वन्य सिंहों का शिकार करके मार्गों को भयरहित बनावे।[13] सिंहों का शिकार होने पर ही

---

१. हनूमन्नाटक २.२३।
२. हनूमन्नाटक पृ० ६६–७०।
३. बालरामायण ४.४५। ४. बालचरितम् पृ० ७४।
५. सिंहानामसमाप्त एव विरुते त्यक्त्वा स विन्ध्य वनम्। प्रतिज्ञायौगन्धरायण ३.५।
६. हनूमन्नाटक १४.८७।
७. अभिनवकण्ठशोणितार्थी शार्दूलः। अभिज्ञानशाकुन्तल ६.२७।
८. वीणावासवदत्तम् पृ० २७।
९. सिंहदर्शनवित्रस्ता मृगी। अभिषेकनाटक २.१३।
१०. व्याघ्रानुसारचकिता हरिणीव यासि। मृच्छकटिक १.१७, चारुदत्त १ ६।
११. व्याघ्रानुसारवित्रस्तमृगपोतिकेव। उभयाभिसारिका पृ० १२७।
१२. व्याघ्रानुसारचकितो वृषभः सधेनुः। मध्यमव्यायोग १.३।
१३. अविमारक पृ० १५०।

वन सुप्रवेश्य हो सकते थे[१]। वीर शिकारी राजा वनों में जाकर शिकार के लिये सिंहों को खोजते थे[२]। सिंहों की उपस्थिति के कारण वन अति भीषण थे[३]।

सिंहों को पकड़ कर लौह-पिंजरों में नगरों में प्रदर्शन भी कराये जाते थे। जनसामान्य के लिये यह मनोरञ्जन का हेतु रहा था। वनों में सिंह, व्याघ्र आदि को इस कुशलता से पकड़ा जाता था कि वह किसी मनुष्य को हानि न पहुँचा सके। इससे वह अन्दर से क्रोधित तो बहुत होता था, परन्तु किसी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता था[४]। परन्तु कभी-कभी ये पशु पिंजड़े को तोड़ कर बाहर निकल कर नगरों में उपद्रव कर देते थे।

'मालतीमाधव' में एक इसी प्रकार की घटना का वर्णन है। उपद्रवी शार्दूल ने सांकल तोड़ कर पिंजरा खोल लिया। वह विशाल और भयङ्कर आकार का व्याघ्र स्वतन्त्र होकर नगर में घूमने लगा और अनेक प्राणियों को खा गया। खुले मुख से दिखाई देने वाले उसके दांत अति भीषण थे। एक ही प्रहार से अनेक मनुष्यों और घोड़ों को मार कर तथा उनके रुधिर को गले तक भर कर वह भीषण गर्जना करने लगा। अनेक लोग मारे गये थे तथा अनेक डर कर भाग रहे थे। सारे मार्गों पर रक्त की कीचड़ हो गई थी। इस प्रकार वह यमराज का खेल दिखा रहा था[५]।

कवियों ने सिंह को क्रीड़ा, स्नेह, वात्सल्य और कुतूहल का आश्रय भी बनाया है। इनको बच्चों के समान पाला जाता था। ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सिंह निर्भय होकर घूमते थे और किसी को हानि नहीं पहुँचाते थे। इनकी मादायें भी वहाँ रहती थीं। ऋषियों के तप और स्नेह के प्रभाव से सिंहनियाँ मृग-शावकों को भी अपना दूध पिला देती थीं[६]। तपोवन के रहने वाले बालक सिंह–शावकों से खेल कर अपना मन बहलाते थे। मारीच के आश्रम में सिंहनी का स्तन्यपान करते हुये सिंह–शावक से शकुन्तला का पुत्र अरिमर्दन खेलना चाहता था और उसको बलपूर्वक खींच रहा था[७]।

सिंह का पराक्रम मनुष्य के पौरुष का लोक प्रसिद्ध उपमान रहा। सिंह के साथ क्रीड़ा करना और पराक्रम प्रदर्शित करना शौर्य का प्रतीक था। मारीच के

---

१. वनमिव हतसिंहः सुप्रवेश करोमि। कर्णभार १.१४।
२. अयं शार्दूलः। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० १८४।
३. शतं च व्याघ्राणां निसर्गभीषणम्। मत्तविलास श्लोक १६।
४. सिंहमन्तर्गतार्थम्। प्रतिज्ञायौगन्धरायण २.१०।
५. मालतीमाधव पृ० १६१–१६२।
६. सुभद्राधनञ्जय १.६।
७. प्रक्रीडितु सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति। अभिज्ञानशाकुन्तल ७.१४।

आश्रम में सिंहशावक के मुख को खोलते हुये अरिमर्दन कहता है—अरे सिंह ! मुख खोल, तेरे दाँतों को गिनूँगा[1] । चन्द्रगुप्त का पराभव करने के लिये राक्षस के उद्योगों के सम्बन्ध में चाणक्य कहता है—कौन ऐसा वीर है, जो सिंह को पराजित करके उसकी दाढ को उखाड़ लेना चाहता है[2] ।

कवियों ने सिंह को पुरुषोचित शौर्य और सौन्दर्य का उपमान भी बनाया है । वीर पुरुषों के लिये पुरुषसिंह, पुरुषव्याघ्र, नरसिंह, नरशार्दूल आदि पद अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुये हैं । सिंह की पतली कटि क्षीण-कटि पुरुष के सौन्दर्य की वाचक है । सिंह के उन्नत और चौड़े अंगों को सुन्दर और सुडौल पुरुष के उन्नत अंगों का उपमान बनाया गया है[3] । कवियों ने सुन्दर युवतियों की क्षीण कटि की उपमा भी सिंह की कटि से दी है[4] ।

सिंह में प्राचीन मनीषियों ने देवत्व की कल्पना भी की थी । भगवान् विष्णु ने नृसिंह रूप में अवतार लिया था, जिसमें उनके शरीर का ऊपर का आधा भाग सिंह का था । सिंह को भगवती दुर्गा का वाहन होने का भी गौरव मिला । उनका एक नाम सिंहवाहिनी प्रसिद्ध है । दुर्गा की सिंहवाहिनी मूर्तियां मन्दिरों में प्रतिष्ठित की जाती हैं ।

२५. हस्ती (हाथी)—

संस्कृत नाम—गज, दन्ती, दन्तावल, हस्ती, द्विरद, द्विप, अनेकप, मतङ्गज, नाग, कुञ्जर, वारण, करिन्, इभ, स्तम्बेरम, पद्मी, मातङ्ग, सिन्धुर ।

हिन्दी नाम—हाथी ।

अंग्रेजी नाम—Elephant.

लैटिन नाम—**Elephus indica.**

हाथी सबसे अधिक लम्बा-चौड़ा तथा भारी पशु है । इसकी ऊँचाई लगभग १० फीट होती है । सूंड से पूँछ तक यह अपनी लम्बाई से तिगुना होता है ।

हाथी मूलतः आरण्य पशु है, परन्तु पकड़ कर सरलता से पालतू बनाया जा सकता है । प्राचीन समय में वनों की बहुतायत थी और उनमें हाथी भी बहुत संख्या में थे । अब भी हिमालय की तराई के प्रदेशों में, मध्यभारत और दक्षिण के वनों में काफी संख्या में हाथी हैं । हाथी समूह में रहना पसन्द करते हैं, परन्तु विशेष विधि से पकड़े जाकर सरलता से पाले जा सकते हैं । इसकी आयु काफी लम्बी, लगभग १००-१२५ वर्ष होती है । हथिनी १८-२० महीने में एक बच्चा

---

१. जृम्भस्व सिंह ! दन्तांस्ते गणयिष्यामि । अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ४७२ ।

२. को हर्तुमिच्छति हरेः । परिभूय दंष्ट्राम् । मुद्राराक्षस १.८८ ।

३. सिंहपीनोन्नतांसः । मृच्छकटिक ७.५ ।

४. आश्चर्यचूडामणि १.१३

जनती है। हाथी की सूँड बहुत उपयोगी है। इससे यह भोजन के पदार्थों को उठा कर खाता है। पानी भरकर मुख में उंडेलता है और शत्रु को लपेट कर पैरों से कुचल देता है। नर हाथी के मुख से दो लम्बे भारी दांत बाहर निकले होते हैं। ये अति मूल्यवान् समझे जाते हैं। इनके आभूषण तथा अन्य सजावट की वस्तुयें बनाई जाती हैं।

पालतू हाथी अति उपयोगी है। यह राजसी वाहन माना गया और समृद्धि का प्रतीक रहा। इसको अति श्रेष्ठ धन समझा जाता था[1]। भार-वाहन के लिये यह अत्यधिक उपयोगी है। प्राचीन समय में सेनाओं में इसका उपयोग था। चतुरङ्गिणी सेना का एक प्रमुख अङ्ग गजसेना थी। एक छोटे अङ्कुश से महावत इस पर नियन्त्रण रख सकता है। इस पशु को अति बुद्धिमान् समझा जाता है।

प्राचीन भारत में जन-जीवन में हाथी का महत्वपूर्ण स्थान था। हाथी की सवारी प्रतिष्ठा और वैभव की सूचक थी। किसी व्यक्ति को सम्मान देने के लिये हाथी पर बैठाया जाता था[2]।

प्राचीन समय के राजप्रासाद, धनिकों के हर्म्य, नगरों के मार्ग, अरण्य, तपोवन आदि सभी स्थानों पर हाथी सुशोभित दृष्टिगोचर होते हैं। कालिदास की कृतियों में राज्य की ओर से हाथियों के पकड़े जाने का विस्तृत वर्णन है[1]। 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में राजप्रासादों तथा मन्त्रियों के आवासों में हाथियों की उपस्थिति दिखाई गई है। अनेक संस्कृत नाटकों में हाथियों का रोचक वर्णन हुआ है।

प्राचीन समय में गजशास्त्र (हस्तिविद्या) का उत्तम विकास हो गया था। हस्तिशिक्षा विशेष अध्ययन का विषय था। शूद्रक हस्तिशिक्षा में पारङ्गत था[4]। काव्यों के रचयिता कवि गजशास्त्र का भी अध्ययन करते थे। काव्य के तीन हेतुओं में निपुणता के लिये गजशास्त्र के अध्ययन का भी संकेत है[5]। संस्कृत नाटककारों ने उत्तम हाथी की पहचान बताई है। शक्तिभद्र लिखते हैं—

उत्तम हाथियों के अग्रभाग सम और सित होते हैं। पीठ की हड्डी धनुषाकार, उभरी होती है। हनु, गण्डस्थल और मस्तक सुन्दर होते हैं। पूंछ लम्बी, अंस मजबूत, सूँड लम्बी-गोल, मुख तथा कान बड़े, शरीर श्यामल और शरीर का अगला भाग ऊँचा होता है[6]।

---

१. रघुवंश ४.४०, ४.७५, ५.७२, १६.२।

२. मृच्छकटिक १.४।

३. शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोषकलागजतुरगादिलक्षणग्रन्थानाम्। काव्यप्रकाश १.३ की वृत्ति।

४. समसितनखराग्रः कार्मुकाकारवंशः
सुहनुकटललाटो दीर्घपुच्छो दृढांसः।
पृथुतरमुखकर्णो व्यायतावृतहस्तो
जलधरगुरुमेघश्यामपूर्वोच्छ्रिताङ्गः ॥ वीणावासवदत्तम् २.११।

मम्मट ने शाब्दी व्यञ्जना के उदाहरण के रूप में उत्तम हाथी के लक्षण उद्धृत किये हैं—उत्तम हाथी भद्र जाति का होता है। इसकी पीठ की हड्डी ऊँची, विशाल, उठी होती है। अधिक ऊँचा होने से इस पर चढ़ना कठिन होता है। मजदल के कारण इस पर भौंरे मंडराते रहते हैं। गति अनुद्धत होती है। सूँड मद से भीगी रहती है और अत्यधिक शक्तिशाली होने से इसको वश में रखना कठिन होता है[१]।

भास के अनुसार नील वर्ण का हाथी विशेष गुणशाली और हाथियों में चक्रवर्ती होता है। इसके मुख और दन्त बाहर से दिखाई नहीं देते[२]। कपोलों से मदजल बहता है, जो सप्तच्छद के पुष्पों के समान सुगन्धित होता है[३]। पर्वतों के समान विशाल उत्तम हाथियों की गर्जनायें गम्भीर होती हैं। नख और दांत श्वेत होते हैं। ये युद्धों में शत्रुओं का विनाश करते है।[४]

शूद्रक ने श्याम वर्ण हाथियों की प्रशंसा की है। आकाश में उड़ते मेघों की घटायें हाथियों की पंक्तियों के समान होती हैं।[५] कालिदास हाथियों के पदचिह्नों का संकेत करते हैं। हाथियों के पैरों के बड़े निशान उसके जाने पर भी उसकी पहचान करा देते हैं।[६] गजशास्त्र के अनुसार हाथी के पद–चिह्नों से उसकी आयु, स्वभाव आदि का बोध हो सकता है।

नाटकों में समुद्री हाथी (जलमातङ्ग) का भी उल्लेख हुआ है। यह वास्तविकता है या कवि की कल्पना है, कहा नहीं जा सकता। तथापि इसकी पहचान करने का प्रयास किया गया है। जलचरों में इसका वर्णन है। ये विशालकाय हाथी समुद्र को भी सोखने की सामर्थ्य रखते हैं[७]।

हाथी के मूलतः आरण्य होने से कवियों ने वनों में इनके रोचक वर्णन किये हैं। हिमालय की तलहटियाँ, विन्ध्य वन और दक्षिण वन इनके प्रमुख स्थान थे। हिमालय की तलहटी के वनों में शिकार खेलते हुये दुष्यन्त को हाथी के दर्शन हुये थे। उसके रथ को देखकर भयभीत हाथी ने कण्व के तपोवन में उपद्रव मचा दिया

---

१. भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत।
काव्यप्रकाश द्वितीय उद्योत।

२. प्रतिज्ञायौगन्धरायण पृ० १७।

३. कर्णभार १.११।

४. कर्णभार १.२०।

५. मृच्छकटिक ५.१९–२१।

६. पदानि दृष्ट्वा तु भवेत्प्रतीतिः। अभिज्ञानशाकुन्तल ७.३१।

७. विक्रमोर्वशीयम् ४.५४।

था[1]। राजशेखर विन्ध्यारण्य में हाथियों की उपस्थिति प्रदर्शित करते हैं[2]। बिज्जिका के अनुसार इन वनों में हाथी मदजल की सुगन्ध को प्रसरित करते थे[3]। इस मद-जल से नदियों का जल भी तिक्त हो जाता था[4]। भास ने नर्मदा के तटवर्ती वनों में[5] और यमुना के कच्छ प्रदेशों में हाथी बताये हैं। यमुना के तट पर गोकुल के समीप अनेक हाथी कालिय नाग के विष से दूषित जल का पान करके मर जाते थे[6]। शक्तिभद्र ने यमुना के कच्छ प्रदेशों में उत्तम जाति के हाथियों के मिलने की बात कही है[7]। मलय पर्वत के वन भी अच्छी जाति के हाथियों के लिये प्रसिद्ध थे[8]। कामरूप और कलिङ्ग के वनों में भी अच्छे हाथी मिलते थे[9]।

वनों में हाथी की शक्ति तथा भ्रमण का वर्णन भी नाटककारों ने किया है। अधिक परिश्रम करने से पर्वतीय हाथी में चर्बी कम और शक्ति अधिक होती है[10]। वनों में हाथियों का समूह यूथप के निर्देशन के अनुसार घूमता है। यूथप ही इनके भ्रमण और विश्राम की व्यवस्था करता है। ग्रीष्म ऋतु में वह शीतल स्थान को खोजकर सबको वहां ले जाता है[11]।

वनों में हाथियों को पकड़ने की विशेष विधियों का कवियों ने संकेत दिया है। इस कार्य के लिये विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाता था। जालों की[12] तथा प्रशिक्षित हाथियों की सहायता से वन्य हाथियों को पकड़ा जाता था[13]।

हाथियों को पकड़ने के कार्य आरम्भ करते समय विशेष कर्मकाण्ड आयोजित किये जाते थे। बाल, अग्निहोत्र और स्वस्तिवाचक होते थे। ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती थी। वनों में हाथियों के रहने के स्थान को चारों ओर से घेर कर पताकायें उठाई जाती थी। उनके निकलने के सम्भावित स्थानों पर बांस, दण्ड, पत्थर, अंकुश, जाल और आयुध लेकर सैनिक सन्नद्ध रहते थे। पूरे शरीर पर चर्म-कञ्चुकों से आच्छन्न पालतू हाथियों पर हाथों में मजबूत रस्से लिये सैनिक तैयार रहते थे। वन्य हाथियों के बाहर निकलते ही उनके पैरों पर रस्से इस प्रकार फैंके जाते थे

---

१ धर्मारण्य प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः अभिज्ञानशाकुन्तल १.३१।
२. बालरामायण ४.४५।
३. कौमुदीमहोत्सव १.१८।
४. तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैः। पूर्वमेघ श्लोक २१।
५. प्रतिज्ञायौगन्धरायण ४.१६। ६. बालचरितम् पृ० ७४।
७. वीणावासवदत्तम् पृ० ११–१३। ८. नागानन्द १.६।
९. रघुवंश ४.४०, ४८३।
१०. गिरिचर इव नागः प्राणसारं बिभर्ति। अभिज्ञानशाकुन्तल २.४।
११. यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्रः। अभिज्ञानशाकुन्तल ५.५।
१२. बालभारत पृ० ४७। १३. वीणावासवदत्तम् १.१७।

कि पैर बन्ध जावे।[१] वन्य हाथियों को पकड़ने के लिये पालतू हथिनियों का भी उपयोग होता था। इनके आकर्षण से वे स्वयं भी वशीभूत हो जाते थे।[२]

आरण्य हाथियों को प्रशिक्षित करने का भी वर्णन कवियों ने किया है। यह कौशल का कार्य था, जिसके लिये विशेष बुद्धि की आवश्यकता थी।[३] हाथी को कोमल व्यवहार से ही वशीभूत और प्रशिक्षित किया जा सकता है।[४] हाथियों के प्रशिक्षित करने के लिये विशेष शिक्षकों की, आधोरणों की नियुक्ति की जाती थी। इनके द्वारा शिक्षित हाथी तीव्र गति से भागते हैं।[५]

प्राचीन साहित्य में हाथियों के मदजल और गजमुक्ता का बहुधा उल्लेख है। युवा होने पर उत्तम जातियों के हाथियों के शरीर से एक विशेष प्रकार का काले रंग का सुगन्धित जल बहने लगता है। इसको मदजल कहते हैं।[६] मदजल को स्रवित करने वाले हाथी गन्धगज कहलाते हैं।[७] इसके स्पर्श से वायुमण्डल भी सुगन्धित हो जाता है[८] और इस पर भौंरे मंडराने लगते हैं।[९] इस सुगन्ध से हाथी स्वयं भी मदमत्त हो जाता है। इस अवस्था में संगीत की ध्वनि को सुनने पर कानों को हिला-हिला कर ताल देने लगता है।[१०]

गन्धगजों के शरीर से मदजल का स्राव किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर होता है। मदजल के स्रवित होने के बाद हाथी का शरीर हलका हो जाता है।[११] स्राव का अधिक होना भी एक रोग है, जिसकी चिकित्सा का गजशास्त्र में विधान है।[१२]

गजमुक्ता की यथार्थता सन्दिग्ध है। कवि-प्रसिद्धियों के अनुसार हाथियों के मस्तक की त्वचा के अन्दर मोती रहते हैं।[१३] ये अति मूल्यवान् होते हैं। मस्तक की त्वचा को भेद कर ही इनको प्राप्त किया जा सकता है।

---

१. वीणावासवदत्तम् पृष्ठ १७–१८।
२. अविमारक पृष्ठ १६।
३. बुद्ध्या निगृह्य वृषतस्य कृते क्रियाया—
मारण्यकं गज इव प्रगुणीकरोमि। मुद्राराक्षस १.२७।
४. गज इव बहुदोषः मार्दवेनैव वाह्यः। पञ्चरात्र १.१०।
५. गजस्याधोरणायुक्तो जवो भवति शिक्षया। प्रतिज्ञायौगन्धरायण ४.१०।
६. उत्तररामचरित २.१५।
७. मृच्छकटिक पृष्ठ २६८।
८. कौमुदीमहोत्सव १.१८।
९. मृच्छकटिक १.१२।
१०. मदकलकरिकर्णताल…… । अनर्घराघव ५.१६।
११. कर्पूरमञ्जरी पृष्ठ ८३।
१२. गजशास्त्र पृष्ठ १५४। श्लोक १३–१५।
१३. बालभारत १.४७।

हाथियों के पालन, निवास, भोजन और मनोरञ्जन का कवियों ने विस्तृत निर्देश किया है। इसका पालना प्रतिष्ठा और समृद्धि का सूचक था। राजप्रासादों और समृद्ध घरों में प्रचुर संख्या में हाथी पाले जाते थे। हाथियों की संख्या से समृद्धि आंकी जाती थी। हाथियों को रखने के लिये गजशालायें बनाई जाती थीं और बाँधने के लिये विशेष स्तम्भ (आलान) गाड़े जाते थे।[१] राजप्रासादों में हाथियों को शृङ्खलाओं से बाँध कर आलानों से बांध दिया जाता था।[२]

पालतू हाथियों के भोजन और मनोरञ्जन का प्रबन्ध किया जाता था। वृक्षों के पत्ते, पतली शाखायें, गन्ना और फल इनको दिये जाते थे। घृत तथा तेल पिला कर अन्न खिलाने का भी वर्णन किया गया है।[३] जलक्रीडा के प्रिय होने से इनको स्नान कराने के लिये नदियों पर ले जाया जाता था।[४]

कवियों ने नगरों में ही नहीं, तपोवनों और आश्रमों में भी इनको पालने के वर्णन किये हैं। वनवास की अवधि में सीता ने दण्डकारण्य में एक हाथी पाला था। इसको वे पुत्र के समान स्नेह करती थीं और अपने हाथ से सल्लकी के पत्ते खिलाती थीं।[५] तपोवनों में अन्य पशुओं के साथ हस्तिशावक (कलभ) देखे जा सकते थे।[६] यहाँ कभी-कभी हाथियों के उपद्रव भी हो जाते थे।[७]

हाथियों का उपयोग मुख्य रूप से वाहन के रूप में, युद्धों में और मनोरञ्जन के लिये था। उच्च वर्ग के लोग हाथी पर बैठ कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे। इसकी पीठ पर विशिष्ट आसन बिछाया जाता था। चालक कन्धे पर बैठकर अंकुश की सहायता से इस पर नियन्त्रण करता है। यह आधोरण, संवाहक या मात्र कहाता है। मात्र का ही अपभ्रंश पद महावत है। कवियों ने नगरों के मार्गों को हाथियों से भरा वर्णित किया है[८], इनके दोनों ओर लटकते घण्टों की ध्वनि से दूर से ही इनके आने का अनुमान होता है।

बारातों तथा उत्सवों में हाथियों का वाहन के रूप में उपयोग होता था। विवाह संस्कार से पहले मालती अपनी सखियों के साथ नगर-देवता के मन्दिर में शोभायात्रा के हेतु हाथियों पर गई थी। इन पर वाराङ्गनायें भी गीत गाती जा रही थीं। इन हाथियों की घण्टियों की मधुर ध्वनि दूर तक सुनाई देती थी।[९]

---

१. बालरामायण पृष्ठ २१५, मृच्छकटिक १.५०।
२. विद्धसालभञ्जिका १.१२।
३. इतश्च कूरच्युततैलमिश्रं पिण्डं हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः। मृच्छकटिक पृ० १७२।
४. चारुदत्त पृ० ६८।
५. उत्तररामचरित ३.६।
६. सुभद्राधनञ्जय १. ।
७. अनर्घराघव २.२७।
८. पद्मप्राभृतक श्लोक ६।
९. मालतीमाधव पृ० २०७।

पालतू हाथियों को आभूषणों तथा अन्य प्रसाधनों से सजाया जाता था। वसन्तसेना का हाथी नूपुर युगल, मणिजटित मेखला और रत्नों से जड़े वलयों से अलंकृत रहता था।[१] हाथी के कुम्भस्थल तथा अन्य अङ्गों पर सिन्दूर आदि रंगीन द्रव्यों का प्रलेप लगता था।

हाथियों की गणना युद्धोपयोगी पशुओं में की गई है।[२] चतुरङ्गिणी सेना में गजसेना का विशेष महत्व रहा था। जितने अधिक हाथी सेना में होते थे, वह उतनी ही अधिक शक्तिशाली समझी जाती थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेल्यूकस पर विजय शक्तिशाली गजसेना की सहायता से प्राप्त की थी। सन्धि के समय सेल्यूकस ने ५०० हाथी प्रदान करने की प्रार्थना की थी।

युद्धक्षेत्र में प्रसरित हाथियों की मदजल की सुगन्ध से संग्राम-भूमि का बोध होता है।[३] नगरों पर आक्रमण के लिये हाथियों की बहुत उपयोगिता थी। परिखा और नदियों को पार करने के लिये हाथियों को काम में लाया जाता था।[४] आक्रमण करने के लिये जब हाथियों की पंक्ति आगे बढ़ती थी तो ऐसा प्रतीत होता था कि मानो काले मेघ उमड़ रहे हों।[५]

युद्धों में हाथियों को उत्तेजित करने के लिये विशेष उपाय किये जाते थे। इनके निवास-स्थान, स्नान, भोजन और शयन के स्थानों पर विशेष औषधियों और धूप का प्रयोग किया जाता था। युद्ध के अवसरों पर मदिरा पिलाई जाती थी और इनके शरीर पर अन्य हाथियों का मदजल लगा देते थे। समीप में अग्नि जलाकर शङ्ख, दुन्दुभि आदि वाद्य बजाये जाते थे।[६]

हाथी मनोविनोद का हेतु भी थे। इनके द्वन्द्व-युद्धों को देखने के लिये बहुत संख्या में लोग एकत्रित हो जाते थे। हाथियों को मदिरा आदि मादक पदार्थों का सेवन कराके उन्मत्त करके लड़ाया जाता था।[७]

कवियों ने हाथियों के पागल होने तथा उपद्रवों के भी वर्णन किये हैं। ये उपद्रव तपोवनों और नगरों में कहीं भी हो सकते हैं।

---

१. विचलति नूपुरयुगलं छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिताः।
वलयाश्च सुन्दरतरा रत्नाङ्कुरजालप्रतिबद्धाः॥
मृच्छकटिक २.१८।

२. बालभारत १.४७।

३. किं चानेककरीन्द्रगण्डविलसद्दानाम्बुधाराघनं।
सङ्ग्रामं प्रथयन्त्यमी परिमलप्रोद्गारमन्दानिलाः॥ हनूमन्नाटक १४.६६।

४. मुद्राराक्षस ४.१६–१७।

५. यत्रैषा मेघनीला चरति गजघटा राक्षसस्तत्र यायात्। मुद्राराक्षस २.१४।

६. प्रतिज्ञायौगन्धरायण पृ० ९१।

७. अन्योन्यकलाहितयोर्मत्तहस्तिनोः मालविकाग्निमित्र पृ० २२।

कालिदास ने तपोवन और वन में हाथियों के उपद्रवों का वर्णन किया है। मृगया के लिये आये दुष्यन्त के रथ को देखकर भयभीत हाथी ने उपद्रव मचा दिया। एक पेड़ पर तीव्र आघात करके उसने अपना एक दाँत तोड़ लिया। पैरों पर खूब लताओं को लपेट लिया। हिरनों के झुण्ड को भगा दिया और तपस्या में विघ्न डालने के लिये तपोवन में प्रविष्ट होने लगा।[१]

नगरों में हाथियों के उपद्रव के रोचक वर्णन हैं। भड़कीले वस्त्रों को देखकर हाथी भड़क सकते हैं। भास ने वर्णन किया है कि बौद्ध संन्यासी के लाल भड़कीले वस्त्र को देखकर वसन्तसेना का हाथी पागल हो गया और उसको मारने का प्रयत्न करने लगा।[२]

मदजल के स्राव से भी पागल होकर हाथी नगरों में उपद्रव खड़ा कर देते थे। ऐसे हाथी को व्याल द्विप कहा गया था। इनका दमन अनिवार्य था।[३] 'अविमारक' नाटक में राजकुमारी कुरङ्गी अपनी सखियों के साथ विहार कर रही थी। उसी समय एक मदस्रावी हाथी मदान्ध होकर वहाँ आ गया। उसने अपनी सवारियों को गिरा दिया और धूलि से भर गया। उस पागल हाथी ने कुरङ्गी पर भी आक्रमण किया। परन्तु एक वीर पुरुष अविमारक ने जान की बाजी लगाकर उस हाथी को अपनी गतियों से विमोहित करके दूर कर दिया।[४]

'मृच्छकटिक' में हाथी के उपद्रव का रोमाञ्चक वर्णन है। उज्जयिनी की वसन्तसेना का खुण्डमोदक नाम का हाथी पागल हो गया था। वह आलानस्तम्भ को तोड़कर और महावत को मारकर उपद्रव करता हुआ राजमार्ग पर आ गया। भयभीत नगर निवासी भाग कर ऊँचे स्थानों पर चढ़कर प्राणों की रक्षा करने लगे। उसी समय उस पागल हाथी की झपट में एक परिव्राजक आ गया। उसके दण्ड और कमण्डल दूर गिर गये। हाथी ने परिव्राजक को सूँड से उठाकर दाँतों के मध्य से पकड़ लिया। तभी वसन्तसेना के सेवक कर्णपूर ने हाथी पर प्रहार करके परिव्राजक के प्राणों की रक्षा की।[५]

संस्कृत कवियों ने हाथियों की क्रीड़ाओं, प्रणय-विलासों और पराक्रमों का विशद विवरण दिया है। हाथी को जलक्रीड़ा बहुत पसन्द है। वन्य जलाशयों में क्रीड़ा करते हुये वे कमल-पत्रों को मसल डालते हैं।[६] कमलिनी का भोजन देखकर

---

१. तीव्राघातप्रतिहततरुस्तम्भलग्नैकदन्तः
पादाकृष्टव्रततिवलयासङ्गसञ्जातपाशः।
मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथः
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः॥ अभिज्ञानशाकुन्तल १.३१।

२. चारुदत्त पृ० ६८। ३ महावीरचरित ३.३९।

४. अविमारक पृ० १०–१६।

५. मृच्छकटिक पृ० १००–१०२। ६. विद्धसालभञ्जिका १.४३।

वे खतरों की परवाह नहीं करते ।[१] सल्लकी लतायें उनको अति प्रिय हैं ।[२] इनको खाकर और मसल कर वे चारों ओर सुगन्धि फैला देते हैं ।[३] वे बड़े वृक्षों से शरीर को रगड़ कर खुजली मिटाते हैं ।[४] वन्य हाथियों द्वारा वनों में वृक्षों को तोड़ने की क्रीड़ाओं या कवियों ने वर्णन किया है ।[५] वे अपने परिवार तथा शिशुओं (कलभों) के साथ वनों में घूमते रहते हैं ।[६]

हाथियों के प्रणय-विलासों का भी सुन्दर चित्रण हुआ है ।[७] युवा हाथी अपनी प्रेमिका हथिनियों के साथ आनन्द से क्रीड़ा करते हैं । 'उत्तररामचरित' में इस दृश्य का मनोरम वर्णन है । सीता का पालतू हस्तिशावक युवा होकर अपनी प्रेयसी को पा जाता है । वह मृणालदण्डों को उखाड़कर अपनी प्रेयसी को खिलाता है । सूँड में भर कर पानी लाता है । कुछ तो प्रेयसी को पिला देता है और कुछ उस पर छिड़क देता है । कमल-पत्रों के छत्र से वह प्रेयसी पर धूप से छाया करता है ।[८] दाँत के किनारे से प्रिया के खुजाने पर प्रेयसी आनन्द में भर कर आँखों को बन्द कर लेती है । उसके द्वारा आधी खाई हुई सल्लकी को वह आनन्द से खाती है ।[९] प्रणय की भावनाओं से भरे हुये हाथी-हथिनियों की प्रणय-क्रीड़ाओं से सरोवर मथे जा सकते हैं ।[१०]

हाथियों की विरह-वेदनाओं का भी कवियों ने सुन्दर चित्र खींचा है । प्रिया के वियोग में हाथी दुर्बल हो जाते हैं ।[११] वे अधीर होकर उसको खोजते हैं ।[१२] प्रेमिकाओं के कारण इन हाथियों में परस्पर द्वन्द्व-युद्ध भी हो जाते हैं। यदि एक

---

१. न हि कमलिनीं दृष्ट्वा ग्राहमपेक्षते मतङ्गजः ।

मालविकाग्निमित्र पृष्ठ ५९ ।

२. उत्तररामचरित २.२१, मालतीमाधव ९.६ ।

३. महावीरचरित ।

४. उत्तररामचरित २.९ ।

५. प्रतिमानाटक ६.४ ।

६. मध्यमव्यायोग १.५ ।

७. कौमुदीमहोत्सव ३.१० ।

८. लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादिताः
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसङ्क्रान्तयः ।
सेकः शीकरिया करेण विहितः कामं विरामे पुनः ।
नु स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥

उत्तररामचरित ३.१६, मालतीमाधव ९.३४ ।

९. मालतीमाधव ९.१२ ।

१०. मालतीमाधव पृ० ४१४–४१५ ।

११. विक्रमोर्वशीय ४.१४ ।

१२. विक्रमोर्वशीय ४.१९ ।

हथिनी को दो हाथी चाहते हैं, तो उसको प्राप्त करने के लिये वे द्वन्द्व-युद्ध करते हैं। ऐसे समय हथिनी दूर जाकर खड़ी हो जाती है। जो विजयी होता है, वह उसके साथ हो जाती है।[१]

हाथियों के पराक्रम का भी रोचक दृश्य कवियों ने प्रस्तुत किया है। हाथी और सिंह की स्वाभाविक शत्रुता है। जहाँ भी हाथी मिलता है, सिंह तुरन्त उस पर आक्रमण कर देता है। अतः सामान्यतः हाथी उससे दूर रहना ही पसन्द करते हैं।[२] कवियों ने सिंह को हाथी से अधिक पराक्रमी कहा है। हाथी क्रुद्ध होकर भी सिंह को धर्षित नहीं कर सकता।[३] वह हाथी को पर्वत के शिखर से गिरा देता है। सिंह की दाढ़ें हाथी के रक्त को पीने के कारण सदा लाल रहती हैं।[४] सिंह की गर्जनाओं से हाथी भयभीत रहते हैं[५], परन्तु उत्तम जाति के पराक्रमी हाथी सिंहों से नहीं डरते। सिंह का आक्रमण होने पर उनके शावक भी युद्ध करने के लिये तत्पर हो जाते हैं।[६]

कवियों ने हाथियों में सौन्दर्य के भी दर्शन किये थे। इसके विविध अङ्गों को, गति को तथा अनुभावों को सौन्दर्य का प्रतीक मानकर इनका मानव-सौन्दर्य के उपमानों के रूप में प्रयोग हुआ है। श्रेष्ठ पुरुष के हाथ हाथी की सूँड के[७] और गति गजराज की गति के[८] समान होते हैं। सुन्दर युवतियों की गति की उपमा गजगति से दी गई है।[९] राजशेखर ने वर्णन किया है कि सुन्दरियों की गति हाथी के समान, कुच हाथी के गण्डस्थल के समान और कान्ति हाथी के दाँत के समान होती है।[१०] कालिदास पार्वती के जघन की उपमा हाथी की सूंड से देते हैं।

प्राचीन मनीषियों ने हाथियों में देवत्व की कल्पना की थी। पौराणिक कथाओं के अनुसार देव-दानवों द्वारा समुद्र का मन्थन करने से श्वेत वर्ण का ऐरावत हाथी निकला था। उसकी गणना समुद्र से निकले १४ रत्नों में है। यह हाथी इन्द्र का वाहन बना। यह नन्दना वन मे विहार करता है।[११] कालिदास लिखते

---

१. मुद्राराक्षस २.३।
२. अनर्घराघव २.२७।
३. मध्यमव्यायोग १.४४।
४. सिंहेनेव गजेन्द्रमद्रिशिखरात् सिंहासनात् पातितम्। मुद्राराक्षस १.१२।
५. आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोणाम्। मुद्राराक्षस १.८।
६ प्रतिशब्दो हि हरेर्हिनस्ति नागानाम्। विक्रमोर्वशीयम् १.१७।
७. महावीरचरित १.२१।
८. करिकरसमबाहुः। मृच्छकटिक १.३।
९. द्विरदेन्द्रगतिः। मृच्छकटिक १.३।
१०. बालरामायण ५.६८, हनूमन्नाटक ५.३, मालतीमाधव ६.२७।
११. बालरामायण ५.६८।

हैं कि ऐरावत हाथी मानसरोवर में विहार करता है और स्वर्णकमलों क तोड़ता है।[१]

दिशाओं को सम्भालने वाले तथा रक्षा करने वाले देवताओं के रूप में हाथियों की कल्पना है। इनको दिग्गज कहा जाता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, इन चार दिशाओं के चार दिग्गज हैं।[२] वे इन चारों दिशाओं को अपनी सूँडों से सम्भाले हुये हैं। कालिदास का यक्ष मेघ से कहता है कि तुम मार्ग में दिग्गजों के सूँडों के प्रहार से बचे रहना।[३] भारतीय संस्कृति में हाथी को शुभ माना गया है। गृह-निर्माण-कला में गृहद्वार पर इसको प्रायः बनाया जाता है। शिव-पार्वती के पुत्र विघ्नविनाशक गणेश का सिर-मुख हाथी का ही है। गणेश-चतुर्थी इनके पूजन का प्रमुख दिवस है।

(ख) पक्षी

संस्कृत नाटककारों ने पक्षियों का अति रोचक चित्र अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। उन्होंने घरों में, उद्यानों में, वनों में, जलाशयों और नदियों के समीप एवं समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों में विविध पक्षियों को देखा था। उनके स्वरूप और स्वभाव का विशद अध्ययन करके इनका चित्र नाटकों में प्रस्तुत किया गया है।

संस्कृत नाटककारों के अनुसार पक्षियों को पालने का उस समय लोगों को शौक था। महिलाओं का उनके प्रति विशेष अनुराग रहा। अयोध्या के राजभवन में सीता अपने पालतू पक्षियों से बहुत प्रेम करती थी[४]। वन के लिये प्रस्थान करने से पूर्व उसने इनसे भरे हृदय से विदा ली थी[५]। मनोरजंन के लिये पाले गये पक्षी क्रीड़ापक्षी कहे गये[६]। पिंजरों में रखे गये[७] इन पक्षियों की चहचहाहट से घर गुंजरित रहते थे[८]।

'मृच्छकटिक' की नायिका बसन्तसेना के प्रासाद में अनेक पक्षी थे। यहाँ कबूतर, तोता, मैना, कोयल, बटेर, कपिञ्जल, मयूर, राजहंस, सारस आदि पक्षी

---

१. नन्दनविपिने···विचरति गजपतिरैरावतनामा। विक्रमोर्वशीय ४.५६।
२. हेमाम्भोजप्रसविसलिलं मानसस्याददानः।
　कुर्वन् कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ॥ पूर्वमेघ श्लोक ६६ ॥
३. दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान् ॥ पूर्वमेघ श्लोक ६६ ॥
४. प्रियकेलिशकुन्तलैव मे वत्सा। बालरामायण ॥ पृ० ३६१ ॥
५. बालरामायण ॥ ६. २७–२८ ॥
६. पद्मप्राभृतक ॥ श्लोक ६ ॥
७. विद्धसालभञ्जिका ॥ पृ० ६१ ॥
८. पद्मप्राभृतक ॥ श्लोक २२ ॥

पाले गये थे। वृक्षों में ठोकी गई खूँटियों में पंक्तिबद्ध पिंजरे लटकाये गये थे। अनेक पक्षी स्वतन्त्र विचरण भी करते थे। यहाँ नाचते हुये मोर, कामिनियों के पीछे घूमते हुये हंस-युगल और इधर-उधर विचरण करते हुये सारस देखे जा सकते थे। पक्षियों के बैठने के लिये स्थान-स्थान पर छड़ें, वासयष्टि, विहङ्गवाटी लगा दी गई थीं। पालतू पक्षियों के कारण बसन्तसेना का प्रासाद नन्दनवन ही प्रतीत होता था।[1]

प्रकृति में स्वतन्त्र विचरण करते हुये, ऊँचे नील आकाश में पंक्तिबद्ध उड़ते हुये, मेघों के मध्य उड़ान भरते हुये, जलीय तटों पर घूमते हुये और जल में तैरते हुये पक्षी दिखाई देते थे। शरद् ऋतु का आरम्भ होते ही हंस आदि पक्षी इस देश में आ जाते थे। कवियों ने इन पक्षियों का विशद चित्र प्रस्तुत किया है।

यद्यपि पक्षियों को अनेक वर्गों—पालतू, आरण्य, जलचर आदि में विभक्त किया जा सकता है, तथापि कोई निश्चित विभाजक रेखा खींचना कठिन है। अतः पक्षियों के वर्णन भी अकारादि क्रम से ही किये जा रहे हैं।

२६. उलूक (उल्लू)—

संस्कृत नाम—उलूक, वायसाराति, पेचक, दिवान्ध, कौशिक, वृक, दिवाभीत, निशाटन, काकारि, घूक।

हिन्दी नाम—उल्लू

अंग्रेजी नाम—Owl

लैटिन नाम—**Bubo bubo** (Great hem owl—)

Athene brama (Spotted owlet)

अनेक व्यक्तियों द्वारा उल्लू को न देखने पर भी सभी लोग इससे परिचित

---

१. आश्चर्य भो, इहापि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्टहिङ्गवाटीसुखनिषण्णान्यन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। इयमपरा सम्माननालब्धप्रसरेव गृहदासी अधिक कुरकुरायते मदनसारिका। अनेकफलरसास्वादप्रहृष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा। आलम्बिता नागदन्तेषु पञ्जरपरम्पराः। योध्यन्ते लावकाः। आलाप्यन्ते कपिञ्जलाः। प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः। इतस्ततो मणिचित्रित इवाय सहर्ष नृत्यन् रविकिरणसन्तप्तं पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः। इह पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगतिं शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात् परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि। एतेऽपरे वृद्धमहल्लका इव इतस्ततः सञ्चरन्ति गृहसारसाः। आश्चर्यं भो, प्रसारणं कृतं गणिकया नानापक्षिसमूहैः। यत्सत्यं नन्दनवनमिव मे गणिकागृहं प्रतिभासते।
॥ मृच्छकटिक पृ० १७८ ॥

हैं। लोक में यह मूर्खता, मनहूसी और असौन्दर्य का प्रतीक समझा जाता है। इसकी यद्यपि अनेक जातियाँ हैं, परन्तु भारतवर्ष में दो मुख्य हैं— मुआ और घुग्घू।

मुआ उल्लू जल के समीपवर्ती वीरान स्थानों पर वृक्षों और खण्डहरों में रहता है। २२ इंच के लगभग लम्बे इस पक्षी का सिर तथा मुख काफी बड़े होते हैं। पंख ऊपर से कत्थई और नीचे से श्वेत-काले होते है। पूंछ गहरी भूरी और गला श्वेत होता है। चोंच टेढ़ी, गहरी हरी तथा पैर पीले होते हैं। पैरों के पंजे में तीखे-खुरदरे नाखून होते हैं। इनसे अपने शिकार को यह मजबूती से पकड़ लेता है।

घुग्घू भी प्रायः २२ इंच लम्बा होता है। यह अधिकतर पुराने खण्डहरों में रहता है। भूरे रंग के शरीर पर अधिक गहरे भूरे पंख होते हैं। पेट और दुम भूरे होते हैं। दुम के सिरे पर पीली-बादली धारियां रहती हैं। आँख की पुतली, पीली, चोंच सलेटी तथा पैर काले रोयेंदार होते हैं।

उल्लू मुख्य रूप से मांसभक्षी पक्षी है। दिन में उसको कम दिखाई देता है और यह सोता रहता है। रात में अधिक दिखाई देने पर यह शिकार की तलाश में निकलता है। चूहे, मेंढ़क आदि इसको अधिक प्रिय हैं। कौओं तथा अन्य निर्बल पक्षियों पर भी यह हमला करता है। मादा उल्लू मार्च के महीने में लगभग दो श्वेत अण्डे देती है।

साहित्यिक वर्णनों में उल्लू भयानकता, मूर्खता और मनहूसियत का प्रतीक है। श्मशान इसके निवास स्थान हैं। सूर्य के प्रकाश को न सहन कर सकने के कारण यह दिन में बाहर न निकल कर अपने कोटर में सोता रहता है। रात्रि में श्मशानों में इसके भयानक घूत्कार शब्द सुनाई देते हैं।[1] यहाँ यह वृक्षों के खोखलों में से निकल कर घूं घूं ध्वनि करता हुआ स्वच्छन्द विचरण करता हैं।[2] उल्लू के भयानक घूत्कार को सुन कर स्त्रियाँ भयभीत हो जाती हैं।[3]

कौओं के साथ उल्लू का शाश्वतिक वैर है। वनों में बांसों के घने झुरमुठों में उल्लू निवास करते हैं। कौये इनसे बहुत डरते हैं। इनकी घूं घूं ध्वनि को सुनते ही वे खामोश हो जाते हैं।[4]

---

१. गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघूत्कारसंवेलित
क्रन्दत्फेरवचण्डघात्कृतिभृतप्राग्भारभीमैस्तटैः।
अन्तःकीर्णकरङ्ककर्परतरत्संरोधिकूलकष–
स्रोतोनिर्गमघोरघर्घररवापारे श्मशानसरित्॥ मालतीमाधव ५.१९॥

२. चण्डकौशिक॥ ४.१७॥

३. अविमारक॥ पृ० ७०॥

४. पतञ्जलिकालीन भारतवर्ष॥ पृ० ३०७॥

उल्लू को अशुभ माना गया है। इसकी कर्कश बोली रात्रि की नीरवता और अन्धकार में बड़ा अशुभ लगती है। लोक में प्रसिद्ध है कि जिस घर के ऊपर उल्लू बोलता है, वहाँ किसी की मृत्यु होने वाली है।

प्राचीन मनीषियों ने उल्लू में देवत्व की कल्पना भी की थी। यह विष्णु की पत्नी एवं समृद्धि की देवी लक्ष्मी का वाहन बना।

२७. कङ्क (मलङ्ग बगला)—

संस्कृत नाम —लोहपृष्ठ, कङ्क

हिन्दी नाम—मलंग बगला, कंक

अंग्रेजी नाम—Large egret ; Pond herone

लैटिन नाम—Bulbulcus ibis (Large egret)

A-rdea cinerea (Pond herone)

कंक (मलंग बगला) पक्षी भारतवर्ष में सर्वत्र जलाशयों के निकट दृष्टिगोचर हो जाता है। ढाई फीट के लगभग आकार का यह पक्षी अपने अतिशय शुभ्र वर्ण के कारण सरलता से पहचाना जा सकता है। कंक की चोच पीली होती है, परन्तु अण्डा देते समय मादा कंक की चोच काली हो जाती है। इसके पैर काले होते हैं।

कंक की पहचान कुछ विवादास्पद है। कवियों ने इसकी गणना एक ओर तो युद्ध क्षेत्रों में शवों का भक्षण करने के लिये मंडराने वाले पक्षियों में की है तो दूसरी ओर हंस, सारस आदि जल-पक्षियों के साथ इसका वर्णन किया गया है। डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री इसको सारस मानते हैं हरिदत्त वेदालंकार इसको लाल रंग का बगुला कहते हैं।[१] 'यजुर्वेद' के उव्वट भाष्य' में कंक को एक विशेष प्रकार का बगुला कहा गया है।[२] कंक को वस्तुतः श्वेत रंग का बड़ा बगुला मानना ही उचित है, जिसको मलंग बगुला कहते हैं। ये बगुले जब प्रणयविलास करते हैं तो इनके पेट तथा पीठ पर बहुत महीन और चमकीले पर निकल आते हैं। सम्भवतः इन्हीं परों को प्राचीन समय में बाणों के पीछे के भागों में लगाया जाता था।

संस्कृत नाटकों में कंक की गणना मांसभक्षी पक्षियों में की गई है। युद्ध से ध्वंस्त नगरों में तथा युद्धक्षेत्रों में[३] ये पक्षी शवों को खाने के लिये उड़ते दृष्टिगोचर होते हैं। इनके साथ गिद्ध भी उड़ते दीखते हैं।[४]

---

१. हरिदत्त वेदालंकार : कालिदास के पक्षी ॥ पृ० ३०७ ॥
२. एकः कङ्कः दिशां दिग्भ्यः। शुक्ल यजुर्वेद २४.३१ पर उव्वट भाष्य ॥
३. वीणावासवदत्तम् ॥ २.२० ॥
४. वेणीसंहार ॥ ५.३६ ॥

कङ्क के पंख युद्धोपयोगी माने गये थे। बाणों की गति को तीव्र करने के लिये उनके पीछे के भाग में ये पंख लगाये जाते थे।[१] श्री हरिदत्त वेदालंकार का कथन है कि कंकपत्र आकर्षक तथा भड़कीले रंग के होते हैं। सम्भवतः इनको बाणों में लगाना पसन्द किया गया था।[२]

साहित्य में कङ्क की चोंच का विशिष्ट वर्णन है। यह अत्यधिक नोकीली तथा तीक्ष्ण होती है। इसकी आकृति की चिमटियाँ बनाई जाती थीं, जिनसे शल्य निकाले जाते थे। 'वेणीसंहार' में कङ्कमुख चिमटियों से शल्यों को निकालने का वर्णन है।[३] सुश्रुत ने कङ्क के मुख के आकार की चिमटियों के प्रयोग का वर्णन किया है।[४]

२८. कपिञ्जल (काला तीतर)—

संस्कृत नाम—कपिञ्जल

हिन्दी नाम—काला तीतर

अंग्रेजी नाम—Black partridge

लैटिन नाम—Francolinus francolinus

काले वर्ण के तीतर को ही कपिञ्जल मानना चाहिये। इस पर श्वेत रंग की चित्तियाँ और धारियाँ होती हैं। नर पक्षी की ग्रीवा भूरी तथा मादा की श्वेत होती है। यह पक्षी प्रायः सारे भारत में मिलता है, परन्तु दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर में अधिक है।

'शब्दकल्पद्रुम' में श्वेत तीतर को कपिञ्जल कहा गया है। परन्तु वास्तव में यह श्वेत चित्तियों तथा धारियों से युक्त काला तीतर ही है। मोनियर विलियम कपिञ्जल को चातक कहते हैं। परन्तु यह उससे भिन्न है।

कपिञ्जल सूखे वृक्षों पर रहना पसन्द करता है। यह दिन-रात चीक-चीक के समान उच्च कर्कश ध्वनि करता रहता है। नर कपिञ्जल की टाँगों में एक काँटा सा होता है, जिसका उपयोग वह युद्ध की अवस्था में करता है।

कपिञ्जल का भोजन अनाज के दाने, बीज, कीड़े, दीमक, लारवा आदि हैं। कपिञ्जल पानी भरे धान के खेतों में झाड़ी के अन्दर या लम्बी घास में घोंसला बना लेते हैं। मादा कपिञ्जल जून-सितम्बर में ४–८ संख्या में क्रीम रंग के अण्डे देती है।

---

१. महावीरचरित १.१८, उत्तररामचरित ४.२०, हनूमन्नाटक १.२६ ॥

२. कालिदास के पक्षी पृ० १५७ ॥

३. शल्यानि व्यपनीय कङ्कवदनैरुन्मोचिते कङ्कटे। वेणीसंहार ५.१।

४. यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वधिकारि चैव।

। सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान ७.२३।

कपिञ्जल को पालने के वर्णन संस्कृत नाटकों में मिलते हैं। यह पालने वाले के पीछे घूमता रहता है। वसन्तसेना के पक्षि-गृह में कपिञ्जल पक्षी भी थे। उनसे वार्ता करके रसिक जन अपना मन बहलाते थे।[1]

कपिञ्जलों को द्वन्द्व-युद्ध के लिये प्रशिक्षित करने के उल्लेख हैं। इस हेतु इसको पाला जाता था। कपिञ्जलों का द्वन्द्व-युद्ध देखना मनोविनोद का अच्छा साधन था। राजशेखर कपिञ्जलों के द्वन्द्व-युद्ध का वर्णन करते हैं।[2]

२९. **कपोत (कबूतर)—**

संस्कृत नाम—पारावत, कलरव, कपोत, रक्तलोचन

हिन्दी नाम—कबूतर

अंग्रेजी नाम—Pigeon

लैटिन नाम—Columba livia

कबूतर अति प्राचीन समय से मनुष्यों की दृष्टि को आकृष्ट करता रहा है। इसकी प्रणय-चेष्टाओं, कलकूजन, वनस्पतिज भोजन की प्रियता, सन्देश-प्रेषण आदि गुणों ने इसको मनुष्यों का प्रिय बनाया। प्राचीन साहित्य में लोक-कथाओं और नाटकों में इसके मनोऽभिराम वर्णन है।

कबूतर स्वतन्त्र प्रकृति का पक्षी है। यह समूह में या युगल रूप में रहता है। सीधा भी बहुत है। जंगली कबूतर सलेटी रंग का होता है। गरदन पर चमकीले हरे रंग के पंखों का कण्ठा तथा उसके नीचे बैंजनी पट्टी होती है। दुम का सिरा काला तथा दोनों ओर श्वेत धारी रहती है। आँख की पुतली नारंगी, चोंच सिरे पर काली और जड़ पर श्वेत तथा पैर गुलाबी होते हैं।

कबूतर मुख्य रूप से अनाज के दाने खाते हैं। गले से भीतर की थैली में यह इन दानों को भरता जाता है, जहाँ पिस कर ये पेट में जाकर हजम हो जाते हैं। इन्हीं पिसे दानों के रस को वह अपने शिशुओं के पेट में भी उंडेल देता है। कबूतरी वर्ष में दो बार तीन-चार श्वेत अण्डे देती है।

कबूतर को सरलता से पालतू बनाया जा सकता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं। मनुष्य ने इनका और भी विकास किया है। कबूतरों को प्रशिक्षित किया जा सकता है, विशेष रूप से सन्देश-प्रेषण के लिये। कबूतर अपने रहने के स्थान को नहीं भूलता। सैंकड़ों मील दूर छोड़े जाने पर भी अपने निवास को लौट आता है। इस गुण के कारण इसके द्वारा सन्देश भेजे जा सकते हैं। उड़ने में भी कबूतर का मुकाबला अन्य कोई शीघ्र नहीं कर सकता।

---

१. आलाप्यन्ते कपिञ्जलाः। मृच्छकटिक पृ० १७८।

२. बालरामायण पृ० ३७८।

संस्कृत नाटकों में कबूतरों को पालने का प्रचुर वर्णन हुआ है। बस्तियों में ये स्वतन्त्र रूप से भी वृक्षों और मकानों में घोंसले बना कर रहते हैं। प्राचीन समय में लोग अपने मकानों में कबूतरों के लिये विशेष रचनायें (कपोतपालिकायें) बनवाते थे।

भवनों की वलभियों में कपोतों के रहने के प्रचुर वर्णन मिलते हैं। प्रासादों में प्रचुर संख्या में कबूतर पले होते थे।[१] ये विशेष रूप से वलभियों में बैठते थे।[२] दिन में स्वतन्त्रता से आहार की खोज में उड़ जाते थे और सायंकाल बसेरा लेने आ जाते थे।[३] उज्जयिनी के प्रासादों की वलभियों में रात को कबूतर सोये रहते थे।[४] कालिदास ने अपने नाटकों में भी कबूतरों के वलभियों में बैठे रहने के वर्णन किये हैं।[५] ये वलभियाँ घर के ऊपरी भाग में छत को बढ़ा कर छज्जा निकाल कर बनाई जाती थीं।

कबूतरों को पालने के शौकीन जन उनके बैठने के लिये विशेष रचनायें कपोतपाली, विटङ्क, विहङ्गवाटी आदि बनवाते थे।[६] विहङ्गवाटी पर वे सुख से बैठ सकते थे।[७] यह पालतू कबूतरों के बैठने के लिये एक विशेष प्रकार की यष्टिका थी।

ऋषियों के तपोवनों और आश्रमों में भी कबूतरों के पालने के तथा निवास करने के वर्णन हैं। आश्रमों के वृक्षों पर बैठे हुये कबूतर परस्पर क्रीडा करते हुये दृष्टिगोचर होते थे।[८]

कबूतरों के वन-निवास के भी सुन्दर चित्रण मिलते हैं। ग्रीष्म ऋतु में वृक्षों पर बने घोंसलों के किनारों पर बैठे गरमी से व्याकुल होते कबूतर कूजन करते

---

१. विद्धसालभञ्जिका १.१२।
२. पादताडितक श्लोक १.१।
३. गृहपारावत इवावासनिमित्तमत्रागच्छामि। मृच्छकटिक पृ० १४।
४. तां कस्याञ्चिद् भवनवलभौ सुप्तपारावतायाम्।
। पूर्वमेघ श्लोक ४२।
५. विक्रमोर्वशीयम् ३.२, मालविकाग्निमित्र २.१२।
६. महावीरचरित ५.२१।
७. सुश्लिष्टविहङ्गवाटीसुखनिषण्णानि……पारावतमिथुनानि।
। मृच्छकटिक पृ० १७८।
८. तापसवत्सराज ३.१३।

रहते हैं।[1] मुरारि ने वर्णन किया है कि वनों में जामुनों के निकुञ्ज कबूतरों के कूजन से गूँजते रहते हैं।[2]

पालतू कबूतरों के प्रति मानव बहुत सहृदय रहा था। क्रीडा करते हुये ढेले गिरा देने पर भी गृहस्वामी इनके प्रति सदय रहते हैं और किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं।[3] घरों में इनकी सावधानी से रक्षा की जाती है कि कहीं अवसर पाकर चील आदि हिंस्र पक्षी इनको खा न जावे।[4]

कबूतर के स्वभाव का संकेत कवियों ने अनेक प्रकार से दिया है। स्वतन्त्र प्रकृति का यह पक्षी इधर-उधर घूम कर जीविका को प्राप्त करता है।[5] ऐसे कबूतरों के प्रति गृहस्वामी का भी अधिक स्नेह रहता है। ऐसे कबूतरों के घोसलों को घरों की सफाई के समय हटा दिया जाता है।[6]

कबूतर को गर्मी बहुत सताती है। घरों की वलभियों के धूप से तप जाने पर कबूतरों का वहाँ बैठे रहना सम्भव नहीं रहता।[7] कबूतर की निर्बलता की भी कवियों ने अभिव्यञ्जना की है। अन्य हिंस्र जन्तु इसको देखते ही मार कर खा जाते हैं। 'मालविकाग्निमित्र' में चील द्वारा[8] और 'वीणावासवदत्तम्' में श्येन द्वारा[9] कबूतर के मारे जाने का संकेत है।

कबूतर को प्रणयशील पक्षी माना गया है। यह अपनी मादा और बच्चों से बहुत स्नेह रखता है। विविध प्रणय-क्रीड़ाओं से यह अपनी प्रिया को रिझाता है। अनङ्गहर्ष ने इन प्रणय-क्रीड़ाओं का मनोरम चित्रण किया है।[10] शूद्रक ने भी वर्णन

---

१. (क) वीरुन्नीडकपोतकूजितमनुक्रन्दन्त्यधः कुक्कुभाः।
। मालतीमाधव ९.७।
(ख) कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः मूले कुलायद्रुमाः।
। उत्तररामचरित २.९।

२. फलपुलकितजम्बूकुञ्जकूजत्कपोत······। अनर्घराघव ५.२७।

३. मृच्छकटिक पृ० २००=२०२।

४. गृहकपोतः चिल्लायाः मुखे पतितः। मालविकाग्निमित्र पृ० ११५।

५. चारुदत्त पृ० ११।

६. अपनीतकपोतसन्दानकं तावद् गर्भगृहम्। प्रतिमानाटक पृ० ६८।

७. सौधानत्यर्थतापाद् वलभिपरिचयद्वेषिपारावतानि।
। मालविकाग्निमित्र २.१२।

८. मालविकाग्निमित्र २.१२।

९. वीणावासवदत्तम् पृ० १६।

१०. तापसवत्सराज ३.१३।

किया है कि वसन्तसेना के पक्षिगृह में सुखपूर्वक रहने वाले पारावतयुगल परस्पर चुम्बन करते हुये सुख का अनुभव करते हैं ।[१]

कबूतरों का उपयोग सन्देश-प्रेषण के लिये बहुत पहले जान लिया गया था । कौटिल्य अर्थशास्त्र में कबूतरों द्वारा सन्देश-प्रेषण को महत्व दिया गया है ।[२] कपोत के पैर में छल्ला या कोई पहचान बाँध कर छोड़ दिया जाता था । अपने स्थान की खोज में वह सन्देश को गन्तव्य स्थान तक ले जाता है । 'मृच्छकटिक' में वसन्तसेना के प्रासाद में कपोतों को इस प्रयोजन के लिये पाला गया था कि वे वेश्याओं के प्रणय-सन्देशों को उनके प्रेमियों तक पहुँचा दें ।[३]

कबूतरों को कवियों ने उपमान भी बनाया है । सामान्यत: कबूतर धूसर वर्ण का होता है । अतः धुयें और कबूतर में वर्णसाम्य के कारण विभेद करना कठिन है ।[४] बूढ़े कबूतरों का वर्ण धूमिल हो जाता है ।[५] भवभूति ने भगवान् राम के श्याम वर्ण को युवा कबूतर के समान मेचक वर्ण का कहा है ।[६]

३०. काक (कौआ)—

संस्कृत नाम—काक, करट, अरिष्ट, बलिपुष्ट, बलिभुक्, सकृत्प्रज, ध्वाङ्क्ष, आत्मघोष, परभृत्, वायस, चिरञ्जीवी, एक दृष्टि, मौकुलि ।

हिन्दी नाम—कौआ

अंग्रेजी नाम—Crow–House crow; Jungle crow

लैटिन नाम—**Corvus spelndeus** (House crow)
Corvus macro-arhynchus (Jungle crow)

कौआ मनुष्यों के लिये अति परिचत है । मनुष्यों की बस्तियों में कौये प्रातःकाल ही शोर मचाते हुये उड़ते हुये दृष्टिगोचर हो जाते हैं । पक्षियों में कौये को बहुत धूर्त माना गया है । भारतीय लोक-कथाओं में इसकी धूर्तता की अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं ।

सामान्यत: कौआ दो प्रकार होता है—देशी और पहाड़ी । देशी को नौआ

---

१. अन्योन्यचुम्बनपराणि सुखमनभवन्ति पारावतमिथुनानि ।
। मृच्छकटिक पृ० १७८ ।

२. कौटिल्य अर्थशास्त्र ३.३४, १३.१ ।

३. प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः । मृच्छकटिक पृ० १७८ ।

४. धूपैर्जालविनिःसृतैर्वलभयः सन्दिग्धपारावताः । विक्रमोर्वशीयम् ३.२ ।

५. हनूमन्नाटक १४.६६ ।

६. कठोरपारावतकण्ठमेचकम् । उत्तररामचरितम् ६.२५ ।

कौआ भी कहा जाता है। १७–१८ इंच लम्बे इस कौये का रंग इतना काला नहीं होता। पहाड़ी कौआ गहरे चमकीले काले रंग का आकार में कुछ अधिक बड़ा होता है। इसको द्रोण काक कहते हैं।

कौआ वनस्पतिज और मांसज सभी प्रकार के भोजनों को खा जाता है। मौका पाते ही यह घरों से खाद्य पदार्थ ले उड़ता है। हिन्दू परिवारों में कौये के लिये बलि दी जाती है और इस निमित्त से इनको अन्न खिलाने की परम्परा रही है।

कौये वृक्षों की ऊँची शाखाओं पर घोंसले बनाते हैं। मादा कौआ एक बार में ४–६ अण्डे देती है। नीले-हरे रंग के इन अण्डों पर भूरी चित्तियाँ रहती हैं। ये अण्डे कोयल के अण्डों के समान होते हैं। अतः कोयल धोखा देकर कौये के अण्डों को फैंक कर अपने अण्डे रख देती है। मादा कौआ इनको अपना समझ कर सेती रहती है। प्रारम्भ में कोयल के बच्चे भी कौये के बच्चों के समान होते हैं, अतः वह इन बच्चों का भी पालन करती रहती है।

संस्कृत नाटकों में नगरों और ग्रामों में स्वतन्त्र रूप से विचरण करने वाले कौओं के विस्तृत वर्णन प्राप्त होते हैं। वे वृक्षों की शाखाओं पर अपने निवास बनाते हैं।[१] प्रातः ही उनका शोर चारों ओर सुनाई देने लगता है।[२] ग्रामों के चैत्यों में कौओं द्वारा घोंसले बनाने तथा बलि का अन्न खाने के वर्णन किये गये हैं।[३] कौओं की उपस्थिति वनों और पर्वतों में भी वर्णित है।[४]

संस्कृत नाटककारों ने कौओं की अनेक विशेषताओं का वर्णन किया है। वे बलिभुक् हैं। बलिवैश्वदेव यज्ञ में बलि का कुछ अंश पशु-पक्षियों के निमित्त से दिया जाता है, जो बलि कहलाता है। इसके मुख्य उपभोक्ता कौये ही हैं। अतः कौओं को बलिभुक् कहा गया है।[५] दही-चावल की बलि इनको अति प्रिय है।[६] विशेष अन्नों की बलि को खाने के लिये वे शोर मचाते हुये चारों घूमते रहते हैं।[७]

कौआ सर्वभक्षी प्राणी है। जो कुछ मिले, उसको खा जाता है। अनाज

---

१. मृच्छकटिक १.३२। २. अनर्घराघव ५.१।

३. नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः। पूर्वमेघ श्लोक २५।

४. हनूमन्नाटक पृ० ६९–७०।

५. पद्मप्राभृतक पृ० ४०–४१, अनर्घराघव ५.१,
बलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति। मृच्छकटिक ९.१९।

६. सदध्ना कलमोदनेन प्रलोभिता भक्षयन्ति वायसा बलिम्।
। मृच्छकटिक पृ० १७२।

७. इन्द्रमहकामुक इव सुष्ठु किं काकायसे ?। मृच्छकटिक पृ० २००।

के साथ मांस और सड़ा-गला मृतक मांस भी यह खा लेता है। मृतक मांस की खोज में यह घूमता रहता है[१] और श्मशानों में शवों के मांस को नोचता है।[२] मुर्दे खाने वाले तीन प्रमुख जन्तुओं—गीदड़, गिद्ध और कौआ में कौये की गणना है।[३] वे युद्ध-क्षेत्रों में मृतकों का मांस खाने के लिये मँडराते रहते हैं।[४]

साहित्य में कौये को सबसे धूर्त पक्षी माना गया है, तथापि कोयल इसको भी मूर्ख बनाती है। यह कौये के अण्डों को गिरा कर अपने बच्चों का पालन कौये से कराती है।[५]

कौये का उल्लू के साथ सहज वैर प्रसिद्ध है। 'पञ्चतन्त्र' के 'काकोलूकीयम्' भाग की रचना का मूल आधार इसकी ही कथा है। 'महाभाष्य' में "काकोलूकम्" उदाहरण काक-उलूक के शाश्वतिक वैर के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[६] भवभूति ने वर्णन किया है कि कौआ उल्लू से डरता है और इसकी ध्वनि को सुनते ही शान्त हो जाता है।[७]

कौये में कवियों ने हीनता और तुच्छता प्रकट की है। अतः इसको इस सम्बन्ध में उपमान बनाया गया है। कौये का रंग काला और स्वर रुक्ष-कटु होता है। काली वस्तुओं की उपमा कौये से दी जाती है।[८] कटु वचन बोलने तथा गाली देने वाले को काक कह कर गाली दी जाती है। दुष्ट व्यक्ति को कौये के से सिर और मस्तक वाला कहा गया है।[९] कौये को शारीरिक दृष्टि से निर्बल मानने के कारण कहा गया कि जिस प्रकार कौये के पंख की वायु मेरु पर्वत को कम्पित नहीं कर सकती, उसी प्रकार सबल व्यक्ति को निर्बल व्यक्ति हिला नहीं सकता।[१०]

काक द्वारा अशुभ सूचनायें प्राप्त हो सकती हैं। कौये का मध्याह्न में चीखना[११] और मार्ग में स्थित होकर रुक्ष स्वर में बोलना अशुभ-सूचक माने गये थे।[१२]

---

१. वेणीसंहार ३.२२।
२. चण्डकौशिक ४.६।
३. हनूमन्नाटक ८.२०।
४. वीणावासवदत्तम् २.२०।
५. परभृत इव नीडे रक्षितो वायसीभिः। मृच्छकटिक ७.३।
६. अष्टाध्यायी २.४.१२ पर महाभाष्य।
७. उत्तररामचरित २.२९।
८. मत्तविलास पृ० २८।
९. काकपदशीर्षमस्तक। मृच्छकटिक पृ० ५२, ३७२।
१०. मेरुं न कम्पयति वायसपक्षपातः। बालचरितम् २.६।
११. हनूमन्नाटक ३.२।
१२. क. रुक्षस्वरं वाशति वायसोऽयम्। मृच्छकटिक ९.१०।
ख. विरौति वायसस्तथा। मृच्छकटिक ९.१५।

मार्ग के मध्य में सूखे वृक्ष पर सूर्य की ओर मुख कौये का मिल जाना अशुभ का सूचक था।[1]

किन्हीं परिस्थितियों में कौये को शुभ का सूचक भी माना गया था। प्रातः-काल घर की अटारी पर बोलता हुआ कौआ प्रिय के आगमन की सूचना देता है।[2]

कौये में देवत्व की कल्पना भी की गई थी। इसको काकभुसुण्ड का अवतार माना गया है। कौये को बलि के अन्न का अधिकारी भी बनाया गया था।

३१. कारण्डव (जलमुर्ग)—

संस्कृत नाम—कारण्डव

हिन्दी नाम—जलमुर्ग

अंग्रेजी नाम—Water hen

लैटिन नाम—Gallicrex cinerea

कारण्डव पक्षी का वर्णन जल-पक्षियों में किया गया है। यह इस देश का बारहमासी पक्षी है। यह जलाशयों में ऐसे स्थानों को अधिक पसन्द करता है, जहाँ घास और नरकुल अधिक हों और उनमें यह सरलता से छिप सके। जल में तैरते समय इसकी उठी हुई श्वेत पूँछ दूर से ही दिखाई देती है।

कारण्डव को जलमुर्ग कहा जा सकता है, यद्यपि कुछ पक्षि-विशेषज्ञ इसको हंस का ही एक भेद मानते हैं। 'शब्दकल्पद्रुम' के टीकाकार महेश्वर ने इसका निम्न रूप बताया है—

कारण्डवः करडुव इति ख्यातः। अयं काकतुण्डो दीर्घपादश्च ॥

डल्हण इस कथन का समर्थन करते हैं। परन्तु 'वैद्यकनिघण्टु' में इसको जलकुक्कुट ही कहा गया है। पं० हरिदत्त वेदालंकार इस मत का समर्थन करते हैं, क्योंकि इसकी सभी विशेषतायें जलमुर्ग में घटित हो जाती हैं। लगभग १२–१६ इंच का यह पक्षी सरोवरों में बत्तखों के साथ तैरता रहता है। सलेटी-काले रंग, श्वेत चोंच तथा माथे पर श्वेत दाग के कारण यह तुरन्त पहचाना जाता है। यद्यपि यह पूर्णतः भारतीय है, तथापि इसकी जाति के कुछ प्रवासी पक्षी भी हैं। वे मार्च-अप्रैल में उत्तर की ओर प्रव्रजन करके सर्दियों में पुनः आ जाते हैं।[3]

---

१. क. किन्तु खलु एष वायसः शुष्कवृक्षमारुह्य शुष्कशाखानिघट्टिततुण्डमा-दित्याभिमुखं विस्वरं विलपति। पञ्चरात्र पृ० ५१–५२।

ख. शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्षः आदित्याभिमुखस्तथा। मृच्छकटिक ६.११।

२. पद्मप्राभृतक श्लोक २६।

३. हरिदत्त वेदालंकारः कालिदास के पक्षी पृ० १६६–१७०।

कारण्डव मुख्यत: जलचर पक्षी है। 'रामायण'[1] और 'श्रीमद्भागवत'[2] में कारण्डव का उल्लेख अन्य जलचर पक्षियों—हंस, क्रौञ्च, दात्यूह, सारस आदि के साथ हुआ है। यह तैरने और डुबकी लगाने में अति कुशल है। खुश्की में भी यह तेजी से भाग सकता है।

कारण्डव मुख्यत: घास-पात, सिवार और कोमल अंकुर खाता है। यह कीड़े-मकौड़े भी खा लेता है। मादा पक्षी नरकुलों में सूखे में घोंसला बना कर ६–८ अण्डे देती है। सलेटी रंग के इन अण्डों पर कत्थई या बैंजनी चित्तियाँ होती हैं।

कारण्डव का उल्लेख संस्कृत नाटकों में कम ही है। कालिदास ने वर्णन किया है कि पुरुरवा के राजोद्यान में गरम जल को छोड़ कर कारण्डव जलाशय के तट पर उगी हुई कमलिनी का सेवन कर रहा है।[3]

३२. कुक्कुट (मुर्गा)—

संस्कृत नाम—कृकवाकु, ताम्रचूड, कुक्कुट, चरणायुध

हिन्दी नाम—मुर्गा

अंग्रेजी नाम—Kock, hen

लैटिन नाम—Gallus domesticus

मुर्गा एक अति परिचित पक्षी है, जिसका पालन प्राय: भोज्य पदार्थों की पूर्ति के लिये किया जाता है। सिर पर लाल रंग की कंघी नुमा कलगी और गरदन के नीचे लटकती लाल रंग की मांस की थैली को धारण करके लम्बे पैरों से उचक कर चलता हुआ यह बहुत सुन्दर लगता है। चोंच की नोक से पूँछ के सिर तक नर मुर्गे की लम्बाई २–२½ फुट तथा मादा मुर्गे की लम्बाई १½ फीट के लगभग होती है। इसके अण्डे श्वेत या हलके भूरे होते हैं।

वर्तमान समय में मुर्गी पालन के व्यवसाय का बहुत विकास हुआ है। अण्डों तथा मांस को प्राप्त करने के लिये सरकार की ओर से इसको बहुत प्रोत्साहन मिला है। परन्तु प्राचीन समय में मुर्गों का पालन अति निम्न वर्ग, विशेष रूप से चाण्डाल वर्ग करता था। जंगली मुर्गे भी होते हैं, जो कुक्कुट कहलाते हैं। इनका वर्णन आगे किया गया है।

संस्कृत नाटकों में कुक्कुटों का उल्लेख अनेक बार हुआ है। घरों के पालतू

---

१. रथाङ्गहंसानत्यूहाः प्लवाः कारण्डवाः परे।
ततः पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चाः विसंज्ञा भेजिरे दिशः। रामायण २.१०३.४३।

२. हंसकारण्डवाकीर्णचक्राह्वैः सारसैरपि।
जलकुक्कुटकोयष्टिदात्यूहकलकूजितम्। श्रीमद्भागवत ८.२.१६।

३. तप्तं वारि विहाय तीरनलिनीं कारण्डवः सेवते। विक्रमोर्वशीय २.२३।

कुक्कुट प्रातः ही जाग कर[1] अपनी ध्वनि द्वारा प्रातःकाल होने की सूचना दिया करते हैं।[2]

कवियों ने कुक्कुट के स्वभाव की अभिव्यञ्जना की है कि वे व्यर्थ बोलते हैं। अतः तर्कहीन बकवादों को कुक्कुटवाद नाम दिया गया था।[3]

प्राचीन समय में कुक्कुट मनोरञ्जन के भी साधन रहे। इनका द्वन्द्व-युद्ध सार्वजनिक मनोरञ्जन का हेतु था। शौकीन लोग मुर्ग पालते थे और शर्त बद कर इनका द्वन्द्व-युद्ध कराते रहते थे।[4] द्वन्द्व-युद्ध में पैरों से प्रहार करने के कारण कुक्कुट को चरणायुध भी कहा गया।

वनों में इधर-उधर भटकते हुये कुक्कुटों का उल्लेख संस्कृत कवियों ने किया है।[5] ये ग्रीष्म ऋतु में ऊँचे वृक्षों पर बैठ कर शब्द करते हैं।[6]

३३. कुक्कुभ (जंगली मुर्ग)—

संस्कृत नाम—कुक्कुभ

हिन्दी नाम—जंगली मुर्ग

अंग्रेजी नाम—Red jungle fowl

लैटिन नाम—**Phasianus qollus**

जंगली मुर्ग कुक्कुभ पालतू मुर्ग के ही समान होता है। किसी समय इस जाति के कुछ सदस्यों को मनुष्यों ने पालतू बना लिया होगा।

जंगली मुर्ग उत्तरी-पूर्वी भारत में अधिक होता है। हिमालय की तराई में यह प्रचुर है। परन्तु ऊँचे हिमालय में नहीं मिलता। यह पक्षी दिन भर झाड़ियों में छिपा रह कर सायं समय में समूह बना कर भोजन की तलाश में निकलता है। इसको अनाज के दाने तथा कीड़े-मकौड़े अधिक प्रिय हैं। मादा मुर्गी किसी झाड़ी में घर बना कर ५–६ अण्डे एक साथ देती है। इनका रंग हलका बादामी होता है। शिकारियों को जंगली मुर्ग बहुत पसन्द है और वे इसके मांस के लिये इसको बहुत खोजते रहते हैं।

कुक्कुभ पक्षी की पहचान के सम्बन्ध में मतभेद है। 'शरच्चन्द्रिका' के अनुसार यह पक्षी ग्रामचटका (गौरेया) के समान आकार का होता है। इसकी पूँछ श्वेत, गला नीला और शरीर लाल होता है। यह स्थल पक्षी है। इसकी ध्वनि मुर्गे के समान होती है।[7] मोनियर विलियम इसको जंगजी मुर्गा बताते हैं।[8]

---

१. वीणावासवदत्तम् पृ० १६। २. हनूमन्नाटक २.३०।

३. प्रियदर्शिका पृ० २०।

४. बालरामायण २.६। ५. मृच्छकटिक १.२०।

६. उत्तररामचरित २.६।

७. सितपुच्छो नीलगलः स्याद् ग्रामचटकाकृतिः।
कुक्कुभः कुक्कुटारावः स्थलजो रक्तवर्णकः।
। मालतीमाधव ९.७ की व्याख्या में उद्धृत।

८. मोनियर विलियमः संस्कृत–अंग्रेजी कोश पृ० २८७।

भवभूति ने दक्षिणी वनों में रहने वाँले कुक्कुभ नामक पक्षी का वर्णन किया है। यह कपोतों के कूजन के साथ स्वर मिला कर कूजन करता है।[1]

३४. कुरर (मछरंग)--

संस्कृत नाम--उत्क्रोश, कुरर, मत्स्यादन

हिन्दी नाम—कुरर, कुररी, मछरंग

अंग्रेजी नाम—Tern

लैटिन नाम—Pandion haliaetus

संस्कृत साहित्य में कुरर और कुररी पक्षी अपनी करुण क्रन्दन ध्वनि के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। इस पक्षी की पहचान मछरंग पक्षी से की गई है। यह मछली खाने का बहुत शौकीन है। ऊँचे आकाश में उड़ते हुये यदि वह जल में किसी मछली को देख लेता है, तो सीधा झपट्टा मार कर पैरों से पकड़ कर उठा कर ले जाता है। इसको सूखी जमीन पर पटक कर मार कर खा जाता है। इसकी ध्वनि वसन्त और ग्रीष्म में अधिक सुनाई देती है।[2]

कोश ग्रन्थों के अनुसार कुरर मछली को मारने वाला पक्षी है।[3] मछरंग (मत्स्यकुररी) के मत्स्यभोजी होने तथा इसकी ध्वनि के आर्तनाद की ध्वनि के तुल्य होने से पं० हरिदत्त वेदालंकार ने भी इसको कुरर ही माना है।[4]

कुरर पक्षी दो प्रकार का होता है--छोटा और बड़ा। दोनों एक से ही हैं, परन्तु आकार का भेद है। बड़ा कुरर (Common river teru) १६ इंच के लगभग होता है। पूँछ दो भागों में बंटी, शरीर हल्का सलेटी, परन्तु नीचे से लाख के रंग का होता है। ग्रीष्म ऋतु में इसका कनपटी से सिर तक का भाग चमकीला गहरा काला हो जाता है। यह काले मखमल जैसा लगता है। इसकी चोंच लम्बी, गहरी पीली और छोटे-छोटे पैर लाल रग के होते हैं।

छोटा कुरर (Black billed tern) भी सलेटी होता है। ग्रीष्म में सिर के काले होने के साथ ही पेट से पूँछ तक का भाग भी काला हो जाता है। अण्डे देने के बाद मादा कुरर का रंग पहले जैसा हो जाता है। इसकी चोंच नारंगी और पैर लाल होते हैं।

कुरर पक्षी का मुख्य भोजन मछली है। मादा कुरर किसी टापू में खुले में अण्डे देती है। रेत जैसा रंग होने से ये आसानी से उसमें छिप जाते हैं। सैंकड़ों

---

१. वीरुन्नीडकपोतकूजितमनुक्रन्दन्त्यधः कुक्कुभाः। मालतीमाधव ९.७।

२. सालिम अली: भारत के पक्षी पृ० १३४।

३. कुररः मत्स्याशनः। त्रिकाण्डशेष २.५.५४। अथोत्क्रोशो मत्स्याशन कुररः। अभिधानचिन्तामणि ४.४०१। उत्क्रोशः कुररो मत्स्याशनः। वैजयन्तीकोश।

४, कालिदास के पक्षी पृ० १४८-१५०।

मादा कुरर एक साथ अण्डे देती हैं। यदि उस समय कोई मनुष्य वहाँ पहुँच जावे तो वे तेज आवाज करती हुई उसके चारों ओर उड़ने लगती हैं।

कुरर सैंकड़ों की संख्या में एक साथ रहते हैं। उनके पैरों में बत्तखों के समान जाली होती है। इससे वे सरलता से तैर सकते हैं।

संस्कृत कवियों ने कुरर का उल्लेख सारस आदि जलचर पक्षियों के साथ किया है। दक्षिणारण्य के एक जलाशय में जलक्रीड़ा करते हुये एक हाथी ने कुरर, सारस आदि पक्षियों को डरा दिया था।[1] कुलशेखर वर्मन् ने कुरर पक्षियों की जलक्रीड़ा का वर्णन किया है।[2]

कुरर पक्षी की आवाज कुछ तीखी और चुभती हुई सी होने से इसका नाम उत्क्रोश हुआ।[3] प्रतीत होता है कि वह जैसे किसी को पुकार रहा है (क्रुश आह्वाने, उत्क्रोशति आह्वयते)। श्यामिलक ने वर्णन किया है कि कांसे को खराद पर चढ़ाने से कुरर पक्षी की ध्वनि के समान ध्वनि निकलती है।[4]

संस्कृत कवियों के अनुसार कुररी की मार्मिक ध्वनि उस करुण विलाप करती हुई युवती के समान है, जो सहायता के लिये किसी को पुकार रही हो। लक्ष्मण द्वारा वन में छोड़े जाने पर सीता ने कुररी के समान विलाप किया था[5]। सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के अनन्तर उसकी माता कुररी के समान रोकर अपनी व्यथा कहने लगी थी।[6]

भास, कालिदास और भवभूति ने नारी की करुण ध्वनि को कुररी के समान बताया है। भास ने लिखा है कि प्रासाद से नारियों की रुदन-ध्वनि इस प्रकार निकल रही थी, जैसे कि बाज पक्षी से आक्रान्त कुररी रुदन कर रही हो[7]। केशी द्वारा उर्वशी को पकड़ लेने पर सहायता के लिये चिल्लाती हुई अप्सराओं की आर्त ध्वनि कुररियों के समान थी[8]। श्मशान में घूमते हुये माधव को कापालिक द्वारा पकड़ी गई मालती की कुररी के समान करुण ध्वनि कराला देवी के मन्दिर से आती हुई सुनाई दी थी।[9]

---

१. मालतीमाधव पृ० ४१४। २. तपतीसंवरण ३.२।
३. उत्क्रोशकुररौ समौ। अमरकोश २.५.२३।
४. पादताडितक श्लोक २८।
५. रघुवंश १४.६८। ६. बुद्धचरित ८.५१।
७. प्रतिज्ञायौगन्धरायण ४.२६।
८. अये किं नु खलु मद्विज्ञापनानन्तरं कुररीणामिवाकाशे शब्दः श्रूयते ?
। विक्रमोर्वशीय पृ० १४४।
९. नादस्ताद् विकलकुररीकूजितस्निग्धतार-
श्चिताकर्षी परिचित इव श्रोत्रसंवादमेति। मालतीमाधव ५.२०।

३५. कुरुकुच—

कुलशेखर वर्मन् ने कुरुकुच पक्षी का उल्लेख किया है। इसकी पहचान नहीं की जा सकी है। यह पक्षी सीधे मर्म पर आघात करता है। अतः इस प्रकार के व्यवहार को कौरुकुची वृत्ति कहा जाता है।[1]

३६. कोकिल (कोयल)—

संस्कृत नाम—परभृत्, कोकिल, पिक, वनप्रिय, कलकण्ठ, मधुगायन, कुहूरव, ताम्राक्ष।

हिन्दी नाम—कोयल।

अंग्रेजी नाम—Indian Koel, Indian cockoo।

लैटिन नाम—**Eudynamys scolopacea**।

कोयल से प्रायः सभी सहृदय जन परिचित हैं। वसन्त ऋतु का प्रादुर्भाव होते ही जब सम्पूर्ण प्रकृति पुष्पों के विकास से अलङ्कृत और सुरभित होती है, आमों की मञ्जरियों की सुगन्धि वायुमण्डल को भर देती है, कोयल के मधुर कूजन रूपी गीत कानों में आनन्दमयी सृष्टि की संयोजन करके सहृदयों के मनों को अनुरञ्जित करते हैं। कोयल को ठंड पसन्द नहीं है। वसन्त ऋतु आते ही वह उत्तर भारत में आ जाता है और शीत ऋतु में दक्षिण में चला जाता है।

कोयल लगभग १७ इंच लम्बा पक्षी है। नर कोयल गहरे काले रंग का तथा मादा कुछ भूरापन लिये होती है। पंखों पर श्वेत चित्तियाँ तथा पूंछ पर भूरी-श्वेत धारियां होती हैं। यह पक्षी सामान्यतः शाकाहारी है। मादा कोयल जून के महीने में अण्डे देती है। अण्डा नीला-हरा होता है, जिस पर कत्थई चित्तियाँ रहती हैं।

कोयल अपना घोंसला स्वयं नहीं बनाता, नाहीं स्वयं बच्चों का पालन करता है। नर कोयल कौओं के घोंसलों के समीप जाकर इतना शोर मचाता है और उत्पात करता है कि वहाँ के सभी नर-मादा कौये उसको भगाने के लिये उसका पीछा करते हैं। इस समय मादा कोयल कौये के घोंसले में स्थित उनके अण्डे गिरा कर अपने अण्डे रख देती है। कोयल के नवजात शिशु भी बहुत कुछ कौये के बच्चों के समान होते हैं। कौआ उनको अपने बच्चे समझ कर पालता रहता है। बड़े होने पर उनका भेद खुलता है।

संस्कृत कवियों ने कोयल के स्वर की बहुत प्रशंसा की है।[2] सर्वथा कृष्ण वर्ण का होने पर भी इस पक्षी ने कवियों और सिद्धजनों से बहुत आदर पाया है। वनों-उपवनों में यह स्वतन्त्रता से विचरण करता हुआ कूजता रहता है।[3] कोयल का

---

१. सुभद्राधनञ्जय ४.४५।
२. परभृतविरुतं कलम्। अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१०।
३. कौमुदीमहोत्सव पृ० ५, बालरामायण १.४२।

स्वर मधुर और धीर कहा गया है।[१] मादा कोयल की अपेक्षा नर कोयल का स्वर अधिक मधुर होता है।

कोयल का वसन्त ऋतु से विशेष सम्बन्ध है। वसन्त का आगमन होते ही कोयल बहुत प्रसन्न होता है।[२] इस समय आम्र वृक्षों पर नव मञ्जरियाँ प्रस्फुटित होती हैं। वसन्त के प्रभाव से अपार मद से भरा हुआ कोयल कलियों से युक्त पल्लवों को देख कर उन्मत हो जाता है[३] और कूजना प्रारम्भ कर देता है।[४] कोयल का यह राग पञ्चम राग[५] या काकली पञ्चम है।[६] आमों की कलियों को देखकर उन्मत्त कोयल[७] विलास से भरे मधुर स्वरों का गान करने लगता है।[८] कोयल का यह कूजन सहृदयों के कानों के लिये परम सुखद[९] और प्रणयिजनों के लिये कामदेव की आज्ञा का प्रसारण है।[१०] सहृदय इस ध्वनि में रसीले गीतों का आनन्द पाते हैं।[११]

वसन्त ऋतु में सुगन्धित प्रस्फुटित आम्र-मञ्जरियाँ कोयल का प्रिय खाद्य है।[१२] इनको खाकर वह निरन्तर कूजता रहता है।[१३] आम्र-मञ्जरियों का भोजन इसके स्वर को और भी अधिक मधुर बनाता है, अतः वह इन पर आघात करता हुआ गायन करता है।[१४]

वसन्त में कोयल के कूजन का विरही जनों पर विशेष प्रभाव होता है। मदमत्त कोयल की मधुर ध्वनि को सुन कर वसन्त के प्रभाव से पहले ही उत्पीडित विरही जन और भी अधिक व्यथित हो जाते हैं।[१५] कूकता हुआ कोयल मानो लाल आँखें करके उनको शाप दे रहा होता है कि तुम प्रतिदिन कृश होते जाओ, मूर्छित हो

---

१. परभृतनाद एष धीरः। विक्रमोर्वशीय १.३।
२. चारुदत्त पृ२ २१। ३. आश्चर्यचूडामणि ५.२४।
४. पद्मप्राभृतक श्लोक ५।
५. कर्पूरमञ्जरी पृ० २५, विद्धसालभञ्जिका १.२३।
६. बालरामायण ५.६७।
७. चूतकलिकां दृष्ट्वा परभृतिका उन्मत्ता भवति। । अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३९२।
८. तवेदानीं काल एष विभ्रमगीतानाम्। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३९२।
९. आमत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानाम्। मालविकाग्निमित्र ३.४।
१०. कर्पूरमञ्जरी १.८। ११. नैषधीयचरितम् १.१०२।
१२. विद्धसालभञ्जिका पृ० ३४।
१३. मालतीमाधव पृ० १२९–१३०, रत्नावली पृ० २६।
१४. सुभद्राधनञ्जय २.९।
१५. आमत्तकोकिलरुतव्यथिता तु हृद्याम्। मालतीमाधव ८.४।

जाओ और मर जाओ।[1] वसन्त में कोयल के स्वर को सुनकर भी जो अपने प्रिय को नहीं मना लेता, उसका जीवन सर्वथा व्यर्थ है।[2]

कोयल के स्वर की मधुरता का अनुभव करके कुछ लोगों ने यह भी कल्पना की थी कि इसके मांस को खाने से स्वर मधुर होगा। शूद्रक ने शकार के माध्यम से कहा है कि वह हींग और काली मिर्च के साथ तेल में छोंक कर कोयल का मांस लेता है, अतः उसका स्वर मधुर क्यों न हो।[3]

संस्कृत नाटककारों ने कोयल के स्वभाव और आचरण का कुछ परिचय दिया है। इसकी लाल आँखों[4] की पुतलियाँ उलटी घूमती हैं।[5] कोयल को फलों का रस अधिक पसन्द है। पके जामुन के रस का आस्वादन करने से उसका कण्ठ-स्वर मधुर हो जाता है।[6] वसन्त में आम्रमञ्जरियों के लोभ से वह वनों और उपवनों में कुहकता रहता है। वर्षा का आगमन होते ही वह अन्यत्र चला जाता है।[7]

कोयल द्वारा अपने अण्डों के स्वयं न सेने तथा बच्चों का पालन न करने के स्वभाव का कवियों ने संकेत किया है। इस कारण इसको परभृत[8], परपुष्टा[9] आदि नाम दिये गये हैं। कालिदास का कथन है कि अन्तरिक्ष में उड़ने से पूर्व कोयल अपने बच्चों का पालन अन्य पक्षियों से कराता है।[10]

स्वच्छन्द स्वभाव का कोयल वनों[11] और उपवनों में[12] स्वच्छन्द विचरता है। परन्तु स्वर के माधुर्य के कारण इसको पाला भी जाता था। इसको पालने में सावधानी रखनी पड़ती थी, क्योंकि जरा सी भी असावधानी होने और खुला छोड़

---

१. दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनर्पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट सलोहितेक्षणान्।
। नैषधीयचरितम् १.६०।

२. उभयाभिसारिका श्लोक ३१।

३. हिंगूज्ज्वलं दत्तमरीचचूर्णं व्याघारितं तैलघृतेन मिश्रम्।
भुक्तं मया पारभृतीयमांसं कथं नाहं मधुरस्वर इति। मृच्छकटिक ८.१४।

४. नैषधीयचरितम् १.६०। ५. स्वप्नवासवदत्तम् पृ० १०२।

६. विक्रमोर्वशीयम् ४.२७।

७. अक्षद्यूतजितो युधिष्ठिर इवाध्वानं गतो कोकिलः। मृच्छकटिक ५.६।

८. पद्मप्राभृतक श्लोक ५, अभिज्ञानशाकुन्तल ४.२०।

९. मृच्छकटिक पृ० १७८।

१०. प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृतः खलु पोषयन्ति। अभिज्ञानशाकुन्तल ५.२२।

११. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०। १२. अभिषेकनाटक २.६।

देने पर यह बिडाल आदि जन्तुओं का शिकार हो सकता था ।[1] पालतू कोयल को पिंजरे में रखा जाता था। वसन्तसेना के पक्षिगृह में कोयल भी था। वह विविध फल-रसों का आस्वादन करता हुआ प्रसन्न होकर कूजता रहता था। उसके भवन में खूंटियों पर कोयलों से भरे पिंजरों की पंक्ति लटकी रहती थी।[2] कवियों ने वर्णन किया है कि पाले जाने पर कोयल परिचित हो जाते हैं और पालक के पीछे घूमते रहते हैं ।[3]

कवियों ने कोयल के स्वभाव को उपमान के रूप में भी प्रस्तुत किया है। नर कोयल का स्वर अधिक मधुर होने के कारण उसको तरुणियों के मधुर स्वर का उपमान बनाया गया है।[4] चालाक स्त्रियां दूसरों को धोखा देकर उसी प्रकार अपना काम निकाल लेती हैं, जैसे कि मादा कोयल अपने बच्चों का पालन अन्य पक्षियों से करा लेती है।[5] कोयल का प्रवास भी उपमान बना है। जुये में हार कर युधिष्ठिर को उसी प्रकार प्रवास करना पड़ा था, जैसे कि कोयल करता है।[6]

३७. क्रौञ्च (कूंज)—

संस्कृत नाम - क्रौञ्च, क्रुङ्, क्रुञ्च

हिन्दी नाम—कूंज

अंग्रेजी नाम—Common crane

लैटिन नाम—**Grus leucogeranus**

क्रौञ्च पक्षी हंस और सारस की ही जाति का एक पक्षी है। पं० हरिदत्त वेदालंकार ने इसको सारस के परिवार का पक्षी माना है। भारतीय भाषाओं में यह पक्षी कूंज के नाम से प्रसिद्ध है।[7] क्रों-क्रां ध्वनि करने के कारण इसका नाम क्रौञ्च या क्रुङ् हुआ।[8] इसका मूल निवास यूरोप, अफगानिस्तान और चीन है। शरद् ऋतु का आरम्भ होने पर ये पक्षी अफगानिस्तान और पाकिस्तान होकर भारतवर्ष में आते हैं।

क्रौञ्च लगभल ४५ इंच का राख के से वर्ण का पक्षी है। पंख कुछ काले, ग्रीवा और गालों पर भी कुछ कालिमा होती है। चौंच गहरी हरी और पैर काले होते हैं। पूंछ के पर उठे हुये घुंघराले होते हैं। यह मांसाहारी पक्षी है।

क्रौञ्च जल को पसन्द करता है। ये जलाशयों और नदियों के तटों पर समूहों

---

१. बिडालगृहीतायाः परभृतिकायाः । मालविकाग्निमित्र पृ० ८४।
२. मृच्छकटिक पृ० १७८। ३. हनूमन्नाटक ३.१०।
४. बालरामायण ५.६७ ॥ ५. अभिज्ञानशाकुन्तल ५.२२ ॥
६. मृच्छकटिक ५.६ ॥ ७. कालिदास के पक्षी पृ० ५६-५७ ॥
८. क्रुञ्चति इति क्रुङ् । अमरकोश-२.५.२२ पर रामाश्रमी टीका ॥

में रहते हैं। उड़ते समय इनकी सीधी पंक्ति आकाश में दूर तक चली जाती है। इनकी कर्कश ध्वनि दूर तक सुनाई देती है। मादा कौञ्च अपने देश में वापिस जाकर ही अण्डे देती है। यह दलदली भूमियों के समीप टहनियों से ऊंचा घांसला बना कर उसमें भूरे रंग के दो अण्डे देती है।

क्रौञ्च पक्षी भारतीय कवियों को अति प्रिय रहा था। महर्षि बाल्मीकि के अमर काव्य 'रामायण' ने इस पक्षी के नाम को अमर कर दिया है। एक व्याध द्वारा क्रौञ्च का वध करने के कारण उत्पन्न करुणा ने ही बाल्मीकि को 'रामायण' महा-काव्य को लिखने की प्रेरणा दी थी।[१]

संस्कृत नाटककारों ने क्रौञ्च पक्षी का बहुधा वर्णन किया है। ये शरद् ऋतु में दृष्टिगोचर होते हैं।[२] उद्यानों के जलाशयों के समीप इनका निवास रहता है। इनकी क्रेङ्कार ध्वनि चिताकर्षक होती है।[३]

३८. खञ्जन—

संस्कृत नाम—खञ्जन, खञ्जरीट, मुनिपुत्रक, गूढनीड

हिन्दी नाम—खंजन

अंग्रेजी नाम—Wagtail

लैटिन नाम—**1. Motacilla cinerea**
2. Motacilla flava
3. Motacilla citreola

खञ्जन एक प्रवासी पक्षी है। शीत ऋतु का प्रारम्भ होते ही इसका भारतवर्ष में आगमन होता है। खञ्जन पक्षियों के समूह आकाश में दृष्टिगोचर होते हैं। 'हनूमन्नाटक' में दक्षिण वनों में इसकी उपस्थिति कही गई है।[४]

खञ्जन दो प्रकार के दिखाई देते हैं—शबल खञ्जन और श्वेत खञ्जन। दोनों आकृति और आदतों में एक से हैं। अपना रंग बदलने के लिये खञ्जन प्रसिद्ध है। शबल खञ्जन का ऊपरी सिरा काला और श्वेत धारियों से युक्त होता है। काली दुम के किनारे श्वेत होते हैं। गरमियो में चोंच से नीचे का भाग काला होता है। पैर भी काले होते हैं।

श्वेत खञ्जन के ऊपरी हिस्से में कालिका कम होती है कण्ठ के नीचे का

---

१. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहतम्॥ बाल्मीकिरामायण १.२.१५॥

२. वेणीसंहार पृ० १२॥ ३. विद्धसालभञ्जिका पृ० १९॥

४. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०॥

काला भाग सर्दियों में अदृश्य हो जाता है। खञ्जन पक्षी वर्ष में एक बार अपने पंख बदलता है।

खञ्जन को न तो अधिक घने वन पसन्द है और नाहीं अधिक सूखे क्षेत्र। जल के तटवर्ती प्रदेशों में कीड़ों के दिखाई देने के कारण उनके लोभ से वह वहां अधिक रहता है। ये पक्षी जल के मध्य में तैरते हुये पत्तों पर भी बैठे रहते हैं। खञ्जन मनुष्य से शीघ्र परिचित हो जाता है और मीठी बोली बोलता है। मादा खञ्जन भूमि पर पत्थरों या लकड़ियों के मध्य घोंसला बना कर चार-पांच अण्डे मई-जुलाई के मध्य देती है। हल्की राख के रंग के इन अण्डों पर गहरी चित्तियां होती हैं। राजशेखर ने खञ्जन के सिर पर कलगी होने का वर्णन किया है।[1]

खञ्जन पक्षी की साहित्य में प्रसिद्धि इसके नेत्रों के सौन्दर्य के कारण है। सुन्दर नेत्रों के सौन्दर्य की उपमा खञ्जन के नेत्रों से दी गई है।

३९. गरुड—

संस्कृत नाम—गरुड, गरुत्मान्, वैनतेय, तार्क्ष्य, खगेश्वर, नागान्तक, विष्णुरथ, सुपर्ण, पन्नगाशन

हिन्दी नाम – गरुड़

अंग्रेजी नाम—Golden eagle

लैटिन नाम—**Aquila chrysaetos**

भारतीय साहित्य में गरुड़ बहुत अधिक प्रसिद्ध है। विष्णु के वाहन के रूप में कल्पित होने के कारण इसको प्रभूत प्रसिद्धि प्राप्त हुई थी। आकार के विशाल होने से इसको पक्षिराज कहा गया।

भारतवर्ष के शिकारी पक्षियों में गरुड़ का आकार और शक्ति सबसे अधिक है। ३६–४० इंच का यह अति कुशल शिकारी पक्षी ऊंचे हिमालय क्षेत्रों में निवास करता है। यह छोटे पशुओं, पक्षियों, मैंढक, सर्प आदि का शिकार करके उनको खा जाता है। सांपों को खाने का इसको विशेष शौक है।

ऊंचे हिमालय क्षेत्रों में रहने के कारण गरुड़ कम ही दिखाई देता है, परन्तु इसका छोटा भाई उकाब (छोटा गरुड़–Tawny eagle) लगभग सारे भारत में मिलता है। उकाब हिमालय में भी ४००० फीट तक रहता है, जबकि इससे अधिक ऊंचाई पर गरुड़ का निवास है। उकाब एक सुन्दर पक्षी है तथा अच्छा शिकारी है। यह खरगोश तक को पंजों में दबा कर उड़ जाता है। मादा उकाब नवम्बर से जून तक १–३ अण्डे देती है। श्वेत-राख के रंग के इन अण्डों पर लाल-बैंजनी चितियाँ होती हैं।

---

१. विद्धसालभञ्जिका पृ० ५७॥

संस्कृत साहित्य में गरुड़ का एक भौतिक पक्षी की अपेक्षा पौराणिक वर्णन ही अधिक है। पौराणिक कथाओं के अनुसार गरुड़ के पिता कश्यप थे। इनका एक नाम तृक्ष होने से गरुड़ को तार्क्ष्य भी कहा गया। गरुड़ की माता का नाम विनता था, अतः इनका एक नाम वैनतेय भी प्रसिद्ध हुआ।

साहित्य में गरुड़ का सर्पों के साथ द्वेष प्रसिद्ध है। यह सांपों को मार कर खा जाता है। इसलिये इसको पन्नगाशन भोगभोजिन् भी कहा जाता है।[१] पौराणिक कथा है कि कश्यप की कद्रू और विनता नाम की दो पत्नियां थीं। कद्रू की सन्तान सर्प थे और विनता की सन्तान गरुड़ थे। कद्रू ने धोखा देकर विनता को अपनी दासी बनने पर मजबूर किया और वह इसके साथ दुर्व्यवहार करती थी। इससे सर्पों का गरुड़ के साथ स्वाभाविक वैर हो गया। वह इनको मार कर खाने लगा।[२]

गरुड़ को पक्षियों का राजा कहा जाता है।[३] वह अति वेगशाली और पराक्रमी है। इसकी गति अति तीव्र होने से कवियों ने इसको तीव्र-गति का उपमान बनाया[४]।

गरुड़ को देवता के रूप में भी कल्पित किया गया है। पौराणिक कथाओं के अनुसार गरुड़ ने तपस्या करके विष्णु के वाहनत्व को प्राप्त किया था। मन्दिरों में विष्णु की गरुड़ारूढ़ मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की जाती हैं। गरुड़ के स्वतन्त्र मन्दिर भी हैं। यहां गरुड़ की मूर्तियाँ नाग पर आरूढ़ बनाई जाती हैं।

४०. गृध्र (गिद्ध)

संस्कृत नाम—गृध्र, दाक्षाय्य, दूरदर्शन, वज्रतुण्ड

हिन्दी नाम—गिद्ध

अंग्रेजी नाम—Vulture

लैटिन नाम—**Gyps bengalensis** (चमर गिद्ध)
Neophron perenopterus (गोबर गिद्ध)
Gyps indicus (राजगिद्ध)

साहित्य में गिद्ध की प्रसिद्धि लोभ और बुद्धिमत्ता दोनों के लिये है। यह मांसभोजी पक्षी स्वयं शिकार न करके मुर्दों का मांस खाता है। चोंच के मजबूत और टेढी होने पर भी इसके पंजे और नाखून उतने तेज और मजबूत नहीं होते। अतः वह शिकार को मजबूती से पकड़ नहीं सकता। मुर्दे का आभास पाते ही चारों

---

१. नैषधीयचरितम् १.३२ ॥
२. नागानन्द पृ० १४३, उरुभङ्ग १.८ ॥
३. मृच्छकटिक १.२२ ॥
४. ह्याः सुपर्णेन समानवेगाः । कर्णभार १.१३ ॥
विक्रमोर्वशीय पृ० १५६ ॥

ओर से गिद्ध मंडराने लगते हैं। वे कुछ ही समय में सारा मांस खाकर सफाई कर देते हैं। भारतवर्ष में गिद्धों की अनेक जातियां मिलती हैं। इनमें तीन प्रमुख हैं—

क. चमरगिद्ध—(White backed vulture) लगभग तीन फीट का भारी शरीर का यह गिद्ध मजबूत पखों के सहारे तेज और ऊंची उड़ान भरता है। हलके काले सिर पर श्वेत चित्ती होती है। गरदन सलेटी, पैर काले, पंख भूरे-काले एवं पीछे से श्वेत, चोंच का अगला भाग सलेटी तथा पिछला श्वेत होता है। मादा गिद्ध अक्टूबर-मार्च में एक बड़ा श्वेत अण्डा देती है, जिस पर लाल-कत्थई चित्ती रहती है।

ख. गोबरगिद्ध—(Scavenger vulture) गोबरगिद्ध की शक्ल कुछ-कुछ चील से मिलती है। २०–३० इंच आकार का यह पक्षी गन्दा श्वेत रंग, पंख काले-भूरे तथा ग्रीवा बिना बालों की पीली होती है। यह मुर्दों के मांस के अतिरिक्त गोबर, विष्ठा आदि से भी पेट भर लेता है। मादा गोबरगिद्ध फरवरी-अप्रैल में लाल-श्वेत रंग के दो अण्डे देती है। इन पर कत्थई चित्तियां रहती हैं।

ग. राजगिद्ध (King vulture)—यह लगभग ३२ इंच आकार का होता है। इसका रंग सुन्दर काला और गरदन लाल होती है। सुन्दर रूप के कारण इसको राजगिद्ध कहा गया है। राजगिद्ध अकेले या युगल रूप में रहते हैं। ये मृत मांस को खाने की तलाश में रहते हैं। इनका घोंसला ऊंचे वृक्षों पर होता है। मादा राजगिद्ध दिसम्बर-अप्रैल में एक बड़ा श्वेत रंग का अण्डा देती है। यह बाद में गन्दा-मटमैला हो जाता है।

कवियों ने गिद्ध के बाह्य रूप का वर्णन किया है। इनकी चोंच तीक्ष्ण और कठोर होती है। गरदन सुनहरी और आंखें लाल होती हैं।[1] भास वर्णन करते हैं कि पिंगल आंखों और तेज चोंच वाले गिद्ध लम्बे पखों को फैलाये हुये आकाश में उड़ते रहते हैं।[2]

गिद्ध विशुद्ध मांसाहारी पक्षी है। मांस का आभास पाते ही झपट कर वह उसको उठा कर ले जाता है। कालिदास ने वर्णन किया है कि पुरुरवा और उर्वशी को मिलाने वाली लाल रंग की संगमनीय मणि को माँस का टुकड़ा समझ कर एक गिद्ध उठा कर ले गया था।[3] पुरुरवा के पुत्र आयु ने वृक्ष के शिखर पर बैठे उस गिद्ध को अपने बाणों का निशाना बनाया था।[4]

---

१. आश्चर्यचूडामणि ४.७ ॥

२. गृध्राः मधूकमुकुलोन्नतपिङ्गलाक्षाः
दैत्येन्द्रकुञ्जरलताङ्कुशतीक्ष्णतुण्डाः।
भात्यम्बरे विततलम्बविकीर्णपक्षाः॥ उरुभङ्ग १.११ ॥

३. मणिरामिषाशङ्किना गृध्रेणाक्षिप्तः। विक्रमोर्वशीयम् पृ० २३९।

४. गृध्रः पादपशिखरे निलीयमनोऽनेन लक्ष्यीकृतो बाणस्य।
विक्रमोर्वशीय पृ० २५३।

गिद्धों का वर्णन मुख्य रूप से मुर्दों को खाने वाले पक्षियों में हुआ है। ये मांस के लोभ में ऊँचे आकाश में उड़ते रहते है।[१] श्मशानों में ये सामान्य रूप से उड़ते देखे जाते हैं।[२] मुर्दे खाने वाले तीन मुख्य प्राणियों—गीदड़, कौआ और गिद्ध में इसकी गणना है।[३]

श्मशानों और युद्ध-क्षेत्र में गिद्धों की उपस्थिति विशेष रूप से होती है। श्मशानों में मृत्युदण्ड प्राप्त अपराधियों के शव गिद्धों की बलि होते थे।[४] श्मशानों के ऊपर ये मण्डलाकार उड़ते हैं तथा शवों को देखते ही उन पर टूट कर सारा मांस खा जाते हैं।[५] शव को बुरी तरह नोच कर चोंच मार कर प्रत्येक अंश को छेद देते हैं[६]। युद्ध-स्थलों में गिद्धों का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। यहाँ वे अपना आवास बना लेते हैं[७] और युद्ध में मृत शवों पर मंडराते रहते हैं। शव को देखते ही वे उसके खण्ड-खण्ड कर देते हैं।[८]

४१ चकोर—

संस्कृत नाम—चकोर, चकोरक, चन्द्रिकापायिन्
हिन्दी नाम—चकोर, श्वेत तीतर
अंग्रजी नाम—White partridge
लैटिन नाम—**1. Alectrosis qracca chukar**
2. Perdix rufa

चकोर के सौन्दर्य और वाह्य रूप-रंग का कवियों ने वर्णन किया है। श्वेत वर्ण[९] के इस पक्षी की आँखें सुन्दर लाल होती हैं।[१०] यह स्वच्छन्द विहार करने वाला पक्षी है।[११] खुले घास वाले मैदानों और कंटीली झाड़ियों वाले स्थानों को यह

---

१. तपतीसंवरण ५.२।
२. चण्डकौशिक ४.७, नागानन्द ५.१८।
३. हनूमन्नाटक ८.२०।
४. गृध्रवलिर्भविष्यति। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३८५।
५. गृध्रैरावद्धचक्रं वियति विचलितैर्दीर्घनिष्कम्पपक्षै। मुद्राराक्षस ३.३८।
६. चण्डकौशिक ४.६।
७. दिशि-दिशि कृता गृध्रावासाः। उरुभङ्ग १.५।
८. मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनरगहने खण्डितान् गृध्रकङ्कैः। वेणीसंहार ५ ३६।
९. बालरामायण पृ० २६१।
१०. चकोरनयनारुण। विद्धसालभञ्जिका ४.१।
मत्तचकोरशावनयनाः। बालचरितम् ४.१।
११. हनूमन्नाटक पृ० ६८--७०।

अधिक पसन्द करता है। घने वनों तथा नदी-नालों वाले क्षेत्रों से दूर रहता है। घरों, ग्रामों तथा खेतों के समीप दिखाई दे जाता है। भागने में भी यह काफी तेज है। शिकारी पक्षियों द्वारा पीछा किये जाने पर तेजी से उड़ता है। इसकी ध्वनि सुरीली और गूँजती सी होती है। चकोर की टांगों में एक कांटा सा होता है। इसका उपयोग यह युद्ध की स्थिति में करता है।

चकोर का भोजन अन्न के दाने, बीज, कीड़े, दीमक, भौंरे, लार्वा आदि है। मादा चकोर झाड़ियों वाले स्थान पर एक साथ ४--८ अण्डे देती है। ये क्रीम रंग के होते हैं।

चकोर को सरलता से पाला जा सकता है। युवतियों के लिये यह अच्छा मनोरञ्जक पालतू पक्षी रहा था। वनों में जाते हुये सीता ने अपने जिन पालतू पक्षियों से विदा ली थी, उनमें चकोर भी एक था।[१]

कवियों को चकोर की आँखें बहुत सुन्दर लगी थीं। उन्होंने इनको सुन्दर मानव-नयनों का उपमान बनाया है। कुलशेखर वर्मन् सुन्दर तरुणियों की आँखों की[२] और शूद्रक सुपुरुष की आँखों की[३] उपमा चकोर के नेत्रों से देते हैं।

चकोर पक्षी के सम्बन्ध में अनेक कवि-प्रसिद्धियाँ लोक में विश्रुत हैं। विषयुक्त भोजन को देख कर चकोर की आँखें लाल हो जाती हैं। अतः विषयुक्त भोजन की परीक्षा के लिये चकोर को राजकीय भोजनालयों में पाला जाता था। चकोर का चन्द्रमा के साथ भी विशेष सम्बन्ध कहा गया है। चन्द्रमा को उदय होता देख कर वह प्रसन्न होता है।[४] चन्द्रमा के द्वारा ही इनके उपवास की पारणा होती है।[५] चकोर चन्द्रिका को चुगते हैं तथा वही इनका प्रिय भोजन है।[६]

चकोर का अपनी प्रिया के साथ अतिशय स्नेह भी प्रसिद्ध है। वह उसके विना रह नहीं सकता। मद से भरा हुआ चकोर आँखों की पुतालियों को घुमाता हुआ प्रिया के साथ अभिसार करता है।[७]

४२. चक्रवाक (चकवा)—

संस्कृत नाम—चक्रवाक, चक्र, कोक, रथाङ्ग, कामुक

हिन्दी नाम—चकवा

अंग्रेजी नाम—Ruddy sheldrabe

लैटिन नाम— **Toborna ferraqinea**

---

१. बालरामायण ६.२७। २. तपतीसंवरण १.१६।
३. चकोरनेत्रः। मृच्छकटिक १.३। ४. हनूमन्नाटक २.७।
५. अनर्घराघव १.१। ६. बालरामायण पृ० २९१।
७. कान्तामन्तः प्रमोदादभिसरति मदभ्रान्ततारश्चकोरः। मालतीमाधव ९.३।

बत्तख की भाँति चक्रवाक एक प्रवासी पक्षी है। सरदियों के प्रारम्भ में उत्तर दिशा से भारत में आकर सरदियों के समाप्त होते ही चला जाता है। कवियों ने इसके प्रवासी होने के अनेक वर्णन किये हैं।

चक्रवाक लगभग दो फीट लम्बा नारङ्गी-सुनहरी पक्षी है। सामान्यत: यह युगल में रहता है। परन्तु इसके बड़े समूह भी दृष्टिगोचर होते हैं। रङ्गीन चक्रवाक के अतिरिक्त एक अन्य श्वेत चक्रवाक, जिसके शरीर पर हरी-काली-कत्थई धारियाँ होती हैं, इस देश में आता है। परन्तु इसकी संख्या कम है। इसको शाही चकवा (Sheldrake) हैं।

कहते संस्कृत कवियों ने चक्रवाक को श्वेत कहा है।[1] परन्तुयह अधिकतर रंगबिरंगा होता है। पं० हरिदत्त वेदालंकार ने इसका रूप इस प्रकार बताया है—

चक्रवाक लगभग २६ इचं लम्बा पक्षी है। इसकी चोंच तथा पैर काले होते हैं। सिर और गरदन पीली तथा शरीर के पंख ऊपर के नारंगी-भूरे होते हैं। पीठ का पिछला भाग तथा कटि प्रदेश सादा होता है। पंख श्वेत-काले चमकीले हरे तथा पूँछ काली होती है। नर पक्षी का रंग मादा की अपेक्षा अधिक चमकीला होत है। नर की ग्रीवा में काले रंग सा छल्ला सा होता है, जो मादा में नहीं होता है।[2]

कालिदास ने सुनहरे चक्रवाक का वर्णन किया है। यह गोरोचना और कुङ्कुम के से वर्ण का होता है। उर्वशी के विरह में विह्वल पुरुरवा ने गोरोचना तथा कुङ्कुम के समान चक्रवाक से पूछा कि उसने उसकी प्रिया को तो नहीं देखा।[3] राजशेखर भी चक्रवाक को पिङ्गल वर्ण का कहते हैं।[4]

चक्रवाक को जलीय स्थानों के रेतीले तट अधिक पसन्द हैं।[5] कालिदास गङ्गा के सेकतों पर बैठे चक्रवाकों का उल्लेख करते हैं।[6] सालिम अली लिखते हैं कि चक्रवाक पक्षी जल में रहने के स्थान पर रेतीले तटों पर रहना अधिक पसन्द करते हैं।[7]

चक्रवाक का मुख्य भोजन घास-पात, सिवार, नरम अंकुर आदि हैं। यह कीड़े-मकोड़ों, मछली, मैंढक आदि भी खा जाता है। ह्विसलर का कथन है कि

---

१. कौमुदीमहोत्सव २.१२, पादताडितक पृ० १७६।
२. कालिदास के पक्षी पृ० २४।
३. गोरोचनाकुङ्कुमवर्ण चक्र भण माम्। मधुवासरे क्रीडन्ती धन्या न दृष्टा त्वया। विक्रमोर्वशीयम् ४.३६।
४. कर्पूरमञ्जरी २.८
५. धर्मकुमारसिंह : द बड्स आफ सौराष्ट्र।
६. कुमारसम्भव ७.१५।
७. सालिम अली : भारत के पक्षी।

चक्रवाक के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह मुर्दों का मांस खाता है, अतः शिकारी उसके मांस को नहीं खाते ।[1] संस्कृत कवियों ने चक्रवाकों के कमलों के मध्य में रहने[2] तथा सिवार का भोजन करने का[3] वर्णन किया है ।

चक्रवाक के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं । मेघ इनके प्रिय कहे गये हैं । शूद्रक ने वर्षा ऋतु में इनका मेघों के मध्य उड़ने का वर्णन किया है[4] परन्तु यह केवल कवि का ही सत्य हो सकता है, लोक का नहीं । पं० हरिदत्त । वेदालंकार लिखते हैं कि ग्रीषम का प्रारम्भ होते ही चक्रवाक हमारे देश से चले जाते हैं, अतः वर्षा ऋतु में इनका यहाँ होना तथा मेघों के मध्य घूमना सम्भव नहीं है ।[5]

चक्रवाक युगल का पारस्परिक प्रणय और गृहस्थ धर्म कवि जगत् में बहुत प्रसिद्ध है । चक्रवाक वधू धन्य है, जो अपने प्रिय के बिना जीवित नहीं रह सकती ।[6]

चक्रवाक युगल की मार्मिक विरह वेदना का कवियों ने वर्णन किया है । यह विरह इनको सूर्यास्त होने तथा रात्रि का प्रारम्भ होने पर मिलता है । चक्रवाक और चक्रवाकी दिन में ही एक दूसरे के साथ रहते हैं तथा सूर्यास्त होते ही वियुक्त हो जाते हैं ।[7] रात्रि के उपस्थित होते ही चक्रवाक को अपनी प्रिया से विदा लेनी पड़ती है और वह सारी रात विरह-वेदना से लम्बी रात्रि को व्यतीत करता है ।[8] रात्रि में हमारा वियोग होगा, अतः चक्रवाक अपनी प्रिया से अत्यधिक स्नेह करता है ।[9] वियोग होने पर चक्रवाकी भी उत्सुकता से प्रातःकाल होने की प्रतीक्षा करती है ।[10]

---

१. ह्विसलर एच० पोपुलर हैण्डबुक आफ बर्ड्स—चतुर्थ संस्करण १९४९ ।
२. पादताडितक पृ० १७६ ।
३. आश्चर्यचूडामणि ६.१० ।
४. संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनः । मृच्छकटिक ५.५ ।
५. कालिदास के पक्षी पृ० २६ ।
६. धन्या खलु चक्रवाकवधूः, या आयोन्यविरहिता न जीवति ।
स्वप्नवासवदत्तम् पृ० ८४ ।
७. क. प्रियदर्शिका २.१० ।
ख. दिवसावसानविनिवारितप्रियसमागमा । कुन्दमाला पृ० ११८ ।
८. चक्रवाकवधूः आमन्त्रयस्य प्रियसहचरम् । उपस्थिता रजनी ।
अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० २६१ ।
९. एषापि प्रियेण विना गमयति रजनीं विषाददीर्घतराम् । अभिज्ञान-शाकुन्तल ४.१६ । आश्चर्यचूडामणि पृ० १६०, हनूमन्नाटक २.३ ।
१०. सुभद्राधनञ्जय २.१६ ।

चक्रवाक युगल का विरह अति करुण है। प्रिय के दूर होने पर चक्रवाकी अत्यधिक विह्वल हो जाती है।[१] यदि किसी कारण दिन में भी चक्रवाकी को अपना प्रिय दिखाई नहीं देता तो वह करुण स्वर में विलाप करती हैं।[२]

कवियों ने सूर्य को चक्रवाक युगल का मित्र कहा है। सूर्योदय होते ही उनका मिलन होता है।[३] सूर्य इनके विरह को शान्त करता है।[४] अतः उससे वे प्रसन्न रहते हैं।[५] रात्रि के व्यतीत होने पर चक्रवाक युगल का मिलन करा कर सूर्य इनके गृहस्थ धर्म का पालन कराता है।[६]

चक्रवाक युगल के प्रणय व्यापार को कवियों ने मानव-प्रणय के उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है। वैदिक साहित्य में प्रार्थना की गई है—हे इन्द्र! पति-पत्नी को चक्रवाक दम्पती के समान प्रेम से रहने की प्रेरणा दो।[७] कालिदास वर्णन करते हैं कि दिलीप और सुदक्षिणा में चक्रवाक-युगल के समान प्रेम था।[८] शकुन्तला की विदा के समय प्रियंवदा शकुन्तला को उस चक्रवाकी के समान कहती है, जो अपने प्रिय चक्रवाक के वियोग को सहन नहीं कर पा रही। मालाविकाग्निमित्र नाटक में अग्निमित्र कहते हैं कि मैं चक्रवाक के समान हूँ। और मालाविका चक्रवाकी के समान है। रानी धारिणी रात्रि के समान है, जो हम दोनों को मिलने नहीं देती।[९] प्रणयी के शिथिल होने पर कहा गया कि अब उस प्रकार के चक्रवाक कहाँ रहे हैं।[१०]

४३ चातक—

संस्कृत नाम—चातक, शारङ्ग, स्तोकक, रथाङ्ग, तोकक, मेघजीवन

हिन्दी नाम—चातक, पपीहा

अंग्रेजी नाम—Fawk cockoo

लैटिन नाम—Clamator Jacodinus

---

१. दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्। उत्तरमेघ श्लोक ३३।

२. हला प्रेक्षस्व, नलिनीपत्रान्तरितमपि सहचरमपश्यन्त्यातुरा चक्रवाक्यारटति। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ३०८।

३. कर्पूरमञ्जरी २.५०। ४. अनर्घराघव १.१।

५. अनर्घराघव १.१३।

६. रथाङ्गगृहिणीगार्हस्थ्यगर्हाभिदाः। अनर्घराघव ४.१।

७. इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती। अथर्ववेद १४.२.६४।

८. रथाङ्गनामेव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम्। रघुवंश ३.२४।

९. अहं रथाङ्गनामेव प्रिया सहचरीव मे। अननुज्ञातसम्पर्का धारिणी रजनीव नौ। मालविकाग्निमित्र ५.९।

१०. नैवेदानीं तादृशाश्च चक्रवाकाः। स्वप्नवासवदत्तम् पृ० १.१३।

चातक कवियों का अति प्रिय पक्षी है । इसके सम्बन्ध में अनेक कवि-प्रसिद्धियाँ हैं । यह १२ मास भारत में ही रहता है, परन्तु अनेक चातक पक्षी शीत ऋतु में उत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर चले जाते हैं ।

लगभग १५–१६ इंच आकार के चातक पक्षी का ऊपर का भाग हलका सलेटी और इस पर ऊपर से नीचे तक श्वेत धारियाँ होती हैं । लम्बी पूँछ में काली श्वेत पट्टियाँ रहती हैं । पेट के समीप भूरी धारियाँ होती हैं । चातक की चोंच हरी-पीली तथा पैर पीले होते हैं ।

चातक दो प्रकार के हैं—सामान्य और चोटीदार । इसकी ध्वनि मनोरम है । पक्षि-विशारदों का कथन है कि यह कामोन्माद में इस प्रकार की होती है । पं० हरिदत्त वेदालङ्कार का कथन है कि चातक के दोनों भेदों में सामान्य को पपीहा और चोटीदार को चातक मानना चाहिये ।

चातक सामान्यतः फलाहारी है । परन्तु कीड़े-मकौड़े भी खा लेता है । कोयल के समान चातक भी धूर्त पक्षी है और अपने अण्डों और बच्चों की सेवा अन्य पक्षियों से कराता है । यह कार्य चरखी नामक पक्षी से लिया जाता है । इनके अण्डे एक जैसे होते हैं । मादा चातक अपने अण्डों को चरखी पक्षी के अण्डों के समीप रख देती है । अण्डे फूटने के बाद भी चरखी को पता नहीं लगता और वह चातक के बच्चों को पालती रहती है । चातक के अण्डे चरखी के अण्डों के समान नीले, किन्तु कुछ बड़े होते हैं ।

चातक के सम्बन्ध में कवियों ने अनेक प्रसिद्धियों का वर्णन किया है । चातक मेघों से गिरे जल बिन्दुओं का ही पान करता है । प्यास से मर जाने पर भी अन्य जल को ग्रहण नहीं करता ।[1] चातक का अपनी प्रिया के प्रति गहन अनुराग है । क्षण भर भी वियोग होने पर उसको पी-पी-ध्वनि से पुकारता है । वसन्त प्रारम्भ होते ही चातक की यह बोली श्रुतिगोचर होने लगती है ।

संस्कृत कवियों ने चातक की बोली के सम्बन्ध में तो अधिक नहीं लिखा, परन्तु उसके चातक-व्रत (आकाश से बरसते जल का पान करना) का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है । कालिदास अपने काव्यों में इस तथ्य का विशद वर्णन करते हैं—

प्यास से व्याकुल चातकों द्वारा जल की याचना करने पर मेघ नीचे को लटक जाते हैं ।[2] मेघों के उमड़ने पर चातक गर्व में भर कर मधुर स्वर करते हैं ।[3]

---

१. एक एव खगो मानी वने वसति चातकः ।
पिपासितो वा म्रियते याचते वा पुरन्दरम् ॥ नीतिशतक ॥

२. तृषाकुलैश्चातकपक्षिणां कुलैः ।
प्रयाचितास्तोयभरावलम्बिनः ॥ ऋतुसंहार २.३ ॥

३. वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः । पूर्वमेघ श्लोक ९ ।

वे चतुराई से मेघों के जल-बिन्दुओं को ग्रहण करते हैं।[1] चातक जल से भरे मेघों से ही जल की याचना करते हैं।[2] वे शरत्कालीन मेघों से याचना नहीं करते।[3] मेघ भी इतने उदार हैं कि याचना करने पर चातकों को विना शब्द किये जल प्रदान करते हैं।[4] चातक पद का यही अर्थ है—जो जल की याचना करता है (चतते जलं याचते इति चातकः)।

संस्कृत नाटकों में चातक-व्रत का उल्लेख है। इसका अभिप्राय है कि चातक आकाश से गिरने वाले जल (दिव्य जल) का ही पान करता है।[5] इस जल को पीने के लिये वह अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता। दुष्यन्त का रथ जब आकाश मार्ग से स्वर्ग से पृथिवी की ओर मेघों के मध्य से जा रहा था तो मेघों का जल पीने के लिये प्राणों की अपेक्षा न करके चातक अरों के मध्य में आ जाते थे।[6] कुलशेखर वर्मन् ने इस व्रत का मनोरञ्जक वर्णन किया है। चातक केवल आकाश से गिरते वर्षा-जल की बूँदों का ही पान करता है।[7] उमड़ते हुये मेघों को देखकर उसकी दृष्टि आनन्द के आँसुओं से भर जाती है।[8]

(४४) चाष (नीलकण्ठ)—

संस्कृत नाम—चाष, किकीदिवि, नीलकण्ठ।

हिन्दी नाम—नीलकण्ठ।

अंग्रेजी नाम—Indian roller : Blue jay।

लैटिन नाम—**Coracias bengalensis**।

चाष (नीलकण्ठ) पक्षी से प्रायः सभी हिन्दू परिचित हैं। नीलकण्ठ नाम के इस सुन्दर पक्षी का दर्शन अति शुभ माना जाता है। विजयादशमी के दिन अनेक लोग इस पक्षी को दर्शन कराने के लिये घरों में ले जाते हैं।

रंग-बिरंगे चाष पक्षी के सिर पर आसमानी रंग की चित्तियाँ होती हैं। पीठ का रंग भूरा होता है। कण्ठ से लेकर पंखों और दुम तक नीली-हरी रेखायें रहती हैं। वक्ष का रंग कत्थई, पेट का बादामी एवं उसके नीचे आसमानी रंग होता है। चोंच काली-भूरी तथा पैर बादामी होते हैं।

---

१. अम्भोबिन्दुग्रहणचतुरांश्चातकान् वीक्षमाणः। पूर्वमेघ श्लोक २१।
२ अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते। रघुवंश १७.६०॥
३. शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि। रघुवंश ५.१७।
४. निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः। पूर्वमेघ श्लोक ११।
५. अतः खलु भवता दिव्यरसाभिलाषि चातकव्रतं गृहीतम्।
विक्रमोर्वशीय द्वितीय अङ्क, मालविकाग्निमित्र पृ० ३६।
६. अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिः। अभिज्ञानशाकुन्तल ७.७।
७. तपतीसंवरण ६.३। ८. तपतीसंवरण १.१५।

चाष की ग्रीवा के समीप नीली रेखाओं के होने से इसको नीलकण्ठ भी कहा गया है। विविध रंगों का इसका शरीर बहुत सुन्दर लगता है। मोनियर विलियम चाष को ब्लू जे (Blue jay) तथा नीलकण्ठ को ब्लू नेक्ड जे (Blue nacked jay) कह कर दोनों को अलग-अलग पक्षी मानते हैं। इस प्रकार वे चाष और नीलकण्ठ में भेद करते हैं। परन्तु पक्षि-विशारदों ने इन दोनों को एक ही पक्षी माना है।

चाष का भोजन अधिकतर कीड़े-मकोड़े है। इन पर यह फुर्ती से आक्रमण करता है। मादा को रिझाने के लिये यह पक्षी अनेक प्रकार के खेल दिखाता है। तदनन्तर नर-मादा युगल रूप में रहते हैं। मार्च-जुलाई में मादा चाष ४–५ संख्या में अण्डे देती है।

कवियों ने चाष के विविध रंग के सुन्दर सौन्दर्य को अति निकट से देखा था और इसका विविध उपमानों में प्रयोग किया था। उड़ते हुये चाष पक्षियों की कान्ति उज्ज्वल रत्नों पर पड़ने से इन्द्रधनुष से बन जाते हैं।[१] सुन्दर मेचक वर्ण की उपमा कवियों ने चाष पक्षियों के पंखों के अग्रभाग से दी है।[२]

प्राचीन मनीषियों ने चाष में देवत्व की भी कल्पना की थी। पौराणिक कथाओं के अनुसार समुद्र के मन्थन से उत्पन्न कालकूट विष का पान शिव ने कर लिया था। उन्होंने इसको ग्रीवा में ही धारण कर लिया। इससे उनका कण्ठ नीला हो गया। कण्ठ के नील वर्ण होने से वे नीलकण्ठ भी कहलाये। चाष का कण्ठ भी नीला है, अतः उसमें देवत्व (शिवत्व) की कल्पना की गई। इसका दर्शन इसीलिये शुभ और कल्याणकारी माना गया है।

४५. चिल्ल (चील)—

संस्कृत नाम—चिल्ल, आतापी

हिन्दी नाम—चील

अंग्रेजी नाम—Kite

लैटिन नाम—**Milvus migrans**

चील प्रायः सारे भारतवर्ष में पाया जाता है। यह अति परिचित पक्षी है। बड़ी चतुराई से यह पक्षी झपट्टा मार कर भोज्य पदार्थ को हाथों से छीन कर ले जाता है।

दो फीट के लगभग आकार का चील पक्षी अपनी दो भागों में बँटी पूँछ के आधार पर बहुत शीघ्र पहचाना जाता है। गहरे भूरे रंग के चील के शरीर पर गहरे रंग के दाग होते हैं। चोंच काली तथा पैर पीले होते हैं।

---

१. उन्मेषिचाषच्छदच्छायासंवलितैः······व्यक्ताखण्डलकार्मुका इव।
मालतीमाधव ९.५।

२. चाषाग्रपक्षसदृणम्। मृच्छकटिक ९.१९।

उड़ने में चील की समानता पाना कठिन है। परों को फैलाकर बिना हिलाये निस्तब्ध गति से यह बहुत समय तक उड़ सकता है। हवा में तेजी से उड़ती हुई चील मनुष्यों से भरी हुई सड़क पर इतनी चतुराई से झपट्टा मार कर उड़ जाती है कि देखकर आश्चर्य होता है।

चील सर्वभक्षी प्राणी है। शाकाहार और मांसाहार किसी से भी उसको परहेज नहीं है। मुर्दों को खाने के लिये यह गिद्धों के साथ मंडराते देखा जा सकता है। बूचड़खानों पर इसके झुंड के झुंड बैठे रहते हैं।

चील अपना घोंसला बस्तियों के मध्य में तथा बाहर ऊँचे वृक्षों पर सूखी टहनियों से बनाता है। मादा चील सितम्बर-अप्रैल मास में सलेटी रंग के २–३ अण्डे देती है। इस पर लाल-कत्थई चित्तियाँ होती हैं।

संस्कृत नाटकों में चील का उल्लेख शिकारी पक्षियों के मध्य में हुआ है। तीव्र दृष्टि और तीव्र गति वाला यह पक्षी तीव्रता से शिकार पर झपटता है। घरों के पालतू निरीह पक्षियों पर यह तेजी से झपटता है और आक्रमण करता है। कालिदास ने घर के पालतू कबूतरों के चील के मुख में पड़ जाने का वर्णन किया है।[1]

चील के व्यवहार को कवियों ने उपमान भी बनाया है। सबल व्यक्ति की पकड़ में निर्बल का आ जाना ऐसा ही है, जैसा कि चील के मुख में कबूतर का आ जाना।

४६. टिट्टिभ (टिटहरी)—

संस्कृत नाम—टिट्टिभ, टिट्टिभक, कोयष्टिक

हिन्दी नाम—टिटिहरी, टिटहरी।

अंग्रेजी नाम—Red wattled lapwing

लैटिन नाम—**Hydrophysianus chiruqus**

टिटहरी पक्षी प्रायः सारे भारतवर्ष में पाया जाता है। यह हिमालय पर ५००० फीट की ऊँचाई तक मिलता है। जलीय तट इसको अधिक पसन्द हैं। इसलिये इसको जलाशयों के निकट खुले स्थानों पर देखा जा सकता है।

१२–१३ इंच लम्बे टिटहरी पक्षी की पीठ ताम्र वर्ण, पेट श्वेत, सिर-गरदन-वक्ष काले होते हैं। पूँछ के सिरे पर काली पट्टी होती है। आँख के पीछे से एक श्वेत पट्टी पेट तक चली जाती है। आँख के आगे लाल रंग का मांस चोंच तक बढ़ा होता है। चोंच का आगे का भाग काला और जड़ श्वेत होती है। पैर पीले होते हैं।

टिटहरी आकाश के बजाय भूमि पर अधिक चलता है। वह दौड़-दौड़ कर अपना आहार खोजता है। गहरा खतरा देखकर थोड़ी दूर उड़कर फिर भूमि पर

१. गृहकपोतो चिल्लायाः मुखे पतितः। मालविकाग्निमित्र पृ० ११५।

आ जाता है। इसके मुख्य भोजन कीड़े-मकौड़े, केंचुये, घोंघे आदि हैं। मादा टिटहरी मार्च–अगस्त में रेत में या खुले मैदान में ४–६ सलेटी-भूरे अण्डे देती है।

टिटहरी पक्षी को संस्कृत में टिट्-टिट् ध्वनि करने के कारण टिट्टिभ कहा गया है। इसका नाम कोयष्टिक भी है। कवियों ने इसका उल्लेख किया है। भवभूति के अनुसार दक्षिण वनों में यह पक्षी रहा था। एक टिट्टिभ पक्षी काश्मरी के वृक्ष से उड़ कर नव किसलयों से सुशोभित कृतमाल वृक्ष पर जाकर टिट्-टिट् ध्वनि कर रहा था।[1]

टिट्टिभ को कवियों ने उपमान भी बनाया है। यह टेढ़े-मेढ़े भद्दे आकार का पक्षी है। अतः श्यामिलक ने बिस्तर पर लेटी हुई बुढ़िया की उपमा टिट्टभ से दी है।[2]

४७. तित्तिरि—(तीतर)—

संस्कृत नाम—तित्तिरि, तैत्तिर

हिन्दी नाम—तीतर

अंग्रेजी नाम—Grey Partridge

लैटिन नाम—Francolinus sp.

तीतर प्रायः सारे भारतवर्ष में १२ महीनों पाया जाता है। यह सूखे स्थानों और झाड़ियों को अधिक पसन्द करता है। १०–१२ इंच आकार का यह पक्षी अपने स्वादिष्ट और सुपच मांस के लिये प्रसिद्ध है।

तीतर का शरीर भूरा–बादामी, सिर और ग्रीवा को छोड़ कर सारे शरीर में भूरी लहरियाँ, चोंच गहरी सलेटी और पैर लाल होते हैं। तीतर युगल रूप में और समूहों में रहते हैं। वे वायु में कम ही उड़ते हैं और पृथिवी पर घूम कर भोजन की खोज करते रहते हैं। इस निरीह पक्षी का शिकार करने के लिये शिकारी सदा सचेष्ट रहते हैं। अतः यह जरा सी आहट पाकर भाग कर झाड़ियों में छिप जाते हैं।

तीतर का भोजन अनाज के दाने, बीज, कीड़े-मकौड़े, दीमक आदि हैं। ये पक्षी घोंसला नहीं बनाते। मादा तीतर किसी झाड़ी में घास-फूस बिछा कर गद्दा सा बना कर अण्डे देती है। यह वर्ष में दो बार ६–९ संख्या में मटमैले रंग के अण्डे देती है।

तीतर को पालतू बना कर प्रशिक्षित किया जा सकता है। यह अपने स्वामी से परिचित होकर पीछे-पीछे घूमता है।

संस्कृत कवियों ने तीतर का स्वल्प वर्णन किया है। यह मांसाहारियों का प्रिय तथा सुलभ भोजन रहा[3]। प्राचीन समय में तीतर को मनोरञ्जन के लिये भी

---

१. मालतीमाधव ९.७। २. पादताडितक श्लोक ९२।

३. विद्धसालभञ्जिका पृ० १४।

पाला जाता था। रसिक जन इसका द्वन्द्व युद्ध देख कर मन बहलाते थे। राजशेखर ने तीतर के द्वन्द्व युद्ध का वर्णन किया है।[1]

४८. दात्यूह (जलकौआ)—

संस्कृत नाम—दात्यूह, जलकाक, कालकण्ठ

हिन्दी नाम—जलकौआ

अंग्रेजी नाम—Water crow

लैटिन नाम—Gallinula Chloropus

कवियों ने जलचर पक्षियों में दात्यूह का वर्णन किया है।[2] 'अमरकोष' के अनुसार इस पक्षी का कण्ठ काला होता है, अतः इसको कालकण्ठ भी कहते हैं।[3] 'अमरकोष' की 'रामाश्रमी टीका' के अनुसार यह पक्षी वर्षा ऋतु में सुन्दर ध्वनि करता है, अतः इसको कालकण्ठक कहा गया है (काले वर्षाकाले कण्ठः ध्वनिरस्य इति कालकण्ठकः)। इस पक्षी का रंग धुँये का सा है। आधुनिक कोषकार दात्यूह को जलकाक कहते हैं।[4] काक के आकार का यह पक्षी हंस आदि के समान जल में विचरण करने में समर्थ है। यह वर्षा ऋतु में अधिक प्रसन्न रहता है।

दात्यूह (जलकाक) पक्षी काले रंग का लगभग दस इंच का होता है और सारे भारत में पाया जाता है। इसका शरीर काला, पूँछ और कण्ठ सलेटी तथा चोंच लम्बी और भूरी होती है। चोंच का अगला भाग नोकीला तथा कुछ टेढ़ा होता है।

दात्यूह का मुख्य भोजन मछली और मेंढक हैं। यह जल की सतह पर तैरता हुआ डुबकी लगा मछली आदि को खोज लेता है। ये पक्षी हजारों की संख्या में एकत्रित होकर अपने घोंसले बनाते हैं। मादा दात्यूह हरे-नीले रंग के चार-पाँच अण्डे एक बार में देती है।

स्वतन्त्र विचरण करने वाला दात्यूह पक्षी जलाशयों के तटों पर वृक्षों पर घोंसले बना लेता है। भवभूति ने वर्णन किया है कि दक्षिण वनों में मध्याह्न की गर्मी से सन्तप्त दात्यूह पक्षी तिनिश वृक्षों के तनों के खोखलों में छिप कर बैठ गये थे।[5]

प्राचीन समय में दात्यूह पक्षी को पाला भी जाता होगा। राजशेखर वर्णन

---

१. बालरामायण २.९।
२. बालरामायण ८.७२।
३. दात्यूहः कालकण्ठकः। अमरकोष २.५.२१।
४. बी. एस. आप्टे : दी स्टुडेन्ट्स संस्कृत-अंग्रेजी डिक्शनरी पृ० २४१।
५. दात्यूहैस्तिनिशस्य कोटरवति स्कन्धे निलीय स्थितम्। मालतीमाधव ९.७।

करते हैं कि वनों में जाते समय सीता ने जिन पालतू पक्षियों से विदा ली, उनमें दात्यूह भी था ।[1]

४९. पूर्णिक—

संस्कृत नाम—पूर्णिक, कुम्भीरमक्षिका
हिन्दी नाम—पूर्णिक
अंग्रेजी नाम—A kind of parrot
लैटिन नाम—Psittacula euptra

भवभूति ने दक्षिण वनों में पूर्णिक नाम के पक्षी की उपस्थिति कही है । जल के किनारों पर उगी हुई शिम्बी नामक घास को खाने के लिये पूर्णिक पक्षी भागे जा रहे हैं ।[2] पूर्णिक पक्षी की पहचान सन्दिग्ध है । मोनियर विलियम ने पूर्णक को नीलकण्ठ बताया है ।[3] सम्भवतः उसने पूर्णिक को ही पूर्णक कहा है ।

५०. बक (बगुला)—

संस्कृत नाम—बक, कह्व मीनघाती
हिन्दी नाम—बगुला
अंग्रेजी नाम—Pond heron, Egret
लैटिन नाम—**Ardea cinerea (Heron)**
bubalus ibis (Egret)

बगुला एक अति परिचित जलपक्षी है । जलीय तटों पर मछलियों की ताक में ध्यान-मग्न और एक पैर से खड़े हुये तथा जल में तैरते हुये श्वेत सुन्दर बगुलों की पंक्तियाँ प्रायः दृष्टिगोचर हो जाती हैं । बगुला बारहों महीने भारत में मिलता है ।

बगुलों की अनेक जातियाँ मिलती हैं । सामान्य बगुलों का वक्ष पीली धारियों से युक्त, चोंच नोकीली, पीली तथा पैर गहरे हरे होते हैं । इनके सिर पर पीछे की ओर एक छोटी सी चोटी होती है । ये बगुले मैंढक, मछली और कीड़े-मकौड़े खाते हैं । दिन में ये भोजन की ताक में चुपचाप जल के किनारे खड़े रहते हैं । रात्रि में पानी के किनारे के वृक्षों पर घोंसला बना कर रहते हैं । मादा बगुला चार-पाँच नीले रंग के अण्डे देती है ।

सामान्य बगुले से एक बड़ा बगुला होता है । इसको कुछ विद्वान् मलंग बगुला कहते हैं । सुन्दर पंखों वाले इस बगुले की आकाश में उड़ती हुई पंक्तियाँ बहुत सुन्दर लगती हैं । ढाई फीट के लगभग श्वेत वर्ण के इस बगुले की चोंच पीली और पैर काले होते हैं । सम्भवतः इसी को कंक कहा गया है ।

दो प्रकार के और भी बगुले होते हैं–कछिया बगुला (Little egret) और गाय बगुला (Cattle egret) । ये दोनों शुभ्र-श्वेत तथा आकार में १८–२२ इंच होते हैं । इनके चमकीले पर सजावट के काम आते हैं । रीतकाल में इनके सिर,

---

१. बालरामायण ६.२७ ।
२. तीराश्मन्तकशिम्बिचुम्बितमुखा धावन्त्यमी पूर्णिकाः । मालतीमाधव ९.७ ।
३. मोनियर विलियमः संस्कृत–अंग्रेजी डिक्शनरी पृ० २८७ ।

वक्ष और और पीठ पर सुन्दर चमकीले कीमती पर निकलते हैं। कछिया बगुले के पर शुभ्र और गाय बगुले के पर सुनहरे होते हैं।

गाय बगुले की चोंच पीली होती है। यह पशुओं की पीठ पर बैठ कर उनके शरीर पर लगे हुये किलनी आदि कीड़ों को खा जाता है। कछिया बगुले की चोंच और पैर काले होते हैं।

बगुला यद्यपि बारहों मास दिखाई देता है, परन्तु संस्कृत नाटकों में इसका वर्णन वर्षा ऋतु में ही हुआ है। मेघों से आच्छन्न आकाश में बगुलों की सुन्दर पंक्तिया उड़ती दिखती है।[१] कालीदास ने मेघों के मध्य उड़ते सुन्दर बगुलों की पंक्तियों का मनोरञ्जक चित्रण किया है।[२] शूद्रक वर्षा ऋतु में उमड़ते मेघों के साथ उच्च स्वर के प्रावृद्-प्रावृद् इस प्रकार चिल्लाते बगुलों का वर्णन करते हैं।[३] उड़ते हुये बगुलों की पंक्ति से और बिजलियों से आकाश शबलित हो जाता है।[४] श्वेत बगुलों की पंक्तियों से आकाश मानो अनेक शंखों को एकत्रित कर लेता है।[५] बगुलों की पंक्ति उड़ कर आकाश को मानो आलिङ्गित करती है[६] और आकाश इनके द्वारा हंस रहा होता है।[७]

संस्कृत-साहित्य में बक और बलाका दोनो पदो का प्रयोग है। काव्यों में बक की अपेक्षा बलाका पद ही अधिक प्रयुक्त है। मल्लिनाथ ने बलाका का अर्थ बगुलों की पंक्ति किया है। कालीदास 'मेघदूत' में बलाका पद का प्रयोग बहुवचन के साथ ही एकवचन में भी करते हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि कालिदास बलाका पद का प्रयोग बकपंक्ति अर्थ में ही करते हैं। यदि वे बक और बलाका को भिन्न मानते तो बलाका में एकवचन का प्रयोग न करते, क्योंकि उस समय आकाश में एक बलाका पक्षी तो रहा नहीं होगा। आधुनिक कोषकार मोनियर विलयम आदि बक और बलाका को एक ही पक्षी (A kind of crane) मानते हैं।

किन्तु प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी संकेत हैं, जिनमें बक और

---

१. स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः वेल्लद्बलाकाः घनाः ।
रामाभ्युदय पृ० २० ।

२. (क) गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः ।
सेविष्यन्ते नयनसुभग खे भवन्तं बलाकाः । पूर्वमेघ–श्लोक ९ ।
(ख) श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो बलाकाः । पूर्वमेघ श्लोक २१ ।

३. हताशो बकः प्रावृट् प्रावृडिति ब्रवीति शतधीः । मृच्छकटिक ५.१८ ।

४. सतडिद्बलाकाशबलैः मेघैः । मृच्छकटिक ५.१८ ।

५. (क) सहतबलाकगृहीतशंखः । मृच्छकटिक ५.२ ।
(ख) कुटिलबलाकावलीरचित्तशंखः । मृच्छकटिक ५.३ ।

६. प्रोड्डीयेव बलाकया सरभसं सोत्कण्ठमालिङ्गितः । मृच्छकटिक ५.२३ ।

७. संविहसतीवोच्चैर्बलाकाशतैः । मृच्छकटिक ५.२७ ।

बलाका भिन्न पक्षी प्रतिपादित हैं। 'अमरकोष' में बक और बलाका भिन्न-भिन्न हैं। बक के पर्याय हैं—बक और कह्व ।[1] बलाका के पर्याय हैं-बलाका और बिसकण्ठिका ।[2] 'अमरकोष' की 'रामाश्रमी टीका' में बिसकण्ठिका का अर्थ है—बिस के समान पतले और लम्बे कण्ठ वाला पक्षी (बिसवत् कण्ठो अस्याः)। 'मनुस्मृति' में बक और बलाका की गणना अलग-अलग की गई है ।[3]

५१. मयूर (मोर)—

संस्कृत नाम—मयूर, बर्ही, बर्हिणः नीलकण्ठ, भुजङ्गभुक्, शिखावल, शिखी, केकी, प्रचलाकी, कलापी, शिखण्डी, वर्जामद

हिन्दी नाम—मोर

अंग्रेजी नाम—Peacock

लैटिन नाम—Pavo cristate

मोर भारतवर्ष के सुन्दरतम पक्षियों में है। यह अन्य किसी देश में नहीं होता। इस देश में मोर सर्वत्र मिलते हैं और हिमालय पर ५००० फीट की ऊँचाई तक होते हैं। अपने सौन्दर्य, नृत्य और मधुर वाणी के कारण यह कवियों को बहुत अधिक प्रिय रहा। काव्यों तथा नाटकों में इस पक्षी के मनमोहक वर्णन हैं। कालिदास की प्रत्येक रचना में इसका उल्लेख मिलता है।

वर्षा ऋतु में मेघों की गर्जना से प्रसन्न मयूरों को नदियों के तटों पर, वाटिकाओं में, गीले खेतों में या पर्वतीय क्षेत्रों में पंख फैला कर नृत्य करते देखा जा सकता है। इनके चारों ओर अनेक मोरनियाँ नाच रही होती हैं। ऐसे दृश्य सहृदयों के हृदयों को भाव-विभोर कर देते हैं। कालिदास ने वर्णन किया है कि मेघों के उमड़ने पर शुक्लापाङ्ग मयूर डबडबाई आँखों से अपनी ध्वनियों से दिग्दिगन्तो को गुँजा देते है।[4] भारतीय लोक-कथाओं में मयूर अपने सौन्दर्य, बुद्धि और पराक्रम के लिये प्रसिद्ध है। अब मयूर को भारत का राष्ट्रीय पक्षी स्वीकार किया गया है।

मयूर अपनी सुन्दर पूंछ और कलगी के कारण सुन्दर दिखाई देता है। परन्तु यह पूँछ नर मयूर की ही होती है, मादा की नहीं। बिना पूँछ के मोर की लम्बाई ४०-५० इंच तथा पूँछसहित लगभग ९० इंच होती है। मादा लगभग ३८ इंच की होती है। नर-मयूर की कलगी भी मादा की अपेक्षा बड़ी और सुन्दर होती है।

मोर सर्वभक्षी पक्षी है। यह अनाज, कीड़े-मकौड़े, छिपकली आदि सभी कुछ खा जाता है। मोर बहुपत्नीक पक्षी है। एक मोर के साथ अनेक मोरनियाँ रहती हैं। मोरनी जून-अगस्त में ५–७ अण्डे देती है।

---

१. बकः कह्वः । अमरकोष २.५ ।

२. बलाका बिसकण्ठिका । अमरकोष २.५.२५ ।

३. बकश्चैव बलाका च । मनुस्मृति ५.१४ ।

४. शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः । पूर्वमेघ श्लोक २४ ।

संस्कृत मे मयूर के पर्यायों से उसकी आकृति और विशेषतायें लक्षित होती हैं। मयूर के सिर पर छोटे परों की सुन्दर कलगी या शिखा होती है, अतः मयूर को शिखावल या शिखी कहा गया है।[१] कलगी के आगे ही आँखे हैं, जिनके आगे दोनों किनारों पर धूसर वर्ण लिये श्वेतिमा होती है। अतः मयूर को श्वेतापाङ्ग, शुक्लापाङ्ग[२] या धौतापाङ्ग[३] कहा गया है। नीली ग्रीवा के कारण यह नीलकण्ठ या शितिकण्ठ कहा जाता है।[४] नीला रंग इसके वक्ष तक चला गया है। कण्ठ के नीलमणि के समान सुन्दर होने के कारण उसको मणिकण्ठक विशेषण मिला।[५]

मयूर की सबसे बड़ी विशेषता पूँछ है, जिसके कारण यह सुन्दरतम पक्षी माना गया है।[६] इन्द्रधनुषी पूँछ के[७] गहरे हरे रंग के पंखों के प्रान्त भाग में रंग-बिरंगे गोलक (चन्द्रक) होते हैं। चन्द्रक के बीच में गहरा नीला हृदयाकार गोलक तथा उसके चारों ओर चार वलय होते हैं। पहला वलय गहरे हरे नीले वर्ण का, दूसरा कुछ अधिक चौड़ा सुनहरी-कांसे के वर्ण का, तीसरा कुछ कम चौड़ा सुनहरे रंग का और अन्तिम चौथा भूरे रंग का होता है। नाचते समय मयूर पूँछ को पंख के आकार में फैला लेता है। इससे अद्‌भुत रंगों की मणिमय कान्ति चारों ओर फैल जाती है।

मयूर की यह पूँछ केवल नर युवा मयूरों में होती है। नर में भी यह चार वर्ष की आयु तक आती है। किन्तु पूरे वर्ष यह एक सी नहीं रहती। वर्षा ऋतु से पूर्व मई मास में पूरी तरह विकसित होकर सितम्बर मास के अन्त तक झड़ने लगती है। युवा मयूर नृत्य करते समय इस पूँछ से अनेक मयूरियों को आकृष्ट करता है, जो उसको घेर कर नृत्य करने लगती हैं। पूँछ को बर्ह, कलाप और शिखण्ड भी कहते हैं। अतः मयूर के पर्यायवाची शब्द बर्ही[८], कलापी[९] और शिखण्डी[१०] भी हैं।

कवियों ने मयूर की पूँछ की उपयोगिता भी प्रदर्शित की है। धूप में छाया के लिये यह अपने पंखों को फैला लेता है[११] और सिर को दोनों पंखों के बीच में छिपा लेता है।[१२]

---

१. विक्रमोर्वशीय २.१२, रघुवंश १३.२७, पूर्वमेघ श्लोक ३७, ऋतुसंहार २.१६, ३.१३। मालविकाग्निमित्र १.१२, बालचरित ५.३, मृच्छकटिक ५.६।
२. पूर्वमेघ श्लोक २४।
३. पूर्वमेघ श्लोक ५०।
४. मालतीमधव ६.१८, ६.३०।
५. विक्रमोर्वशीयम् ५.१३।
६. बालरामायण १.४२।
७. कौमुदीमहोत्सव २.६।
८. विक्रमोर्वशीयम् ३.२, रघुवंश २.१७, १६.३७।
९. रघुवंश ६.६, ८.६४।
१०. रघुवंश १.३९, कुमारसम्भव ८.६७, मृच्छकटिक ५.१।
११. प्रियदर्शिका १.१२।
१२. विद्धसालभञ्जिका १.४३।

मयूर का वर्षा ऋतु के साथ विशेष सम्बन्ध है। मेघों के प्रति आकर्षण के कारण मयूर को पयोदसुहृद कहा गया।[1] मयूर वर्षा काल में अति हर्षित होकर उत्सुकता से मेघों की प्रतीक्षा करता है।[2] मेघों के गरजने पर पूँछ ऊपर उठा कर उनकी ओर देखता है।[3] वह प्रसन्न होकर ऊँची ध्वनि करता है।[4] भवभूति ने वर्णन किया है कि मेघों के गरजने पर मोर उत्कण्ठित होते हैं[5] तथा चमकती विद्युत को देख कर हर्ष से भर जाते हैं।[6] वे प्रसन्नता से नाचने लगते हैं।[7] शरद् का आगमन होने पर मयूर का मद उतर जाता है।[8] वह आकाश की ओर देखना छोड़ देता है।[9] नृत्य का त्याग कर देता है।[10] ग्रीष्म ऋतु मयूर को बहुत अधिक सताती है। इस समय मयूरी सन्तप्त होकर डर कर इधर-उधर भागती है।[11] शीतलता पाने के लिये मयूर वृक्षों की छाया में आलवालों पर बैठ जाते हैं[12] और केका ध्वनि करके मेघों को आमन्त्रित करते हैं।[13] कालिदास लिखते हैं कि राजभवनों के पालतू मयूर गर्मी से सताये जाने पर फव्वारों का जल पीने के लिये टूट पड़ते हैं।[14]

वर्षा ऋतु से मयूर के नृत्य का भी सम्बन्ध है। इस ऋतु में वे प्रसन्न होकर, मद से भर कर आनन्द से केका ध्वनि करते हुये नाचते हैं।[15] वे पूँछ को फैला लेते हैं[16] और मयूरियाँ उनके चारों ओर घूमती हैं। पूँछ उठा कर ताण्डव

---

१. पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः। रामाभ्युदय पृ० २०।
२. सोत्कण्ठैः शिखिभिः शिखी परिचयान्मेघस्तडित्वानिव। तापसवत्सराज २.५।
३. क. आलोकितं गृहशिखण्डिभिरुत्कलापैः। मृच्छकटिक ५.१।
   ख. जीमूतस्तनितविशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैः। मालविकाग्निमित्र १.२१।
४. क. हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो······शिखी। मृच्छकटिक ५.१४।
   ख. कण्ठं मुञ्चति बर्हिणः। मृच्छकटिक ५.१४।
   ग. पूर्वमेघ श्लोक २४।
५. उत्तररामचरित ३.७। ६. मालतीमाधव ३.४।
७. मालतीमाधव ९.२०, रामाभ्युदय पृ० २०।
८. मुद्राराक्षस ३.८।
९. पश्यन्ति नोन्नतमुखाः गगनं मयूराः। ऋतुसंहार ३.१२।
१०. नृत्यप्रयोगविहिताञ्छिखिनो विहाय। ऋतुसंहार ३.१३।
११. उत्त्रासिता गच्छति अन्तिकान्मे सम्पूर्णपक्षेव ग्रीष्ममयूरी। मृच्छकटिक १.१९।
१२. उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी। विक्रमोर्वशीय २.२२।
१३. मृच्छकटिक ५.२३।
१४. बिन्दुक्षेपान् पिपासुः परिपतति शिखी भ्रान्तिमद् वारियन्त्रम्। मालविकाग्निमित्र २.१२।
१५. धूर्तविटसंवाद पृ० ६६। १६. कौमुदीमहोत्सव ५.३३।

नृत्य करते हुये[1] मयूरों की तीव्र केका-ध्वनि दूर-दूर तक फैल जाती है।[2] इस ध्वनि से दिशायें गूँज जाती हैं।[3] प्राचीन समय में रसिक जन मयूर के नृत्यों को देखने का आनन्द लेते थे।[4] युवतियाँ तालियों की ध्वनियों के साथ मयूरों को नचाती थीं।[5] मयूरों के नृत्यों से और केकाओं से नदियों के तट मुखर और मनोरम हो जाते थे।[6] कदम्ब वृक्षों पर चढ़े मयूरों के नृत्यों के दृश्य भी देखने को मिल जाते थे।[7]

मयूर तथा सर्प का स्वाभाविक वैर प्रसिद्ध है। सर्प को मयूर देखते ही मार कर खा जाता है। भवभूति वर्णन करते हैं कि मयूरों के कूजन से डर कर सर्प वृक्षों पर सरकने लगे थे।[8] मयूर पद का निर्वचन है—मीनाति भक्षयति अहीन् सर्पान् इति मयूरः। सर्प को खाने के कारण मयूर को भुजङ्गभुक् की कहा गया।[9]

संस्कृत कवियों ने वनों, पर्वतों, घाटियों, नदियों के तटों, खेतों आदि प्रदेशों में विचरण करते हुये मयूरों का मनोमोहक चित्रण किया है। दक्षिणारण्य में प्रचुर संख्या में मयूर थे।[10] पर्वतों पर कूजन करते हुये मयूरों को देखा सकता था।[11] नदियों के तटों पर नृत्य करते हुये मयूरों के दृश्य कवियों ने कल्पित किये हैं।[12] गोदावरी के तट पर पर्वतीय मयूरों की प्रचुरता थी, जिनसे राम ने सीता का समाचार पूछा था।[13]

भारतवर्ष में लोगों को मयूर पालने का बहुत शौक था। राजभवनों, अन्तःपुरों, ग्रामों, तपोवनों आदि स्थानों पर मयूरों के पाले जाने के वर्णन मिलते हैं।

राजाओं तथा समृद्ध जनों के प्रासादों में तरुणियाँ शौक से मयूरों को पालती थीं। इन पालतू मयूरों को क्रीड़ा-मयूरक कहा गया है।[14] ये मयूर विविध मणियों

---

१. मालतीमाधव ९.१०, बालरामायण ५.२८।

२. केकाभिर्नीलकण्ठस्तिरयति वचनं ताण्डवादुच्छिखण्डः। मालतीमाधव ९.३०।

३. मदनीलकण्ठकलहैर्मुखराः ककुभः। मालतीमाधव ९.१८।

४. नैषधीयचरितम् १.१०२।

५. उत्तरमेघ श्लोक १९।

६. नृत्यन्मुखरमनोरमास्तटिन्यः। अनर्घराघव ५.१९।

७. महावीरचरित ५.४२।

८. उत्तररामचरित २.२९।

९. अमरकोष २.५.३०।

१०. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०।

११. उत्तररामचरित २.२३।

१२. अनर्घराघव ५.१९।

१३. स्मरति गिरिमयूर एष, स्वजन इव यतः प्रमोदमेति। उत्तररामचरित ३.२०।

१४. क्रीडामयूरमिव। प्रतिमानाटक ६.४।

के समान सुन्दर परों को फैला कर नृत्य करते थे[1] और देखने वालों का मन बहलाते थे।[2] प्रासादों में इनके बैठने के लिये विशेष प्रकार की वासयष्टि का प्रबन्ध किया जाता था। सायं समय होने पर मयूर इन पर बैठते थे।[3] घर की तरुणियाँ इनको नचा कर आनन्द प्राप्त करती थीं।[4] मयूरों का इनके लिये यह नृत्योपहार था।[5] अलकापुरी की यक्षिणी सायं समय ताली बजा कर उसकी ताल पर मयूर को नचाती हुई मनोविनोद करती थी।[6] वाटिकाओं के वृक्षों पर भी मयूर जाकर बैठ जाते थे।[7]

राजकीय अन्तःपुरों में मयूरों के पाले जाने के मनोरञ्जक वर्णन हैं। पुरूरवा के अन्तःपुर में पालतू मयूरों के इधर-उधर घूमने पर उनके पंख बिखर जाते थे, जो मुरझाये हुये केसर पुष्प के समान लगते थे।[8] अग्निमित्र के अन्तःपुर का पालतू मयूर गरमी से व्याकुल होकर फव्वारे पर पहुँच जाता था।[9] अयोध्या के अन्तःपुर में भी मयूरों के पालने के वर्णन हैं। वन में जाते हुये सीता ने जिन पालतू पक्षियों से विदा ली थी, उनमें मयूर भी थे।[10]

तपोवनों में मयूरों को पालने के अनेक वर्णन हैं। तापस-कन्यायें मयूर पालती थीं और उनको स्नेह से अन्न खाने के लिये देती थीं।[11] वनवास की अवधि में सीता ने मयूर पाल रखा था। उसको वह तालियों की ताल पर नचाया करती थी।[12] तापस-कुमार भी मयूर पालते थे। पुरूरवा-उर्वशी के पुत्र आयु ने एक मयूर पाल रखा था, जो उसी की गोदी में पंखों पर खुजाया जाता हुआ सो जाता था।[13]

---

१. मृच्छकटिक पृ० १७६। २. अविमारक पृ० १२२।
३. क. उत्कीर्णा इव वासयष्टिषु निशानिद्रालसाः वर्हिणः।
विक्रमोर्वशीयम् ३.२।

ख. पादताडितक श्लोक १०२।
४. पादताडितक श्लोक ३७।
५. भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः। पूर्वमेघ ३६।
६. तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्त्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः। उत्तरमेघ १९।
७. मृच्छकटिक १.३१।
८. म्लायमानकेसरच्छविना मयूरपिच्छेन। विक्रमोर्वशीयम् पृ० १८८।
९. मालविकाग्निमित्र २.१२।
१०. बालरामायण ६.२७।
११. तापसवत्सराज ३.१६।
१२. करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानम्। उत्तररामचरित ३.१९।
१३. यः सुप्तवान् मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः।
तं मे जातकलापं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम्। विक्रमोर्वशीयम् ५.१३।

तपोवनों के पालतू मयूर अपने स्वामी के प्रति अत्यधिक स्नेह रखते थे। उनके कहीं प्रस्थान के लिये उद्यत होने पर नाचना तक छोड़ देते थे।[१]

मयूर अति लोकप्रिय पक्षी था। उसकी आकृति के खिलौने बच्चों के खेलने के लिये बनाये जाते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में अरिमर्दन के खेलने के लिये एक तापसी मिट्टी का बना हुआ मयूर लाकर देती है।[२]

मयूर का उपयोग आभूषणों के लिये भी था। इस प्रयोजन के लिये पिच्छ को सिर और कानों पर धारण किया जाता था। प्राचीन साहित्य में कृष्ण का वर्णन सिर पर मोर पंख का मुकुट धारण करने के रूप में हुआ है। भास[३] और कालिदास[४] ने कृष्ण द्वारा बर्ह को आभूषण के रूप में धारण करने का वर्णन किया है। स्कन्द के वाहन मयूर के पिच्छ को पार्वती अपने कानों में धारण कर लेती थीं।[५]

कवियों ने मयूर की उपमानों के रूप में भी कल्पना की है। भयभीत युवती की उपमा ग्रीष्म से सन्तप्त मयूरी से दी गई है।[६] मयूर का सुन्दर पिच्छ अनेक प्रसङ्गों में रमणियों के केशों का उपमान बनाया गया है। यक्षिणी के केश मयूर पिच्छ के समान थे।[७] उर्वशी के विरह से व्यथित पुरूरवा मयूरों से कहता है—

हलकी वायु से हिलती हुई यह मयूर की सुन्दर घनी पूँछ आज मेरी प्रिया के विनाश से प्रतिस्पर्धा से रहित हो गई है। यदि वह आज होती तो रतिक्रीड़ा के के कारण खुले और पुष्पों से गुथे उसके केशों के होने पर यह पूँछ किसको अच्छी लगती।[८]

प्राचीन पौराणिकों ने मयूर में देवत्व की भी कल्पना की थी। उसको

---

१. परित्यक्तनर्तनाः मयूराः। अभिज्ञानशाकुन्तल ४.१२।
२. मृत्तिकामयूरस्य रम्यत्वं पश्य। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ४८३।
३. आपीडदामशिखिबर्हविचित्रवेशः। बालचरितम् ५.९।
४. पूर्वमेघ श्लोक १५।
५. ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी।
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति। पूर्वमेघ श्लोक ४८।
६. मृच्छकटिक १.१९।
७. शिखिनां बर्हपाशेषु केशान्। उत्तरमेघ श्लोक ४६।
८. मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियायाः विनाशाद्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेष बर्ही॥ विक्रमोर्वशीयम् ४.२२।

देवताओं के सेनापति और शंकर-पार्वती के पुत्र कार्तिकेय का वाहन होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

५२. लावक (बटेर)—

संस्कृत नाम—लाव, लावक, वर्तिका, वर्तक

हिन्दी नाम—बटेर

अंग्रेजी नाम—Quail

लैटिन नाम—**Phasianus sp.**

बटेर (लावक) मांस भक्षियों के प्रिय आहार के रूप में प्रसिद्ध है। यह तीतर की ही आकृति का होता है। इस पक्षी के दो मुख्य भेद हैं—मौसमी (घाघस) और बारहमासी (चिनिंग)।

मौसमी बटेर सर्दियाँ प्रारम्भ होते ही उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत में आकर गरमी प्रारम्भ होते ही उसी दिशा में लौट जाते हैं। यह ८–१० इंच का छोटा सा बादामी-भूरे रंग का पक्षी है। इस पर श्वेत-कत्थई चिह्न रहते हैं। आँखों की पुतली हलकी बादामी, चोंच सलेटी-भूरी तथा पैर पीले होते हैं। नर बटेर के सिर पर काली-कत्थई धारियाँ रहती हैं।

बारहमासी बटेर पहले से कुछ छोटा, परन्तु उसी के आकार का होता है। उसके पंख भूरे-श्वेत तथा वक्ष काला होता है। कहा जाता है कि किसी समय किन्हीं कारणों से मौसमी (घाघस) बटेर इसी देश में रह गई तथा उससे यह प्रजाति उत्पन्न हुई।

बटेर का ही एक भेद लवा (Button Quail) है। यह छोटे आकार का है और सम्भवतः इसी को वर्तिका कहा गया है। यह भी बारहमासी है। आकार में यह बटेर के ही समान, परन्तु माप में छोटा, लगभग ५–६ इंच का होता है।

बटेर का आहार अनाज के दाने तथा कीड़े-मकौड़े हैं। शिकारी इसका मांस बहुत पसन्द करते हैं और इसकी तलाश में रहते हैं। परन्तु यह जरा सी भी आहट पाकर झाड़ियों में छिप जाता है। तीतर के ही समान यह पक्षी भी भूमि पर चलना अधिक पसन्द करता है।

मादा बटेर अपने अण्डे किसी झाड़ी में या घास के ढेर पर वर्षा ऋतु में देती है। मौसमी (घाघस) बटेर अपने अण्डे तिब्बत या काश्मीर की तराई में देती है। परन्तु बारहमासी (चिनिंग) मादा बटेर भारत के मैदानों में अपने अण्डे देती है। ये अण्डे ४–६ संख्या में हलके पीले या बादामी रंग के होते हैं। लवा बटेर वर्ष में दो बार १०–११ अण्डे बादामी रंग के देती है।

संस्कृत नाटकों में लावक (बटेर) का उल्लेख दो रूपों में हुआ है—इसकी

निर्बलता के लिये और द्वन्द्वयुद्ध के लिये। लावक पक्षी अति निर्बल है और श्येन का प्रिय आहार है। श्येन से आक्रान्त होने पर यह बहुत भयभीत हो जाता है।[1]

प्राचीन समय में मनोरञ्जन के लिये द्वन्द्व युद्ध कराने हेतु इसको पाला और प्रशिक्षित किया जाता था। इनका युद्ध मनोविनोद का अच्छा साधन था। वसन्तसेना के प्रासाद के पक्षिगृह में लावकों का युद्ध कराया जा रहा था।[2] राजशेखर ने लावकों के युद्ध का उल्लेख किया है।[3]

संस्कृत कवियों ने लावक को उपमान भी बनाया है। सबल से आक्रान्त भयभीत युवती श्येन से आक्रान्त लावक के समान होती है।[4]

५३. वार्ध्रीणस (गैबर)—

संस्कृत नाम—वार्ध्रीणस

हिन्दी नाम—गैबर

अंग्रेजी नाम—White stork

लैटिन नाम—***Ciconice ciconia***

वार्ध्रीणस पक्षी की ठीक-ठीक पहचान नहीं की जा सकी है। इसकी नाक वार्ध्री (चमड़े की पट्टी) के समान होती है। 'मार्कण्डेय पुराण' में इसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

नीली ग्रीवा, लाल सिर, काले पैर और श्वेत पंख। इसको लाल पैरों वाला, लाल शिखा वाला, लाल आँखों वाला और कृष्णवर्ण भी कहा गया है।[5]

यथार्थ स्वरूप निर्धारित न हो सकने पर भी इस पक्षी को गैबर (White stork) नाम का बगुला माना जा सकता है। श्वेत रंग के इस पक्षी के सिर लाल तथा पैर काले होते हैं।

भारतवर्ष के लिये गैबर मौसमी पक्षी है। सर्दियों के प्रारम्भ में यह पक्षी इस देश में आकर अकेले या समूहों में जलाशयों के निकट विचरण करता दृष्टिगोचर होता है।

गैबर को मछली, कीड़े, मेंढक, छोटे सरीसृप आदि भोजन में अधिक पसन्द हैं। टिड्डियों को भी यह अधिक पसन्द करता है। यह जलाशयों के समीप वृक्षों

---

१. श्येनावपातचकिताननवर्तिकेव। मालतीमाधव ८.८।
२. योध्यन्ते लावकाः। मृच्छकटिक पृ० १७८।
३. बालरामायण २.६।
४. मालतीमाधव ८.८।
५. नीलकण्ठो रक्तशीर्षः कृष्णपादः सितच्छदः। वार्ध्रीणसः स्यात् पक्षीशः॥
रक्तपादो रक्तशिराः रक्तचक्षुर्विहङ्गमः।
कृष्णवर्णो च तथा पक्षी वार्ध्रीणसो मतः।

पर घोंसला बना लेता है। गैबर मादा मई-जुलाई में एक साथ ४–५ अण्डे देती है। परन्तु यह प्रजनन क्रिया उन देशों में होती है, जहाँ से प्रवजन करके यह भारत में आता है।

वार्ध्रीणस पक्षी का वर्णन संस्कृत नाटकों में कम ही हुआ है। प्रतीत होता है कि इसका मांस अधिक पसन्द किया जाता रहा होगा। भास ने वर्णन किया है कि श्राद्ध में पक्षियों में वार्ध्रीणस का मांस विहित है।[1]

५४. विष्किर—

विष्किर वस्तुत: किसी एक विशेष पक्षी का नाम नहीं है। सामान्यत: उन पक्षियों को विष्किर कहा जाता है, जो खाद्य पदार्थों को इधर-उधर बखेर देते हैं। ये कुरेद-कुरेद कर कीड़ों को खाते हैं, कौये आदि पक्षी इसी वर्ग के हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों में इस प्रकार के पक्षियों के दो वर्ग कहे गये हैं—विष्किर और प्रतुद। विष्किर पक्षी अपने पैरों से कुरेद कर भोजन को खोजते हैं, जबकि प्रतुद पक्षी अपनी चोंच से कुरेद कर भोजन की खोज करते हैं। भवभूति ने दण्डकारण्य के वृक्षों पर अवस्थित विष्किर पक्षियों का रोचक वर्णन किया है।[2]

५५. शुक (तोता)—

संस्कृत नाम—कीर, शुक, वक्रतुण्ड, किङ्किरात, तुण्डचञ्चु

हिन्दी नाम—तोता

अंग्रेजी नाम—Parrot

लैटिन नाम—Psittacula krameri

भारतीय पक्षियों में शुक बहुत लोकप्रिय रहा था। शरीर के हरे वर्ण और लाल चोंच ने इसको प्रभूत सौन्दर्य प्रदान किया है। मनुष्य की बोली की नकल करने और मीठा बोलने के कारण भी इसने लोकप्रियता प्राप्त की थी। इसमें सुनी हुई बातों को दोहरा देने की शक्ति होती है।[3] इसके कथन को कवियों ने मन्त्र पाठ के समान माना है।[4]

विश्व में तोतों की अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। विभिन्न रंग-रूपों के तोते मिलते हैं। भारतीय तोता हरे रंग का तथा छोटे आकार का होता है। यहाँ मुख्य रूप से दो प्रकार के तोते होते हैं—हरा तोता (Green parrot) और टुइयाँ तोता (Blossom headed parrot)।

हरा तोता लगभग १६ इंच लम्बा होता है। गरदन के ऊपरी भाग में लाल

---

१. प्रतिमानाटक पृ० १३६। २. उत्तररामचरित २.९।
३. अविमारक पृ० १२२।
४. सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। मृच्छकटिक पृ० १७८।

पट्टी, चोंच से कण्ठ तक दोनों गालों पर काली धारियाँ और चोंच लाल टेढ़ी पलाश के पुष्प के समान होती है। तेज चोंच से यह कठोर फलों को, लकड़ी को भी काट देता है।

टुइयाँ तोता हरे तोते से कुछ छोटे आकार का, सिर बैंजनी-लाल, गरदन के चारों और काला छल्ला, चोंच ऊपर से नारंगी एवं पैर धुयें के से रंग के होते हैं। ये गहरे हरे तथा लाल चित्ती युक्त होते हैं।

तोते समूहों में रहते हैं। तेज चोंच से ये कठोर फलों और लकड़ी को भी काट देते हैं। तोतों का आहार फल-फूल और अनाज है। किन्तु कुछ तोते कीड़ों-मकौड़ों को भी खा जाते हैं। तोता घोंसला नहीं बनाता। मादा तोता वृक्षों के खोखों में श्वेत रंग के ४–६ अण्डे देती है। खोखा न मिलने पर तने या शाखाओं में चोंच से छेद बना कर उसमें अण्डे रखती है।

तोता स्वतन्त्र प्रकृति का होता है। यद्यपि इसको पकड़ कर पिंजरे में पाला जाता है, तथापि अवसर मिलते ही यह स्वतन्त्र होकर आकाश में उड़ जाता है। भारतवर्ष में तोतों को पालने और शिक्षित करने का लोगों को काफी शौक रहा है। घरों के द्वार पर ही पिंजरों में तोते लटकते दिखाई देते थे। मनोरञ्जन का हेतु होने से इसको क्रीड़ापक्षी या क्रीडापतत्री कहा गया था।[१] कवियों ने तपोवनों, घरों, राजभवनों, वाटिकाओं, वनों आदि में इसके वर्णन किये हैं।

तपोवनों और विद्यालयों में तोतों को पाला जाता था। ये तोते छात्रों के अध्ययन के समय पाठ को पुनः-पुनः सुनकर विद्याओं को सीख लेते थे। छात्रों के गलत पाठ को सुनकर उनको टोक भी देते थे। बाण के पूर्वजों के घरों में पिंजरों में तोते और मैनायें पले हुये थे, जिन्होंने समस्त वाङ्मय का अध्ययन कर लिया था। गलती करने पर वे टोक न दें, इस भय से छात्र सशङ्कित होकर मन्त्रों का पाठ करते थे।[२]

तपोवनों के पालतू तोते पिंजरों में भी रखे जाते थे और स्वच्छन्द भी घूमते थे। मुनियों के वाक्यों को स्मरण करके वे दोहरा देते थे।[३] कण्व के तपोवन के वृक्षों पर तोते रहते थे। दिन में आहार को खोजने के लिये दूर उड़ जाते थे तथा रात्रि में वापिस आ जाते थे। उनको नीवार नामक धान्य भोजन में मिलता था। शुक-शावकों के मुख से अनेक बार धान्य के कण नीचे भी बिखर जाते थे।[४]

---

१. क्रीडापतत्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः। रघुवंश १७.२०।

२. जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः ससारिकैः पञ्जर वर्तिभिः शुकैः।
निगृह्यमाणाः बटवः पदे-पदे यजूंषि सामानि च यस्य शङ्किताः॥
कादम्बरी प्रस्तावना श्लोक १२।

३. आश्चर्यचूडामणि ३.१।

४. नीवाराः शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टास्तरुणामधः। अभिज्ञानशाकुन्तल १.१४।

राजभवनों में शुकों के पाले जाने के वर्णन हुये हैं। यहाँ इनको पिंजरों में रखा जाता था।[१] पुरूरवा के अन्तःपुर में क्रीड़ागृह में पिंजरे में शुक पाला हुआ था। यह गरमी से विह्वल होकर जल की याचना कर रहा था।[२] घरों में शुक पाले जाते थे।[३] ये मनुष्यों द्वारा कही गई बातों को दोहरा देते थे।[४] शूद्रक ने वसन्तसेना के घर में शुकों का वर्णन किया है। दही-भात से पेट भर कर यह ब्राह्मण के समान सूक्त पढ़ता था।[५]

परन्तु शुक स्वतन्त्र भी घूम सकते थे। उद्यानों में स्वच्छन्द उड़ते हुये वे मनुष्यों के समान बोल कर रसिकों के मनों को बहलाते थे। छेड़ने पर वे उड़ जाते थे।[६] राजशेखर ने राम के अन्तःपुर में तोतों का वर्णन किया है। वनों के लिये जाती हुई सीता ने जिन पक्षियों से विदा ली थी, उनमें तोते भी थे।[७]

शुकों को बोली बोलने का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था। वे स्तुति करना भी सीख लेते थे। मधुर गीत गाकर वे प्रातःकाल जगाया भी करते थे। कालिदास ने वर्णन किया है कि पिंजरे में स्थित शुक प्रभात वेला में मधुर वाणी बोल कर अज को जगाया करता था।[८] 'नैषधीयचरितम्' में वर्णन है कि सिखाये हुये तोतों को सेवकों ने आकाश में उड़ा दिया और वे वहाँ राजा नल की स्तुति करते हुये उड़ने लगे।[९]

तोते प्रणय-व्यापारों के माध्यम भी हो सकते थे। पालतू शुक नर्मसुहृद् का कार्य कर सकता है।[१०] अनेक बार ये शुक प्रेमी-प्रेमिका की वार्ता को सुन कर, विस्रम्भवार्ताओं को सबके समक्ष कह कर उनको लज्जित भी कर देते थे।[११]

शुकों का फलों के रसों के प्रति अत्यधिक लोभ दिखाया गया है। वृक्षों

---

१. क. पञ्जरशुकः। मृच्छकटिक पृ० १७८।
   ख. निष्ठितः पञ्जरशुकः भर्तृदारिकायाः। अविमारक पृ० ५६।
२. क्रीडावेश्मनि चैष पञ्जरशुकः क्लान्तः जलं याचते। विक्रमोर्वशीय २.२२।
३. हनूमन्नाटक पृ० २२। ४. रत्नावली २.८।
५. दधिभक्तपूरितोदरः ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः।
   मृच्छकटिक पृ० १७८।
६. कर्पूरमञ्जरी पृ० २०३। ७. बालरामायण ६.२७।
८. अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधयुक्ता-
   मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक् पञ्जरस्थः। रघुवंश।
९. तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुकाः विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन्।
   नैषधीयचरितम् १.१०३।
१०. तापसवत्सराज २.१३।
११. विस्रम्भभेदि पञ्जरशुकान्। तापसवत्सराज १.२३।

पर लगे कच्चे-पके फलों के ऊपरी आवरण को अपनी कठोर चोंच से भेदने की उनकी सामर्थ्य है। अनार के लाल दाने उनके अति प्रिय आहार हैं।[१] लाल रंग के मोतियों के दानों में उनको अनार के दानों की भ्रान्ति हो सकती है तथा उसको खाने के लिये वे टूट पड़ सकते हैं।[२] शूद्रक ने वसन्तसेना के पालतू शुक को दही-भात का लोभी बताया है।[३]

कवियों ने शुक को विविध प्रकार से उपमान भी बनाया है। तोते का उदर सुन्दर गहरा हरा होता है। उर्वशी के स्तनांशुक को शुकोदर श्याम कहा गया है। 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में उर्वशी के अदृश्य हो जाने पर उन्मत्त के समान घूमते हुये पुरूरवा ने जब हरी घास पर चलती लाल बीरबहूटियों का देखा, तो समझा कि यह तो उर्वशी का शुकोदरश्यामस्तनांशुक है। इस पर होठों के रंग से लाल आँसू गिर गये हैं।[४]

दुष्यन्त के लिये शकुन्तला प्रणय-पत्र लिखना चाहती है। वहाँ कोई लेखन सामग्री नहीं है। प्रियंवदा उसको शुकोदर के समान कोमल कमलिनी-पत्र देकर कहती है—इस पर अपने नाखूनों से ही लिख डालो।[५]

५६. श्येन (बाज)—

संस्कृत नाम—श्येन, पत्री, शशादन, कपोतारि

हिन्दी नाम—बाज

अंग्रेजी नाम—Falcon; Goshawk

लैटिन नाम—Falco peregrinator

शिकारी पक्षियों में बाज बहुत प्रसिद्ध है। शौकीन लोग इसको पालते थे। सिखों के दसवें गुरु को यह पक्षी अति प्रिय था। चित्रों में उनकी अगुली पर बाज बैठा हुआ दिखाया जाता है। बाज को हिमालय के क्षेत्र अधिक पसन्द हैं। मैदानों में यह कम रहता है।

लगभग २० इंच के आकार का यह पक्षी ऊपरी भाग में राखी-भूरा होता है। सिर तथा गरदन के दोनों ओर कालापन, पूँछ ऊपर हल्की भूरी तथा नीचे

---

१. तपतीसंवरण १.११। २. बालभारत १.४७।
३. मृच्छकटिक पृ० १७८।
४. हृतौष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम्।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम्॥
विक्रमोर्वशीय ४.१७॥
५. अस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैः निक्षिप्तवर्णं कुरु।
अभिज्ञानशाकुन्तल अंक ३।

काली-भूरी चित्तियों से भरी श्वेत होती है। सलेटी रंग की टेढ़ी चोंच तथा पैर पीले होते हैं। इसके पंजे की पकड़ बहुत मजबूत होती है।

बाज मांसाहारी पक्षी है। इसके शिकार छोटे जन्तु, पक्षी और सरीसृप होते हैं। यह भूमि से बहुत ऊँचाई पर उड़ता रहता है तथा अति तीव्र दृष्टि वाला है। शिकार को देखते ही तुरन्त झपट्टा मार कर उठा ले जाता है।

बाज ऊँचे वृक्षों पर घोंसला बनाकर रहता है। मादा बाज मार्च-जून में श्वेत रंग के ३–४ अण्डे देती है। कभी-कभी इन पर चित्तियां भी होती हैं।

शौकीन लोग बाज को पालते भी हैं। इसको वे प्रशिक्षित करके पक्षियों का शिकार कराते हैं। इसके लिये प्रायः मादा बाज (जुर्रा) को पाला जाता है।

संस्कृत कवियों ने बाज का वर्णन शिकारी पक्षी के रूप में किया है। इसमें आश्चर्यजनक शक्ति तथा स्फूर्ति है। बाज छोटे, निरीह पक्षियों—बटेर, मुर्गी, कुररी, आदि पर शीघ्रता से आक्रमण करते हैं।[१] अतः ये पक्षी उससे बहुत डरते हैं।[२] कपोत का तो यह स्वाभाविक वैरी है। उसको देखते ही प्रहार करता है।[३]

श्येन को अति सूक्ष्म-दृष्टि कहा गया है।[४] आक्रमण करने में यह बहुत तेज है। शिकार को दूर से ही देख कर झपटता है, पकड़ता है और नोंच डालता है।[५] अतः अन्य पक्षियों की तो यह मृत्यु ही है।[६]

श्येन मांस का अत्यधिक लोभी है। मांसखण्ड को और मांसखण्ड के समान अन्य किसी लाल वस्तु को देख कर उस पर प्रहार करता है।[७]

कवियों ने श्येन को उपमान भी बनाया है। यह आक्रान्ता, स्फूर्तिशाली, एवं दूरदृष्टि के प्रसङ्ग में उपमान है। शक्तिशाली क्रूर व्यक्ति से आक्रान्त मनुष्य उसी प्रकार भय खाते हैं, जैसे श्येन से आक्रान्त छोटे पक्षी। शक्तिशाली मनुष्यों की पकड़ और दृष्टि बाज के समान होती है।

---

१. क. श्येनावपातचकिताननवर्तिकेव। मालतीमाधव ८.८॥
   ख. प्रतिज्ञायौगन्धरायण ४.२३॥
२. श्येनवित्रासित इव पत्ररथः। मृच्छकटिक पृ० २१८॥
३. वीणावासवदत्तम् पृ० १६।
४. श्येनो गृहालोकने। चारुदत्त ३.११॥
५. श्येनो ग्रहालुञ्चने। मृच्छकटिक ३.२०॥
६. श्येनो सर्वपतत्रिणाम्। मध्यमव्यायोग १.७॥
७. कौमुदीमहोत्सव पृ० १८।

५७. सारस—

संस्कृत नाम—सारस, पुष्कर, लक्ष्मण, पुष्कराह्व, सरसीक

हिन्दी नाम—सारस

अंग्रेजी नाम—Saras crane; Common crane; Domoiselle crane

लैटिन नाम—Grus antigone

संस्कृत कवियों को सारस अति प्रिय पक्षी रहा था। लम्बी चोंच, लम्बी गरदन, लम्बी टाँगों वाले शुभ्र वर्ण के इस जलपक्षी के प्रति उन्होंने प्रभूत अनुराग बखेरा है। सारस हंस परिवार का ही पक्षी है। सारसों की अनेक जातियाँ हैं। पं० हरिदत्त वेदालंकार ने तीन प्रकार के सारस लिखे हैं—सारस (Saras crane), सामान्य सारस (Common crane) और करकरा सारस (Domoiselle crane)।[1]

प्रथम प्रकार का सारस समूचे भारत, चीन और बर्मा में होता है। इसके सिर और पैर लाल रंग के, टांगे लम्बी, धूसर वर्ण की, चोंच लम्बी कठोर धूसर वर्ण की तथा आगे से काली होती है। यह नदियों, झीलों, जलाशयों और दलदली भूमि में पाया जाता है। यह भारतवर्ष का बारहमासी पक्षी है।

सामान्य सारस प्रवासी पक्षी है। शरद् ऋतु के प्रारम्भ में यह भारतवर्ष में आता है। ग्रीष्म के आरम्भ होते ही वापिस चला जाता है। प्रव्रजन के समय इसके झुण्ड V के आकार में आकाश में उड़ते हैं। इसका आकार बहुत कुछ पहले सारस के समान ही है।

करकरा सारस पहले सारस से कुछ छोटा धूसर वर्ण का पक्षी है। इसका सिर, गरदन और वक्ष काले होते हैं। आँखें चमकीली लाल होती हैं। चोंच हरी तथा आगे से गुलाबी होती है। यह भी प्रवासी पक्षी है। शीत ऋतु में भारत में आता है।

सारस जल के समीपवर्ती स्थानों को पसन्द करता है तथा इसका मुख्य भोजन वहीं प्राप्त होने वाले मछलियां, घोंघे, मेंढक आदि हैं। सारस युगल में रहना पसन्द करते हैं। परन्तु युगल टूट जाने पर अकेले जीवन व्यतीत करते देखे गये हैं। मादा सारस वर्षा ऋतु में कहीं किसी टापू आदि स्थान पर घास का घोंसला बना कर गुलाबी-श्वेत रंग के १-३ अण्डे देती है। इस पर बादामी-बैंजनी चित्तियां रहती हैं।

संस्कृत कवियों ने यद्यपि सारस के भेदों के विषय में विशेष नहीं लिखा, तथापि वे उनके प्रव्रजन का संकेत अवश्य करते हैं। भास का कथन है कि वर्षा

---

१. कालिदास के पक्षी पृ० १६२–१६५।

ऋतु के समाप्त होने पर शरद् का प्रारम्भ होते ही सारसों की पंक्तियाँ आकाश में उड़ती दृष्टिगोचर होती हैं ।[१]

संस्कृत कवियों ने इस सुन्दर पक्षी की दो विशेषताओं का मुख्य रूप से उल्लेख किया है—जल के समीप रहना और मधुर क्रेङ्कार ध्वनि करना। सारसों का निवास जल के समीपवर्ती प्रदेशों में है।[२] यहाँ ये सुन्दर मधुर ध्वनि करते हैं।[३] इस ध्वनि को सुन कर पथिकों को दूर से ही जल की उपस्थिति का अनुमान हो जाता है[४]। शिप्रा नदी में सारसों की मधुर ध्वनि गूँजती रहती थी ।[५]

सारसों को पालने के वर्णन कवियों ने किये हैं। स्वतन्त्र विचरण करने वाले इस पक्षी के शारीरिक सौन्दर्य और मधुर ध्वनि से आकृष्ट होकर रसिक जन इसका पालन करते थे। यह पक्षी मनुष्य के साथ रहकर बहुत शीघ्र पालतू, परिचित तथा निर्भीक हो जाता है। छोटी आयु में पाले जाने पर यह अच्छा पालतू पक्षी हो जाता है और चौकीदारी का कार्य भी कुशलता से करता है। घरों में पालतू सारसों की मधुर ध्वनियां कक्षों में गूँजती रहती हैं। 'पादताडितक' के अनुसार उज्जयिनी के प्रासादों में सेविकाओं के पीछे घूमते हुये सारसों की ध्वनि दूर तक श्रुतिगोचर होती थी।[६] वे घरों में इधर-उधर भटकते देखे जा सकते थे।[७] इनके भोजन के लिये गृहस्थ-जन घरों की देहली पर बलि के रूप में अन्न के दाने बखेर देते थे, जिनको वे बड़े शौक से खाते थे ।[८]

कवियों ने सारसों के युगल की प्रणय-भावनाओं की अभिव्यञ्जना की है। सारस युगल रूप में रहना पसन्द करता है। मादा कोमल स्वभाव की होती है। वह मेघों की गर्जना के सुनने मात्र से भयभीत हो जाती है।[९] पक्षी-विद्या-विशारदों

---

१. क. शरत्कालनिर्मलेऽन्तरिक्षे सारसपंक्तिं यावत ।

स्वप्नवासवदत्त पृ० ११९ ॥

ख. कोकनदमालापाण्डररमणीयां सारसपंक्तिम् ।

स्वप्नवासवदत्त पृ० १२०–१२१ ॥

२. मालतीमाधव पृ० ४१४ ॥ ३. मुद्राराक्षस ३.७ ॥

४. तरुवृतां पथिकस्य जलार्थिनः सरितमारसितादिव सारसात् ।

मालविकाग्निमित्र ३.६ ॥

५. दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानाम् । पूर्वमेघ श्लोक ३३ ॥

६. पादताडितक श्लोक २२ ।

७. इतस्ततः सञ्चरन्ति गृहसारसाः । मृच्छकटिक पृ० १७८ ॥

८. यासा बलिः सपदि सद्गृहदेहलीनां ।
हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः । मृच्छकटिक १.९ ॥

९. जलधरगर्जितभीतसारसीव । मृच्छकटिक । १.२४

का कथन है कि सारस सदा युगल में ही देखे जाते हैं। वे अपनी मादाओं के साथ भोजन की तलाश में भटकते रहते हैं। कवियों ने सारस को उपमान भी बनाया है। क्रूर मनुष्यों द्वारा सताई गई युवती की उपमा मेघों की गर्जना से डरी सारसी से दी है।[1]

५८. सारिका (मैना)—

संस्कृत नाम—सारिका, पुरुषवाक्, मधुरालापा, मेधाविनी

हिन्दी नाम—मैना

अंग्रेजी नाम—Common Myna (देसी मैना)
Gracale (पहाड़ी मैना)

लैटिन नाम—Acridotheres tristis

संस्कृत काव्यों तथा नाटकों में सारिका का प्रचुर वर्णन है। यह दो प्रकार की होती है—देसी और पहाड़ी। देसी मैना १०–११ इंच लम्बी और खैरे रंग की होती है। इसका सिर, गरदन, पूँछ और वक्ष काला होता है। पेट, पंख के कुछ भाग तथा पूँछ का सिरा श्वेत होते हैं। चोंच से आँख के नीचे तक के भाग पर पीला उभरा मांस रहता है। पैर भी पीले होते हैं।

पहाड़ी मैना १० इंच लम्बा काले रंग का पक्षी है। परन्तु इसमें हरे-बैंजनी रंग की झलक भी रहती है। पंख पर एक श्वेत चित्ती तथा आंखों से लेकर सिर तक एक पीली पट्टी होती है। पैर पीले होते हैं। देसी मैना की अपेक्षा पहाड़ी मैना में मनुष्य की बोली की नकल करने की सामर्थ्य अधिक है।

मैना सर्वभक्षी पक्षी है। यह फल-फूल तथा कीड़े-मकौड़े खूब खाता है। फूलों का रस चूसने में भी निपुण है। वसन्त ऋतु इसको अति प्रिय है।[2] इस ऋतु में इसके युगल मौज में विचरण करते हुये विलास करते हैं। मादा मैना वर्षा ऋतु में ३–६ अण्डे देती है। देसी मैना के अण्डे नीले तथा पहाड़ी मैना के हरे होते हैं। इन पर भूरी-बैंजनी या कत्थई रंग की चित्तियां रहती हैं।

संस्कृत कवियों को मनुष्य की बोली बोलने वाले शुक और सारिका पक्षी बहुत पसन्द आये। उन्होंने इनमें प्रणयी-प्रणयिनी की कल्पना भी कर डाली। प्राचीन साहित्य में शुक–सारिकाओं की प्रणयकथायें बहुत प्रसिद्ध हैं। परन्तु ये कल्पना मात्र ही है। शुक–सारिका के भिन्न जातीय पक्षी होने से इनका परस्पर प्रणय सम्भव नहीं है।

सारिका शुक की अपेक्षा अधिक स्पष्ट स्वर में मनुष्य की वाणी का अनुकरण करती है। अतः वैदिक साहित्य में इसको पुरुषवाक् कहा गया है।[3]

---

१. जलथरगर्जितसारगीन। मृच्छकटिक १.२४॥

२. चारुदत्त पृ० २१।

३. सरस्वत्यै शारिः श्येता पुरुषवाक्। तैत्तिरीय संहिता ५ ५.१२, मैत्रायणी संहिता ३.१४.४, वाजसनेयी संहिता २४.३३॥

उव्वट और महीधर ने पुरुषवाक् का अर्थ किया है—मनुष्य के समान बोलने वाली सारिका।

सारिका यद्यपि आरण्य पक्षी है, तथापि इसको आसानी से पालतू बनाया जा सकता है और प्रशिक्षित किया जा सकता है। संस्कृत नाटकों में सारिका के आरण्य जीवन का वर्णन नहीं है। पालतू सारिकाओं का ही उल्लेख मिलता है। सारिकाओं में मनुष्य की बोली का अनुकरण करने की विशेष सामर्थ्य है।[१] यह जिस वृत्तान्त को जिस प्रकार सुनती है, उसी प्रकार उच्चारण करके दोहरा देती है।[२] इसकी बोली स्पष्टाक्षरों वाली मधुर तथा मन्द होती है।[३]

सारिकाओं को सामान्य घरों और राजभवनों में पाले जाने के वर्णन मिलते हैं।[४] क्योंकि यह स्वतन्त्र छोड़ देने पर मौका पाकर उड़ जाती है, अतः इसको पिंजरे में बन्द करके रखा जाता था।[५] राजाओं के अन्तःपुरों की चेटियाँ इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करती थीं। कहीं जाने पर इसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करती थीं।[६]

सारिकायें युवतियों के मनोरंजन का अच्छा साधन थीं। वे सारिकाओं से वार्ता करके मन बहलाती थीं।[७] प्रिय का विरह होने पर अलकापुरी की यक्षिणी को मनोविनोद का यही साधन था कि वह सारिका से अपने पति के सम्बन्ध में वार्ता करे।[८] वसन्तसेना के प्रासाद के सातवें प्रकोष्ठ में पक्षिगृह में सारिका भी थी, जो बहुत शोर मचाती थी।[९]

कवियों ने सारिकाओं के प्रणय-विलासों का वर्णन किया है तथा उनको प्रणयी-प्रणयिनी के संदेशों के आदान-प्रदान का माध्यम भी बनाया है। 'रत्नावली' नाटिका में सागरिका औरसुसंगता की वार्ता को सारिका सुन लेती है। सुसंगता को आशङ्का होती है कि कहीं यह मेधाविनी सारिका उदयन के प्रति सागरिका के प्रणय-भाव को किसी

---

१. मृच्छकटिक पृ० १७८।

२. रत्नावली पृ० ४८, ५२, ५८–६०।

३. स्पष्टाक्षरमिदं यस्मान्मधुरं स्त्रीस्वभावतः।
अल्पाङ्गत्वादनिर्ह्रादि मन्ये वदति सारिका॥ रत्नावली २.६।

४. हनुमन्नाटक पृ० ३२।

५. कर्पूरमञ्जरी पृ० १७८।

६. सारिका मया पुनः सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता। रत्नावली पृ० ३०।

७. पाताडितक श्लोक ३७।

८. पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्था।
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥ उत्तरमेघ श्लोक २५।

९. अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका। मृच्छकटिक पृ० १७८।

के आगे न कह दे।[१] होता भी वही है। सुसंगता और सागरिका के मध्य की वार्ता को सारिका उदयन के समक्ष कह देती है और उदयन के हृदय में सागरिका के प्रति प्रणय-भाव जागृत हो जाता है।

प्राचीन समय में तपोवनों और विद्यालयों में शुक और सारिकाओं के पाले जाने के वर्णन मिलते हैं। शुकों के साथ सारिकायें भी पाठों को सुन-सुन कर स्मरण कर लेती थीं। वे इन पाठों की इतनी अभ्यस्त हो गई थीं कि गलती करने वाले छात्रों को तुरन्त टोक देती थीं। बाण ने 'कादम्बरी' के प्रारम्भिक श्लोकों में इसका संकेत दिया है।[२]

राजप्रासादों में सारिकाओं को इसलिये भी पाला जाता था कि वे राजाओं की स्तुति कर सकें। 'नैषधीयचरितम्' में राजा नल जब उपवन-विहार करने के लिए गये तो राजा की स्तुतियों को स्मरण करने वाली सारिकाओं को आकाश में उड़ाया गया, जहाँ वे मधुर स्वर में राजा नल की स्तुति का गान करने लगी थीं।[३] 'भागवत पुराण' में वर्णन है कि सती की विदा के समय जो वस्तुयें दहेज में दी गईं, उनमें मधुरवचना सारिका भी थी।[४]

कवियों ने सारिका का उपमान के रूप में भी प्रयोग किया है। घर में पाली गई सारिका आदर पाकर खूब बोलती है। अतः सम्मान पाकर बहुत बोलने वाली सेविका उस सारिका के समान होती है।[५]

५६. हंस

संस्कृत नाम—हंस, श्वेतगरुत्, चक्राङ्ग, मानसौकस, मराल, चक्रपक्ष, राजहंस, कलकण्ठ, सितच्छद, मानसालय

हिन्दी नाम—हंस,

अङ्ग्रेजी नाम—Swan; Goose

---

१. एतया पुनर्मेधाविन्या सारिकयाऽत्रकारणेन भवितव्यम्। कदाप्येषा अस्या आलापस्य गृहीताक्षरा कस्यापि पुरतो मन्त्रयिष्यते॥

रत्नावली पृ० ४८।

२. कादम्बरी प्रस्तावना श्लोक १२।

३. स्वरामृतेनोपजगुश्च सारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः।

नैषधीयचरितम् ११०३।

४. तां सारिकाकन्दुकदर्पणाम्बुजश्वेतातपत्रव्यजनस्रगादिभिः।
गीतायनैर्दुन्दुभिशखवेणुभिर्वृषेन्द्रमारोप्य विटङ्किता ययुः॥

भागवतपुराण ४. ४. ५।

५. मृच्छकटिक पृ० १७८।

लैटिन नाम—1. Cygnus, Cynus,
2. Cygnus, Columbianus (धार्तराष्ट्र),
3. Anser anser (मल्लिकाक्ष)
4. Anser indicus (राजहंस)।

संस्कृत कवियों ने हंसों के प्रति विशेष अनुराग प्रदर्शित किया है। इसके सम्बन्ध में अनेक कवि-प्रसिद्धियों को लिखा है। नाटकों में हंसों के विविध भेदों और पर्यायों—हंस, राजहस, धार्तराष्ट्र, मल्लिकक्ष, मराल, हिरण्यहंस आदि का वर्णन है। इन नाटकों में हंसों के वर्ण, विलास, प्रव्रजन, ध्वनि, गति, पालन, स्वभाव, नीर-क्षीरविवेक आदि का वर्णन है।

हंस का एक विस्तृत परिवार है। इसमें हंस (Swan), बल (Goose) और बत्तख (Duck) को ग्रहण किया जाता है। इन तीनों की आकृति और स्वभाव में सादृश्य होने के कारण संस्कृत कवियों ने सबको सामान्य रूप से हंस कह दिया है। इनमें हंस का आकार सबसे बड़ा, बल का उससे छोटा और बत्तख का उससे छोटा होता है। इनमें से अधिकांश पक्षी शरद् ऋतु में उत्तर दिशा से आते हैं। कुछ ग्रीष्म में तथा वर्षा ऋतु में उत्तर की ओर वापिस चले जाते हैं।

हंस, जिसको राजहंस भी कहा जा सकता है, भारतवर्ष के मैदानों में बहुत कम दिखाई देता है। यह विशालकाय शुभ्रश्वेत वर्ण का पक्षी मूलतः साइबेरिया का है और हिमालय के पर्वतीय प्रदेशों एवं उसके समीपवर्ती मैदानों तक ही रहता है। यह काश्मीर, रावलपिण्डी और सिन्ध में भी दृष्टिगोचर होता है। लगभग ५ फीट तक लम्बे इसके पंखों का फैलाव ७ फीट तक हो सकता है। इस हंस की चोंच नारंगी रङ्ग की, किनारे तथा जड़ पर काली तथा पैर काले होते हैं। मई-जुलाई के मध्य मादा हंस अण्डे देती है।

बत्तख का भारतवर्ष में आगमन अधिक संख्या में होता है। संस्कृत कवियों ने सम्भवतः इसी बत्तख के अधिक दर्शन किये होंगे। यह प्रवासी पक्षी भी मूलतः साइबेरिया का है और शरद् ऋतु के प्रारम्भ में भारत में आता है। इसके मुख्य दो भेद होते हैं— बड़ी बत्तख (Greg lag goose) और सवन (Barred headed goose)।

लगभग ढाई फीट लम्बी बड़ी बत्तख का ऊपरी हिस्सा पाण्डुवर्ण, पीठ का पिछला हिस्सा श्वेत, इस पर कत्थई धारियाँ, पेट श्वेत, सिर और गर्दन कत्थई, पंखों में कालिमा, पैर काले और चोंच हलकी गुलाबी होती है। इसका मुख्य भोजन घास-पात, काई और नरम अंकुर हैं। यह अपने मूल स्थान पर खर-पतवार के मध्य घोंसला बनाता है। इसकी मादा पीले श्वेत रङ्ग के १०-१२ अण्डे एक साथ देती है।

सवन पक्षी भी शरद् ऋतु के प्रारम्भ में उत्तर से आकर गरमी के प्रारम्भ में वापिस चला जाता है। सम्भवतः कवियों ने इसी को कलहंस कहा है। लगभग

ढाई फीट लम्बे इस पक्षी का ऊपर का भाग राख के रंग का, निचला भाग श्वेत, पीठ और कन्धों पर पीली-श्वेत धारियाँ, सिर और आँखों के पीछे दो काली पट्टियाँ, चोंच पीली और पैर गुलाबी होते हैं। सवन का मुख्य भोजन घास-पात, काई और नरम अंकुर हैं। यह भी अपने मूल स्थान पर घोंसला बनाता है। मादा सवन एक साथ पीले-श्वेत १०-१२ अण्डे देती है।

बत्तख अनेक प्रकार की मिलती हैं और झुण्डों में रहती हैं। इनमें कुछ बत्तखें प्रवासी हैं और कुछ वर्ष भर इसी देश में रहती हैं। नीलसर (Millard) नामक बत्तख नीले रंग की हरी गरदन वाली प्रवासी पक्षी है। सम्भवतः इसी को कवियों ने कादम्ब कहा है। उत्तर की ओर लौटते हुये इनमें से अनेक पक्षी काश्मीर को झीलों में रुक जाते हैं। इनकी मादा एक बार में ८-१० हरे रंग के अण्डे देती है।

सीखपर (Pintail) नामक बत्तख भी प्रवासी है। यह शरद् ऋतु के प्रारम्भ में आकर गरमी प्रारम्भ होने पर लौट जाती है। विविध रङ्गों की इस बत्तख की पूँछ के पीछे दो नोकदार पंख मिले रहते हैं। यह शाकाहार और मांसाहार दोनों करती है। मादा पक्षी एशिया के उत्तरी भागों में ७-८ पीले रङ्ग के अण्डे देती है।

चैती लगभग १५ इंच की छोटी बत्तख है। इसको मुर्गाबी भी कह सकते हैं। भारतवर्ष में यह सर्दियों में दिखाई देती है।

बत्तखों की कुछ जातियाँ वर्ष भर इस देश में रहती हैं। इनमें सबसे प्रसिद्ध नकटा बतख (Comb duck) है। लगभग ३० इंच लम्बा यह पक्षी अपनी चोंच पर उठे हुये कुब्जक के कारण दूर से ही पहचाना जाता है। गहरे-भूरे रंग की चोंच पर उसी रंग का एक काफी ऊँचा कुब्जक उठा होता है। ये पक्षी शाकाहार के साथ ही मछली और कीड़े-मकौड़े तक खा जाता है। मादा बत्तख किसी पेड़ पर या उसके खोखले में घोंसला बना कर मटमैले रंग के १०-१२ अण्डे देती है।

हंस जाति के इन सभी पक्षियों के पैरों की उँगलियों में जाल सा बना होता है, अतः इनको जालपाद कहा जाता है। इस जाल के कारण इनको तैरने में सुविधा होती है।

संस्कृत-साहित्य में यद्यपि विविध हंसों के वर्णन हैं, तथापि कवियों ने इनको सामान्यतः श्वेत कहा है। राजहंसों से श्वेत छत्रों की उपमा दी गई है।[1] परन्तु हंसों की चोंच और पंजे कुछ रंगीन होते हैं। रंगों के भेद के आधार पर कोश ग्रन्थों में इनके तीन भेद किये गये हैं—राजहंस, धार्तराष्ट्र और मल्लिकाक्ष। जिन हंसों के चोंच और पंजे लाल होते हैं, वे राजहंस कहलाते हैं। काले चोंच-पंजे वाले हंस

---

१. मालतीमाधव पृ० २५७।

धार्तराष्ट्र हैं। मटमैले चोंच पंजों वाले हंसों को मल्लिकाक्ष कहा गया है।[1] 'अमरकोष' में भी हंसों के इन तीनों भेदों की पहचान इसी प्रकार है।[2] संस्कृत नाटकों में तीनों प्रकार के हंसों का उल्लेख आया है।

दिङ्नाग दीर्घिकाओं में विहार करने वाले राजहंसों का वर्णन करते हैं।[3] वे नैमिषारण्य में हैं। श्रीहर्ष ने स्वर्णिम राजहंसों का वर्णन किया है। इनकी चोंच और पैर लाल थे।[4] इसका वर्णन निषध देश में हुआ है। 'वेणीसंहार' में शरद् ऋतु में मैदानों की ओर जाने वाले धार्तराष्ट्रों का वर्णन है।[5] शूद्रक ने धार्तराष्ट्रों की चोंच (मुख) काले रंग की बताई है। इनका वर्णन उसने उज्जयिनी में किया है।[6] भवभूति ने दक्षिण भारत के सरोवरों में उड़ने वाले मल्लिकाक्षों का वर्णन किया है।[7]

संस्कृत कवि हंसों की विविध विशेषताओं का भी वर्णन करते हैं। इनके प्रवास का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। हंसों का मूल निवास मानसरोवर कहा गया है। यहाँ वे स्वर्ण-कमलों के मध्य निवास करते हैं।[8] मानसरोवर से पृथक् किये जाने पर वे क्षीण हो जाते हैं।[9] शरद् ऋतु के आरम्भ में मानसरोवर से हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र को पार करके मैदानों में नदियों के सैकतों में पहुँचते हैं।[10] वर्षा का आरम्भ होने पर पुनः मानसरोवर की ओर चले जाते हैं।[11] इस कारण वर्षा ऋतु में हंसों के दर्शन नहीं होते।[12] हंसों के इस प्रव्रजन में कवियों ने उनके अज्ञातवास की कल्पना की है।[13]

---

१. आताम्रैः राजहंसाः स्युर्धार्तराष्ट्राः सितेतरैः।
मलिनैर्मल्लिकाक्षाश्च कथ्यन्ते चरणाननैः हलायुधकोष—२५२।
२. राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः।
मलिनैर्मल्लिकाख्यास्ते धार्तराष्ट्रा सितेतरैः॥ अमरकोष २. ५. २४।
३. कुन्दमाला पृ० १२५।
४. नैषधीयचरितम् १.११७–११८।
५. वेणीसंहार १.६।
६. एततद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृश मेघान्धकार नभो। मृच्छकटिक ५.६।
७. एतस्मिन् मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः।
उत्तररामचरित १.३१, मालतीमाधव ५.१८।
८. नागानन्द ५.३७।
९. कर्पूरमञ्जरी पृ० ८३।
१०. कौमुदीमहोत्सव १.२।
११ क. हंसैर्थियासुमिरपाकृतमुन्मनस्कैः। मृच्छकटिक ५.१।
ख कौमुदीमहोत्सव १.२।
१२. येऽपि त्वद्गमनानुसारगतिकास्ते राजहंसाः गताः। रामाभ्युदय पृ० २०।
१३. हंसाः सम्प्रति पाण्डवा इव वनादज्ञातवासं गताः। मृच्छकटिक ५.६।

हंस हिमालय को पार करके मानसरोवर से जिस मार्ग से मैदानी प्रदेशों में आते हैं, उसको कवियों ने क्रौञ्चरन्ध्र या हंसद्वार कहा है। कालिदास वर्णन करते हैं कि हिमालय पर पहुँच कर ये हंस उत्तुंग पर्वत-शृंखलाओं के मध्य क्रौञ्च-रन्ध्र में से यात्रा करते हैं।[1] क्रौञ्च-रन्ध्र की पहचान गढ़वाल में जोशीमठ से आगे नीति दर्रा से की जाती है।

वर्षा ऋतु में हंसों की उत्तर की ओर यात्रा का विस्तृत विवरण मिलता है। मेघों के आने पर हंस उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे होते हैं,[2] क्योंकि कैलास पर्वत पर्यन्त उनकी यात्रा मेघों के साथ हो सकती है।[3]

हंसों का मूल स्थान यद्यपि उत्तरी एशिया है, तथापि संस्कृत कवियों ने उसको तिब्बत में स्थित मानसरोवर कहा है। हंस उत्तरी एशिया से भारत की यात्रा हिमालय को पार करके करते हैं। इनमें कुछ हंस तिब्बत में मानसरोवर पर भी रह जाते होंगे। कवियों ने भी हंसों को उत्तर की ओर से आते देखा होगा। अतः उनका यह विचार करना कि हंसों का मूल स्थान मानसरोवर है, जहाँ से वे शरद् ऋतु में आते हैं, उनके हिसाब से ठीक ही है।

हंसों को जलीय स्थानों का प्रेमी दिखाया गया है। वे सरोवरों, बावड़ियों और नदियों के तटों पर रहते हैं तथा कमलों के मध्य विचरण करते हैं।[4]

बावड़ियों और सरोवरों में हंसों के विलास के विविध चित्रण किये गये हैं। अग्निमित्र के राजप्रासाद में ग्रीष्म ऋतु में हंस बावड़ियों में कमलों की छाया में आँखों को बन्द करके बैठ जाते थे।[5] उदयन के राजप्रासाद में बावड़ियों में हंसों के निवास का वर्णन है। यहाँ से सुदूर आकाश में उड़ जाने पर भी वे यहीं वापिस आ जाते थे।[6] दिङ्नाग वापिकाओं के मध्य विचरण करते हुये हंस-युगलों का मनोहारी चित्रण करते हैं।[7] कालिदास ने सरोवरों में हंसों के तैरने के मनोरम दृश्य दिखाये हैं। तैरती हुई हंसों की पंक्ति सरोवर की रशना सी प्रतीत होती है।[8]

---

१. हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत् क्रौञ्चरन्ध्रम्। पूर्वमेघ श्लोक ६१।

२. हंसैरुज्झितपङ्कजैरतितरां सोद्वेगमुद्वीक्षितः। मृच्छकटिक ५.२३।

३. आकैलासाद् बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः।
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः। पूर्वमेघ श्लोक ११।

४. हनूमन्नाटक ५.६॥

५. पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना दीर्घिकापद्मिनीनाम्।
मालविकाग्निमित्र २.१२।

६. वेगेनोड्डीय दूरं पुनरमिपतता वापिकामेव हंसाः। तापसवत्सराज २.६।

७. कुन्दमाला पृ० १२५।

८. हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः। उत्तरमेघ श्लोक ३।

नदियों के सैकत प्रदेश हंसों के प्रिय स्थान रहे थे। मालिनी नदी का चित्र बनाते हुये दुष्यन्त ने इस नदी के सैकत प्रदेशों में विश्राम करते हुये हंसों का भी चित्र वनाया।[१] भास ने वर्णन किया है कि शरद् ऋतु में नदियों के पुलिन प्रदेशों में विकसित कास पुष्पों के मध्य विचरण करती हुई हंसिया मानो कास-पुष्पों के अंशुक को धारण कर रही थीं।[२]

कवियों ने सरोवरों में और अन्य जलीय स्थानों में कमलों के मध्य हंसों को विशेष रूप से वर्णित किया है। ये हंस स्वर्ण-कमलों का मधु पीते हैं[३] और मृणाल-दण्ड खाते हैं।[४] कमलों का केसर खाने से इनके कण्ठ मधुर हो जाते हैं।[५]

हंसों के स्वतन्त्र स्वभाव और पालने, दोनों का ही उल्लेख नाटकों में है। वस्तुतः हंस स्वतन्त्र प्रकृति का स्वच्छन्द विहार करने वाला पक्षी है। बन्धन को वह पसन्द नहीं करता। श्रीहर्ष वर्णन करते हैं कि नल द्वारा हंस के पकड़ लिये जाने पर वह छूटने के लिये उसके हाथों को काटने लगा।[६] उसके साथी आकाश में उड़ते हुये शोर मचाने लगे।[७]

कवियों ने हंसों को पाले जाने के विस्तृत वर्णन किये हैं। अपने आकर्षक सौन्दर्य और मधुर ध्वनि के कारण लोगों की इनको पालने की और अभिरुचि होती थी। मधुर ध्वनि के कारण इसका नाम कलहंस हुआ।[८] इसकी सङ्गीत के समान मोहक ध्वनि[९] पर मनुष्य तो क्या, अश्व भी मोहित हो जाते हैं।[१०] राजहंसों का कूजन नूपुरों की ध्वनि के समान कहा गया है।[११]

इस मधुर ध्वनि ने राजहंसों को पालने की ओर विशेष रूप से मनुष्यों का ध्यान आकृष्ट किया। भारतीय राजाओं के अन्तःपुरों के उद्यानों की वापिकाओं में हंस अवश्य पाले जाते थे।[१२] सीता ने अनेक हंस पाल रखे थे। वनों के लिये प्रस्थान करने पर उसने अपने पालतू हंसों से भी विदा माँगी थी।[१३] भास ने राजभवनों में

---

१. कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी। अभिज्ञानशाकुन्तल ६.१७।
२. चरति पुलिनेषु हंसी काशांशुकवासिनी सुसंहृष्टा। प्रतिमानाटक १.२।
३. आश्चर्यचूडामणि ५.२४।
४. सुभद्राधनञ्जय २.१६, आश्चर्यचूडामणि ६.१८, विक्रमोर्वशीय १.२०।
५. मालतीमाधव पृ० २२६।
६. नैषधीयचरितम् १.१२५।
७. नैषधीयचरितम् १.१२७-१२८।
८. कर्पूरमञ्जरी ३.२३।
९. कुन्दमाला १.७। ३. कुन्दमाला १.४।
१०. कूजित राजहंसानां नेदं नूपुरशिञ्जितम्। विक्रमोर्वशीय ४.३०।
११. प्रियदर्शिका २.४।
१२. बालरामायण ६.२८।

पाले गये हंसों को रत्नजटित शिलाओं पर शयन करते दिखाया है।[1] शूद्रक वर्णन करते हैं कि गृहस्थ जन घरों की देहली पर बलि के रूप में अन्न-दानों को बखेरदेते थे। सारस और हंस इनको खाया करते थे।[2] ये हंस युवतियों से खूब परिचित हो जाते थे और उनके पीछे घूमते थे।[3]

हंसों के स्वभाव और प्रणय की भी कवियों ने अभिव्यञ्जना की है। हंसों की गति की बहुत प्रशंसा की गई है। यह युवतियों की गति का उपमान है। हंसों के शयन के विषय में श्रीहर्ष कहते हैं कि वह एक पैर से खड़ा होकर गरदन को तिरछा करके पंखों से मुख को ढक लेता है।[4] एक हंस की अनेक प्रेमिकायें हंसिनियाँ होती हैं।[5] हंस-युगल के पारस्परिक प्रणय तथा उसके औचित्य में कवियों ने मधुर कल्पनायें की हैं। कलहंसी के पीछे जाता हुआ राजहंस अच्छा लगता है।[6]

हंसों के सम्बन्ध में लोक में अनेक किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं। इनका उपयोग कवियों ने अपनी रचनाओं में किया है। इनमें दो अधिक प्रसिद्ध हैं—हंस द्वारा मोती को चुगना और दूध से जल को पृथक् कर देना। इन दोनों किंवदन्तियों और कवि-प्रसिद्धियों पर विचार करना समुचित होगा—

हंसों द्वारा मोतियों का भोजन करने की बात लोक में प्रसिद्ध है। कवियों ने साहित्य में इस प्रसिद्धि का उपयोग किया है। संस्कृत साहित्य में तो इसका उल्लेख कम ही है, परन्तु अन्य भारतीय लोक-साहित्य में इसका वर्णन अधिक है। वस्तुतः इस कवि-प्रसिद्धि में कोई यथार्थता नहीं है। हंस ऐसे स्थानों पर रहते हैं, जहाँ मोती उपलब्ध नहीं होते। उत्तरी एशिया, मानसरोवर, जलाशयों-सरोवरों-वापिकाओं-नदियों के तटों पर कहीं भी मोती नहीं मिलते, जहाँ कि हंस को यह भोजन प्राप्त हो सकता। परन्तु हंस सदा अति निर्मल जल का पान करता है, जो मोतियों के समान स्वच्छ होता है। इसी कारण यह प्रसिद्धि हो गई कि हंस मोती चुगता है।

---

१. हंसा स्वपन्ति मणिरत्नशिलातलेषु। अविमारक ३.१६।
२. हंसैश्च सारसगणैश्च विलुप्तपूर्वः। मृच्छकटिक १.९, चारुदत्त १.२।
३. कामिनीनां पश्चात् परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि।
मृच्छकटिक पृ० १७८।
४. अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिका तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः। सतिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः।
नैषधीयचरितम् १,१२१
५. नैषधीयचरितम् १.११८।
६. कलहंसीमनुगच्छन् राजहंसीव शोभते। मृच्छकटिक पृ० ६२।

दूसरी प्रसिद्धि हंस द्वारा नीर-क्षीर-विवेक की है। कालिदास लिखते हैं कि हंस दूध को तो ग्रहण कर लेता है, परन्तु उसमें मिले हुये जल को छोड़ देता है।[1] 'यजुर्वेद संहिता' में हंस द्वारा सोमरस से जल को पृथक् कर देने का वर्णन आता है।[2] यह प्रसिद्धि परवर्ती साहित्य में नीर-क्षीर-विवेक के रूप में प्रचलित हो गई होगी। 'पञ्चतन्त्र' के प्रारम्भ में लिखा है कि शास्त्रों में से सार-तत्व को ग्रहण करके फोक को उसी प्रकार छोड़ देना चाहिये, जिस प्रकार हंस जल के मध्य में से दूध को पृथक् कर ग्रहण कर लेता है और जल को छोड़ देता है।[3]

हंस के इस नीर-क्षीर-विवेक गुण पर विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। सायण का कथन है कि हंस की चोंच में एक विशेष प्रकार का खट्टा पदार्थ होता है। हंस द्वारा दूध में चोंच डालने पर इस खट्टे पदार्थ से दूध और जल दोनों पृथक् हो जाते हैं। अब हंस जल के भाग को छोड़कर दूध के भाग को ग्रहण कर लेता है।[4] परन्तु आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है कि हंस की चोंच में इस प्रकार का कोई पदार्थ नहीं है तथा यह प्रसिद्धि कवियों की केवल कल्पना ही है।

हंस द्वारा नीर-क्षीर-विवेक प्रसिद्धि का समाधान कुछ विद्वान् इस प्रकार करते हैं कि हंसों का पेय भोजन मृणाल-तन्तु है। मृणाल को तोड़ने पर दूध के समान श्वेत तरल पदार्थ बाहर निकलता है। हंस इसको पी जाता है। मृणालों के पानी में रहने के कारण यह प्रसिद्धि हो गई कि हंस जल में से दूध को पृथक् कर लेता है।

हंस के नीर-क्षीर-विवेक रूप किंवदन्ती का कुछ भी समाधान क्यों न किया जावे, परन्तु यह प्रसिद्धि केवल कवि-सत्य ही है, लोक का सत्य नहीं है।

प्राचीन भारतीय जन हंस की ध्वनि, गति और रूप से बहुत अधिक आकृष्ट थे। अतः कवियों ने इसको अपने काव्यों में अनेक स्थलों पर उपमान बनाया है। हंस की ध्वनि संगीत की ध्वनि के समान मोहक है।[5] राजहंसों का कूजन युवतियों के शिञ्जित के समान मधुर लगता है।[6]

हंसों की गति को कवियों ने तरुणियों की गति का उपमान बनाया है।[7]

---

१. हंसो हि क्षीरमादत्ते तन्मिश्राः वर्जयत्यपः। अभिज्ञानशाकुन्तल ६.२८।

२. काठकसंहिता ३८.१, मैत्रायणीसंहिता ३.११.६, वाजसनेयिसंहिता १६ ७३–७४, तैत्तिरीय ब्राह्मण २.६.२.१।

३. सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्।
पञ्चतन्त्र कथामुख श्लोक ६।

४. तैत्तिरीय ब्राह्मण २.६.२.१ पर सायण का भाष्य।

५. कुन्दमाला १.७। ६. विक्रमोर्वशीय ४.५६।

७. हनूमन्नाटक ५.३, हंसगतिः—विक्रमोर्वशीय ४.३०।

वे राजहंस की चाल से चलती हैं।[१] उर्वशी से वियुक्त पुरूरवा हंसी को लक्ष्य करके कहता है कि हे हंस! तुमने मेरी प्रिया को चुराया है, क्योंकि उसकी गति तुम्हारे पास है।[२] इसी गति के सादृश्य के कारण कवियों ने सुन्दरियों को राजहंसनियों के समान कहा है।[३]

हंसों के स्वरूप और व्यवहार भी उपमान के विषय बने। हंसों की पंक्ति जलाशय में तैरती ऐसी लगती है मानो उस जलाशय की करधनी हो।[४] हंस बहुपत्नीक पक्षी है, जो अपनी प्रियाओं से बहुत प्रेम करता है। हंस अपनी प्रिया कलहंसी के पीछे-पीछे घूमता हुआ उस रसिक के समान है, जो कि एक प्रिया के होते हुये भी अन्य प्रियाओं के पीछे घूमता है।[५] हंस क्योंकि वर्षा ऋतु आने पर भारतवर्ष से बाहर चले जाते हैं, अतः इनका सादृश्य पाण्डवों के अज्ञातवास से दिखाया गया है।[६]

कवियों ने हंस में देवत्व की भी कल्पना की थी। भगवान् विष्णु के अवतारों में से एक अवतार हंस भी है।[७] हंस को परम ब्रह्म का रूप भी माना गया है।[८] हंस की ब्रह्मा के वाहन के रूप में भी कल्पना की गई है।[९] इसको सरस्वती का भी वाहन माना गया है।[१०]

ग. जलचर जन्तु

जलचर जन्तु वे हैं, जो जल के भीतर रहते हैं। ये दीर्घकाल तक जल के भीतर रहते हैं और ऊपर भी तैरते हैं। इनको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वे जन्तु, जो जल के भीतर ही जीवित रह सकते हैं तथा जल के बाहर आने पर कुछ ही समय में उनकी मृत्यु हो जाती है, जैसे कि मछली। (२) वे जन्तु, जो अधिकतर जल में रहते हैं, परन्तु कुछ समय तक जल के बाहर भी रह सकते हैं, जैसे मगरमच्छ, कछुआ आदि। इन प्राणियों को श्वास लेने के

---

१. कर्पूरमञ्जरी ३.२३।

२. हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वया हृता। विक्रमोर्वशीय ४.३४।

३. रत्नावली २.६।

४. हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः। उत्तरमेघ श्लोक ३।

५. मृच्छकटिक पृ० ६२। ६. मृच्छकटिक ५.६।

७. मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः।
त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च यथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते।
श्रीमद्भागवत १०.३.४०।

८. हंस पदं परेशानि प्रत्यहं प्रजपेन्नरः।। राजबलि पाण्डे: हिन्दू धर्मकोश पृ० ६९७ से उद्धृत।

९. हिन्दूधर्मकोश पृ० ४५८। १०. हिन्दूधर्मकोश पृ० ६२३।

लिये जल से बाहर नासिका निकालनी पड़ती है। जलचर जन्तुओं का वर्णन वर्णक्रम के अनुसार किया जा रहा है।

६०. **कच्छप (कछुआ)**—

संस्कृत नाम—कूर्म, कमठ, कच्छप, स्तूपपृष्ठ

हिन्दी नाम—कछुआ

अंग्रेजी नाम—Tortoise; Turtle

लैटिन नाम—1. **Chelone mydas** (समुद्री कछुआ)

2. **Irionyx Gangeticus** (मीठे पानी का कछुआ)

3. **Testudo elegans** (भूमि का कछुआ)

कछुआ एक अति परिचित जन्तु है। यह नदियों, तालाबों, समुद्रों आदि सभी स्थानों पर मिलता है। सूखी भूमि पर भी होता है। कछुए के दो वर्ग हैं—समुद्री जल का और मीठे जल का। कछुए का माप उसके ऊपर के कड़े खोल से किया जाता है। यह ८–९ इंच से लेकर १५–१६ इंच तक होता है। समुद्री कछुआ ४ फीट तक का मिलता है।

कछुये का सारा शरीर एक अर्ध गोलाकार आवरण से ढका होता है। यह एक प्रकार का हड्डी का सा कठोर आवरण है, जो लाठी और बरछे के भी प्रहार को सहन कर सकता है। कछुये की गरदन लम्बी-लचीली होती है। माथे पर दो आँखों पर तीन पलकें होती हैं। मुख में दांतों के स्थान पर कड़ी हड्डी की प्लेट होती है, जिससे यह सरलता से मांस तक को काट देता है। कछुये के चार छोटे पैर होते हैं, जो कठिनाई से इसके भार को वहन कर सकते हैं। दुम छोटी होती है। खतरे का जरा सा भी आभास पाते ही कछुआ शरीर के सारे अङ्गों को कठोर आवरण में समेट लेता है। चलने पर वह गरदन और मुख को बाहर निकाल कर आँखों को टिमटिमाता है तथा पैरों को घिसटा-घिसटा कर आगे बढ़ाता है। उलटा हो जाने पर यह बेबस हो जाता है और गरदन निकालकर उसके सहारे सीधे होने का प्रयत्न करता है।

स्थली तथा समुद्री कछुए सामान्यतः शाकाहारी हैं, परन्तु मीठे पानी के कछुए मांसाहारी होते हैं।

संस्कृत नाटकों में कछुओं का वर्णन नदियों, जलाशयों और समुद्रों में हुआ है। राजशेखर के अनुसार समुद्र में प्रचुर संख्या में कछुये होते हैं।[1] शक्तिभद्र ने कछुये के स्वभाव का वर्णन किया है। खतरे का आभास पाते ही वह मुख को पीठ की मोटी खाल के भीतर छिपा लेता है। कभी-कभी थोड़ा सा बाहर निकालकर पलकें झपकाता है।[2]

---

१. बालरामायण पृ० ४१७।

२. दरोद्गीर्णमुख इव उन्मेषनिमेषान् कुर्वन्। आश्चर्यचूडामणि पृ० १०।

कछुये को कवियों ने उपमान भी बनाया है। इसकी पीठ की अत्यधिक कठोरता को कवियों ने कठोरता का उपमान कहा है।[1] गरदन निकाल कर इधर-उधर पलकें झपका कर देखने वाले की उपमा कछुये से दी गई है।[2] 'भगवद्गीता' में कहा गया है कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति इन्द्रियों को विषयों से इसी प्रकार संयमित कर लेता है, जैसे कि कछुआ अपने सभी अङ्गों को सिकोड़ लेता है।[3]

कवियों ने कच्छप में देवत्व की कल्पना भी की है। भगवान् विष्णु ने पृथिवी को धारण करने के लिये कच्छप रूप में अवतार लिया था।[4] पौराणिक विश्वासों के अनुसार कच्छप पृथिवी को धारण करता है।

६१. कर्कटक (कैंकड़ा)—

संतस्कृ नाम—कर्कटक, कुलीर, कुलीरक

हिन्दी नाम—कैंकड़ा

अंग्रेजी नाम—Crab

लैटिन नाम—**Coraaus sp.**

समुद्र-तटवर्ती लोगों के लिये कैंकड़ा अति परिचित है। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। इनमें अधिकांश समुद्री हैं। परन्तु कुछ मीठे जल में और कुछ सूखे में भी होती हैं। समुद्रों में ये जल में डूबी चट्टानों पर अथवा छिछले जल में निवास करते हैं।

गोल डब्बे के समान कैंकड़े के शरीर पर कठोर आवरण होता है। उसके १० (५ युगल) पैर होते हैं। आगे के भाग में चिमटे के आकार के दो पैर हाथों के समान रहते हैं। इनसे यह कड़ी वस्तुओं को भी पकड़कर तोड़ डालता है और खा जाता है। इसकी पकड़ बहुत मजबूत होती है। कैंकड़े की यह विशेषता है कि इन चिमटों और पैरों के कट जाने पर दूसरे उग आते हैं। अनेक बार ये अपने अङ्गों को सिकोड़ कर इस प्रकार पड़ जाते हैं, जैसे मर गये हों।

कैंकड़ा अण्डज जीव है। प्रारम्भ में बच्चों की शकल युवा कैंकड़े से भिन्न होती है। अनेक परिवर्तनों के बाद इसको अपनी आकृति प्राप्त होती है। अनेक जातियों के कैंकड़ों का मांस भोजनोपयोगी है। कैंकड़ा बड़ा क्रोधी जीव है। छेड़े जाने पर कर्कश ध्वनि करता है और चिमटों से वार करता है। ये आपस में लड़ते भी खूब हैं और दूसरों को मार कर खा जाते हैं।

---

१. हनूमन्नाटक १.६। २. आश्चर्यचूडामणि पृ० १०।
३. भगवद्गीता २.५८।
४. सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्। दध्रे कमठरूपेण पृष्ठे एकादशे विभुः। श्रीमद्भागवतपुराण १.३.१६।

संस्कृत नाटकों में कैंकड़े का वर्णन कम है। इसको कर्कशता का उपमान बनाया गया है। एक बूढ़े ब्राह्मण के कर्कश पैर कैंकड़े के समान थे।[१]

६२. **जलमातङ्ग—**

संस्कृत नाम—जलमातङ्ग, जलकुञ्जर
हिन्दी नाम—समुद्री हाथी
अंग्रेजी नाम—Dugong
लैटिन नाम—**Halicore sp.**

जन्तुविज्ञानियों का मत है कि किसी समय वर्तमान स्थल के हाथियों और समुद्री हाथियों के पूर्वज एक ही थे। इनमें से कुछ तो वर्तमान हाथियों के रूप में विकसित हो गये और कुछ भाग कर समुद्र में चले गये। यहाँ वे मछलियों के समान अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

समुद्री हाथी का ऊपर का आकार बहुत कुछ हाथी और गाय से मिलता है। यह दक्षिणी समुद्र में अधिक है। यह शाकाहारी है और समुद्र के अन्दर उगने वाली वनस्पतियों को खाकर जीवन-निर्वाह करता है। मादा एक बार में एक ही बच्चा जनती है और उसको दूध पिलाती है।

जलमातङ्गों का वर्णन अनेक कवियों ने किया है। हर्ष इनका रोचक वर्णन करते हैं—गर्जना करते हुये जलकुञ्जर अपनी सूंडों को जल से भर कर पटकते हैं।[२] वे समुद्रतटवर्ती लवङ्ग के पत्तों को खाकर सुगन्धित डकारों से समुद्री जल को सुगन्धित कर देते हैं।[३] शक्तिभद्र ने विशालकाय जलमातङ्गों का विवरण दिया है कि वे तिमिङ्गल नामक मत्स्य को भी निगल जाते हैं।[४] राजशेखर ने भी जलमातङ्गों के पराक्रमों का उल्लेख किया है।[५] कालिदास इनको समुद्र का नीला वस्त्र कहते हैं।[६]

६३. **जलमानुष—**

संस्कृत नाम—जलमानुष, जलमानव।
हिन्दी नाम—जलमानुष।
अंग्रेजी नाम—Manatee।
लैटिन नाम—**Irichechus sp.**

प्राचीन साहित्य में जल में रहने वाले मनुष्यों और कन्याओं के वर्णन मिलते हैं। कवियों और लेखकों ने समुद्र के जल में इस प्रकार के कुछ जन्तुओं को देखा

---

१. कठिनकूणितवृद्धकर्कटाकृतयः। धूर्तविटसंवाद ५.९३ ॥
२. नागानन्द ४.३। ३. नागानन्द ४.४।
४. आश्चर्यचूडामणि पृ० १३७। ५. बालरामायण
६. करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणाः। विक्रमोर्वशीय ४.५४ ॥

होगा, जो कुछ कुछ मानव की आकृति से मिलते होंगे। उनको उन्होंने वास्तविक मनुष्य समझ कर नाना प्रकार की कल्पनायें कर लीं। वे तो कल्पनायें ही होंगी। परन्तु समुद्रों में कुछ इस प्रकार के जन्तु अवश्य हैं, जिनकी आकृति मनुष्य से कुछ मिलती है। इसको अंग्रेजी में मनाती (Manatel) नाम दिया गया है।

मनाती के शरीर का ऊपरी भाग मनुष्य से बहुत कुछ मिलता है। इनकी मादायें जल में खड़ी होकर शिशुओं को स्तनों से दूध पिलाती हैं। किसी समय किसी लेखक या कवि ने इस प्रकार के दृश्य देखकर मत्स्य स्त्री और मत्स्य पुरुष की कल्पना कर ली होगी। राजशेखर ने जलमानुष का वर्णन किया है।[१]

६४. जलसर्प—

संस्कृत नाम—जलसर्प
हिन्दी नाम—पानी का सांप, पनिहा सांप
अंग्रेजी नाम—Water snake
लैटिन नाम—**Hydrophis sp.**

भारतवर्ष में अनेक जाति के जलसर्प हैं। ये जलीय स्थानों—नदियों, जलाशयों, दलदलों, समुद्रों आदि के तट के समीप जल में तैरते रहते हैं।

जलसर्प दो प्रकार के होते हैं—समुद्री और मीठे पानी के। समुद्री सर्प सभी विषैले और घातक हैं। मीठे पानी के घातक नहीं होते। ये प्रायः विषैले नहीं हैं। विषैला होने पर भी जल में काटने के कारण इनके विष का अधिकांश भाग जल में घुल जाने के कारण प्रायः घातक नहीं होता। जलसर्प सामान्यतः २–४ फीट लम्बा होता है। इसकी मादा बच्चे जनती है।

संस्कृत नाटकों में जलसर्प का वर्णन कम ही है। राजशेखर ने समुद्रों में जलसर्पों की उपस्थिति का वर्णन किया है।[२]

६५. प्रवाल (मूंगा)—

संस्कृत नाम—प्रवाल, विद्रुम
हिन्दी नाम—मूंगा
अंग्रेजी नाम—Coral
लैटिन नाम—**Corrolina sp; Coralluim rubrum**

समुद्री जीव प्रवाल की आकृति कुछ वृक्षों जैसी होती है। इसके शरीर में वृक्षों के समान शाखायें-प्रशाखायें बाहर निकलती हैं, जो पत्थर के समान कठोर और सुन्दर लाल रंग की होती हैं। इनके मध्य में छिद्र होता है। इन शाखाओं की गुरियें काट कर मालायें बनाई जा सकती हैं। प्रवाल भूमध्यसागर और एड्रियाटिक सागर में अधिक मिलते हैं।

---

१. बालरामायण पृ० ४१७।
२. बालरामायण पृ० ४१७।

प्रवाल उभयलिङ्गी जीव है। एक प्रवाल से दूसरा प्रवाल उत्पन्न होता है, जो अलग होकर नया प्रवाल बन जाता है। वृक्ष के आकार के इस जीव से शाखायें फूटने के कारण इसको प्रवालशाखा कहते हैं। अनेक बार एक प्रवाल में होने वाली वृद्धि अलग न होकर उसके शरीर में ही लगी रह जाती है तथा उसका आकार धीरे-धीरे बड़ा हो जाता है। अब यह प्रवालमूल कहलाता है। कभी-कभी ये प्रवालमूल प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं और दीर्घ अवधि के व्यतीत होने पर बड़ी चट्टानों और द्वीपों का रूप धारण कर लेते हैं। तब इनको प्रवाल-द्वीप (Coral island) कहा जाता है।

प्रवाल की गणना रत्नों में की गई है।[१] यह समुद्री पदार्थ है।[२] सुन्दर आकर्षक लाल रंग के कारण रमणीय लगता है।[३] कवियों ने उज्जयिनी के बाजारों में प्रवाल की बनी वस्तुओं के विक्रय का वर्णन किया है।[४] उत्तम प्रवाल पके बिम्ब-फल के समान लाल, कान्तिमान्, गोल या अण्डाकार, स्निग्ध और स्थूल होता है। यह टेढ़ा-मेढा या क्षतिग्रस्त नहीं होना चाहिये। इसका उपयोग चिकित्सा में तथा आभूषणों के निमित्त भी किया जाता है।[५]

प्रवाल का सुन्दर रक्त वर्ण कवियों को अति आकर्षक लगा था और उन्होंने इसको रमणियों के होठों का उपमान बनाया।[६] कुछ सुन्दरियों के होठ तो इतने लाल होते हैं कि उनके समक्ष विद्रुम भी श्वेत लगते हैं।[७]

१६. मकर (मगरच्छ)—

संस्कृत नाम—मकर, ग्राह, नक्र, कुम्भीर

हिन्दी नाम—मगरमच्छ, घड़ियाल

अंग्रेजी नाम—Crocodile

लैटिन नाम—1. **Crocodylus porosus** (मगरमच्छ)

2. **Gavialis Gangeticus** (घड़ियाल)

साहित्य में मगरमच्छ के लिये नक्र, मकर और ग्राह पदों का प्रयोग हुआ है। इनमें नक्र और मकर पर्यायवाची हैं। परन्तु ग्राह भिन्न जाति का है। 'अमरकोश' में भी इनको भिन्न माना गया है।[८] हिन्दी में नक्र तथा मकर को मगरमच्छ और ग्राह को घड़ियाल कहते हैं। परन्तु दोनों जातियों में आकृति का सादृश्य होने से इनको सामान्य जन एक ही समझ लेते हैं।

---

१. बालरामायण १.४२, बालभारत १.६।

२. बालरामायण ७.२६।

३. हनूमन्नाटक ३.२६।

४. दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान् विद्रुमाणां च भङ्गान्। पूर्वमेघ श्लोक ३४।

५. रसरत्नसमुच्चय ४.१८। ६. कौमुदीमहोत्सव ५.२६।

७. विद्धसालभञ्जिका ३.२७। ८. अमरकोश १.१०.२०–२१।

मकर और ग्राह जल-जन्तु होने पर भी जल और स्थल दोनों स्थानों पर रह लेते हैं। वे अधिक समय तक तो जल में रहते हैं, परन्तु श्वास लेने के लिये इनको जल से बाहर मुख निकालना पड़ता है। इनका मुख एक लम्बी थूथनी के समान होता है। जबड़े खोलने पर पंक्तिबद्ध आरेनुमा दान्तों की पंक्ति चमकती है। इसमें ये शिकार को पकड़ कर समूचा निगल जाते हैं। अनेक बार ये छोटे शिकारों को ही नहीं, बड़े जानवरों और मनुष्य तक को निगल जाते हैं। इनकी पाचन-शक्ति अति तीव्र है। ये निगले गये प्राणियों की अस्थियों तक को गला लेते हैं।

छिपकली के समान चार पैरों वाले मगर की पीठ की छाल शल्कयुक्त और कठोर होती है। पेट की खाल भी मजबूत होती है। इसके लिये इसका शिकार किया जाता है। इससे जूते, सूटकेस आदि बनाये जाते हैं। पूंछ दोनों ओर से चपटी, मजबूत और कांटेदार होती है। इससे यह घातक प्रहार करता है।

मगरमच्छ को दो विभागों में बांटा जा सकता है—समुद्री और मीठे पानी के। समुद्री मगरमच्छ अधिक विशाल आकार के होते हैं।

घड़ियाल (ग्राह) नदियों, जलाशयों आदि के मीठे पानी में रहते हैं। ये केवल भारतवर्ष में ही मिलते हैं। इनके गले की नलिका मगर की अपेक्षा छोटी होने से बड़े जन्तुओं को समूचा निगलने में असमर्थ रहती है। बड़े घड़ियाल २५–३० फीट तक लम्बे हो जाते हैं।

मादा मगर किसी सुरक्षित स्थान पर अण्डे देकर निश्चिन्त हो जाती है। परिपक्व होने पर अन्दर का शिशु अपने अण्डज दान्त से अण्डे के खोल को काटकर बाहर आ जाता है। अण्डों में से छिपकली से बच्चे निकलते हैं।

मगर में विशेष गन्ध की ग्रन्थियां होती हैं। ग्रन्थियों का एक युगल तो जबड़े के पास और दूसरा पेट के नीचे होता है। सुपारी के आकार की इन ग्रन्थियों में से कस्तूरी की तरह गन्ध आती है। प्रसिद्ध है कि यह बल्य और वृष्य है। परन्तु चिकित्सक इसको अन्धविश्वास ही मानते हैं।

संस्कृत नाटकों में मगर (मकर, नक्र और ग्राह) का प्रचुर उल्लेख है। जन्तुओं में इनकी गणना की गई है।[1] समुद्रों में विशालकाय मगर होते हैं, जो तिमिङ्गल नामक अति विशाल मत्स्य को भी खा जाने वाले जलमातङ्ग को निगल जाते हैं।[2] अत्यधिक शक्तिशाली नक्र पकड़ में आ जाने पर हाथी तक को खींच कर ले जाते हैं।[3] श्याम वर्ण ये नक्र समुद्र के नीचे वस्त्र से प्रतीत होते हैं।[4] भास ने वर्णन किया

१. हनूमन्नाटक ६.५, बालरामायण पृ० ४१७।
२. आश्चर्यचूडामणि पृ० १३७।
३. मालविकाग्निमित्र पृ० ५६।
४. करिमकराकुलकृष्णकमलकृतावरणाः। विक्रमोर्वशीय ४.५४।

है कि समुद्र का जल मकरों से भरा रहता है, जिससे यह नीला प्रतीत होता है।[1] श्रीहर्ष ने दक्षिणी समुद्र के नक्रों का मनोरम वर्णन किया है—समुद्र में रहने वाले मकर तटवर्ती लवङ्ग-पल्लवों को खाते हैं। इससे इनकी डकार सुगन्धित हो जाती है और उससे समुद्र का जल भी सुगन्धित हो जाता है।[2]

कवियों ने जलाशयों में भी मकरों की उपस्थिति का वर्णन किया है। यहाँ मकरों को क्रीड़ा करते देखा जा सकता है।[3] ये मांस-पिण्ड के लोभी होते हैं।[4] भास ने वर्णन किया है कि यमुना के ह्रद में रहने वाले मकर कालिय नाग के विष से मारे गये थे।[5]

प्राचीन मनीषियों ने मकर में देवत्व की भी कल्पना की थी। यह कामदेव का वाहन बना। कामदेव की ध्वजा पर मकर का चिह्न रहता है, अतः उसको मकर-केतन भी कहा गया है। मकर को समुद्र देवता का वाहन माना गया है। गंगा और यमुना की प्राचीन मूर्तियों में उनको मकर पर आसीन दिखाया गया।

६७. मण्डूक (मेंढक)—

संस्कृत नाम—मण्डूक, दर्दुर, भेक, प्लव, वर्णभू, शालूर, हरि

हिन्दी नाम—मेंढक, दादुर

अंग्रेजी नाम—Frog

लैटिन नाम—**Rana tigrina**

भारतीयों के लिये मेंढक अति परिचित जीव है। वर्षा ऋतु प्रारम्भ होते ही टर-टर ध्वनि करते हुये अनेक मेंढक चारों ओर दृष्टिगोचर हो जाते हैं। वर्षा के प्रारम्भ में विविध वर्ण के मेंढकों के सुन्दर दृश्य का चित्रण 'ऋग्वेद' के मण्डूक सूक्त में दिया गया है।[6] संस्कृत में इस जन्तु के लिये मण्डूक और दर्दुर पर्यायवाची हैं। परन्तु आधुनिक जन्तुविज्ञान की दृष्टि से ये भिन्न परिवार के हैं। इनके स्वरूप और आकृति में भी कुछ भेद होता है।

मेंढक जल में भी रहते हैं और सूखी भूमि पर भी। कुछ जातियों के मेंढक वृक्षों पर भी रहते हैं। परन्तु अधिकतर मेंढक जल में ही अण्डे देते हैं। अण्डों से बच्चों के निकलते समय इनकी आकृति नन्हीं मछली के समान होती है। अनेक परिवर्तनों के बाद मेंढक की आकृति बनती है।

मेंढक अनेक आकृतियों के छोटे-बड़े होते हैं। शरीर गठा, अगली टांगें छोटी

---

१. उद्गीर्णनक्राकुलनीलनीरसमुद्रम्। अभिषेक नाटक ५.१।
२. कवलितलवङ्गपल्लवकरिमकरोद्गारिसुरभिणा पयसा। नागानन्द ४.४।
३. वेणीसंहार ६.४०।
४. बालभारत १.२१।
५. बालचरितम् ४.८।
६. ऋग्वेद सातवां मण्डल १०३ सूक्त।

और पिछली लम्बी होती है । अगली टांगों में चार और पिछली में पांच अंगुलियां होती हैं । सिर तिकोना, आंखें उभरी हुई चमकीली, आँखों के नीचे कानों का गोल छेद, मुख बड़ा, दान्त केवल ऊपर के जबड़े में और जीभ दोहरी होती है । ग्रीवा नहीं होती । मेंढक की पसलियां भी नहीं होती ।

मेंढक शीतकाल में निरापद मिट्टी, पत्थर आदि के नीचे सुरक्षित स्थानों में गहरी निद्रा में सोये रहते हैं । वर्षा उनको अति प्रिय है । इस समय इनकी वंश-वृद्धि होती है । अनेक मेंढक विषैले होते हैं तथा इनके शरीर से विषैला द्रव स्रवित होता हैं ।

संस्कृत नाटककारों ने मेंढकों की उपस्थिति का वर्षा ऋतु में रोचक वर्णन किया है । वर्षा आरम्भ होते ही चारों ओर मेंढक टरटराते दृष्टिनोचर होते हैं । वे मानो कह रहे होते हैं कि मेघ देवता पृथिवी का स्मरण कर रहे हैं ।[1] शूद्रक ने वर्णन किया है—वर्षा ऋतु में कीचड़ से सने मुख वाले मेंढक वर्षा के जल का पान कर रहे हैं ।[2] मेंढक को सर्पों का प्रिय आहार कहा गया है ।[3]

कवियों ने मेंढक को उपमान भी बनाया है । जिस प्रकार टरटराने वाले मेंढक की अनर्गल टरटर की कोई परवाह नहीं करता, उसी प्रकार निरर्थक बहुत बोलने वाले व्यक्ति की भी कोई बात नहीं सुनता ।[4]

मत्स्य मछली—

संस्कृत नाटकों में अनेक जातियों की मछलियों का वर्णन हुआ है—शफर, पाठीन, शकुल, तिमि और तिमिङ्गिल । इनका विवरण क्रमशः दिया जा रहा है ।

६८. शफर—(रोहू)—

संस्कृत नाम—शफर
हिन्दी नाम—रोहू
अंग्रेजी नाम—Rohu
लैटिन नाम—**Labeo rohita**

संस्कृत नाटककारों ने बहुत सम्भवतः रोहू मछली को शफर कहा है । सुनहरे रंग की यह मछली लगभग एक फुट लम्बी होती है । मांस के लिये यह प्रसिद्ध है । जलाशयों में इसको शौक से पाला जाता है ।

संस्कृत कवि शफर के सौन्दर्य पर बहुत मुग्ध हुये थे । इन्होंने इसके सौन्दर्य

---

१. किं दर्दुराः व्याहरन्ति इति देवः पृथिवीं स्मरति ?
मालविकाग्निमित्र पृ० ११३ ।
२. पङ्कक्लिन्नमुखाः पिबन्ति सलिलं धाराहताः दर्दुराः ।
मृच्छकटिक ५.१४ ।
३. मण्डूकलब्धस्य सर्पस्य । मृच्छकटिक पृ० २१ ।
४. मालविकाग्निमित्र पृ० ११३ ।

और क्रीडा का वर्णन किया है। नदियों में भी प्रचुर संख्या में शफर मछलियां पाई जाती हैं।[1] इनको जलाशयों और वापिकाओं में भी पाला जाता है। श्रीहर्ष ने वर्णन किया है कि दीर्घिकाओं में उछलती मछलियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं, कि मानो जल उबल रहा हो।[2]

बड़े आकार की शफर मछली महाशफर हैं। बंगला में बड़ी रोहू महाशेर कहाती हैं। यह शब्द महाशफर का अपभ्रंश ही है। इसका मांस प्राचीन समय से ही बहुत पसन्द किया जाता रहा होगा। भास ने वर्णन किया है कि श्राद्ध के अवसर पर मछलियों में महाशफर अच्छी होती है।[3]

शफर के सौन्दर्य का कवियों ने विशेष वर्णन किया है। इसकी चञ्चल गतियों में युवतियों की चञ्चल दृष्टियों का साम्य होता है।[4] युवतियों की सुन्दर आँखों की उपमा शफरी मछली की आँखों से दी गई है।[5] युवतियों के कटाक्ष शफर-शिशु के नेत्रों के समान होते हैं।[6]

६६. पाठीन—

संस्कृत नाम—पाठीन, सहस्रसंख्य

हिन्दी नाम—पठिन

अंग्रेजी नाम—Fresh water shark

लैटिन नाम—**Wa-llago attu**

लगभग ५–६ फीट लम्बी पाठीन मछली का मुख चौड़ा और शरीर पतला होता है। सामान्यतः यह नदियों और जलाशयों में होती है। परन्तु राजशेखर ने इसका वर्णन समुद्रों में किया है।[7] 'अमरकोश' के अनुसार इसके मुख में दान्त बहुत संख्या में होते हैं, अतः इसको सहस्रसंख्य भी कहा गया है।[8] यह बड़े आकार की मछली छोटी मछलियों का शिकार करके अपने जीवन का निर्वाह करती है।

७०. शकुल (उड़न मछली)—

संस्कृत नाम—शकुल

हिन्दी नाम—उड़न मछली

अंग्रेजी नाम—Flying fish

लैटिन नाम—**Exococtus pecilopterus**

---

१. तपतीसंवरण ५.२।
२. प्रियदर्शिका १.१२।
३. मत्स्येषु महाशफरः। प्रतिमानाटक पृ० १३६।
४. चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि। पूर्वमेघ श्लोक ४४।
५. बालरामायण १०.८८। ६. विद्धसालभञ्जिका ४.१८।
७. बालरामायण पृ० ४१७।
८. सहस्रसंख्यः पाठीनः। अमरकोश १.१०.१८।

अमरकोशकार ने मछलियों के भेदों में शकुल को भी दिया है।[1] अति वेग-शाली होने से इसको यह नाम दिया गया था (शक्नोति अतिवेगेन गन्तुम्)। राजशेखर इसका वर्णन समुद्री जीवों में करते हैं।[2] सम्भवतः पंखों से युक्त (सपक्ष) मछलियों को राजशेखर ने शकुल कहा है। ये अपने पंखों के कारण अति वेग से गति कर सकती हैं। इनको उड़न मछली (Flying fish) कह सकते हैं।

७१. तिमि और तिमिङ्गिल —

संस्कृत नाम—तिमि, तिमिङ्गिल

हिन्दी नाम—ह्वेल

अंग्रेजी नाम—Rorquale; fin whale

लैटिन नाम— **Ba-laenopetra sp.**

तिमि विश्व का सबसे बड़ा जन्तु है, जो ९० फीट से अधिक लम्बा मिल सकता है। अरब सागर और बंगाल की खाड़ी में ये मत्स्य प्रचुर संख्या में हैं। तिमि की अधिक लम्बाई को देख कर ही कवियों ने अतिशयोक्ति के रूप में इसकी १०० योजन तक होने की कल्पना कर ली थी।[3]

आधुनिक जन्तुविज्ञानियों के अनुसार तिमि मछली जाति का जन्तु नहीं है। कभी किसी समय ये जीव सूखी भूमि पर रहते थे। किन्हीं कारणों से इन्होंने समुद्र को अपना घर बना लिया। लम्बे समय तक जल के भीतर जीवन व्यतीत करने के कारण उनका आकार मछली के समान हो गया। अगले पैर सुमनो (Fans) के रूप में बदल गये और पिछले पैर गायब हो गये। मादा तिमि बच्चों को जनती है और स्तनों से उनको अपना दूध पिलाती है। यह जन्तु जल के अन्दर श्वास नहीं ले सकता। प्राण वायु के लिये इनको अपनी नासिका के छिद्र बाहर निकालने पड़ते हैं, तथापि यह जल से बाहर सूखी जमीन पर जीवित नहीं रह सकता। यह अपने शरीर के भार के कारण ही दम घुट जाने पर मर जाता है।

तिमि मत्स्य पानी की सतह पर आकर जब श्वास छोड़ते हैं, तो कभी-कभी उनके नथनों से पानी की तीव्र धारा ऊपर को उठती है। इस समय यह पानी ऊपर को उछलता हुआ फव्वारा सा प्रतीत होता है। इसी दृश्य को देखकर कालिदास ने कल्पना की होगी कि तिमि मत्स्य के मस्तक में छेद होता है। वह जल पीकर मुख को बन्द करके इस छिद्र के द्वारा जल के फव्वारे को छोड़ता है।[4] राजशेखर ने समुद्र

---

१. अमरकोश १.१०.१९।

२. बालरामायण पृ० ४१७।

३. आश्चर्यचूडामणि पृ० १३७, हनूमन्नाटक ८.४७।

४. ससत्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात्।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरुर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान्॥
रघुवंश १३.१०।

में विशालकाय तिमि मत्स्यों का वर्णन किया है।[1] विशाखदत्त भी इनका उल्लेख करते हैं कि तिमि मत्स्य जल को सदा अन्दर से विलोडित करते रहते हैं।[2]

संस्कृत नाटककारों ने तिमि को भी निगल जाने वाले तिमिङ्गिल नामक विशाल मत्स्य का वर्णन किया है।[3] समुद्र में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को स्वाभाविक रूप से निगल जाती हैं। अतः छोटी तिमि को बड़ी तिमि द्वारा निगल जाना स्वाभाविक ही है। बहुत विशाल आकार की तिमि को देख कर उन्होंने तिमिङ्गिल (तिमि गिरति इति तिमिङ्गिरः तिमिङ्गिलः) कहा। इस तिमिङ्गिल मत्स्य को निगलने वाले अधिक विशाल आकार का मत्स्य तिमिङ्गिलगिल है।

मत्स्य का सामान्य वर्णन—

संस्कृत नाटकों में विशेष जाति के मत्स्यों के विशेष वर्णनों के अतिरिक्त मछलियों की कुछ सामान्य विशेषतायें भी कही गई हैं। मत्स्य की आँखों को ढकने के लिये पलकें नहीं होतीं। अतः वे अनिमेष नयनों से देखते हैं।[4] जलाशयों और समुद्रों में असंख्य मत्स्य भरे होते हैं। भास ने समुद्र के जल को असंख्य मछलियों से भरा हुआ वर्णन किया है।[5] जलाशय का जल विषाक्त होने पर मछलियाँ मर सकती हैं। यमुना के जल के कालिय नाग के विष से दूषित हो जाने के कारण वहाँ की मछलियाँ मर गई थी।[6]

कवियों ने मत्स्य को उपमान भी बनाया है। मत्स्यों के नयन सुन्दरियों के नयनों के प्रसिद्ध उपमान रहे। इसी कारण से स्वयं देवी पार्वती का नाम मीनाक्षी प्रसिद्ध हुआ। मछली का व्यवहार भी उपमान बना। जिस प्रकार मछली जल के बिना जीवित नहीं रह सकती, उसी प्रकार प्रेमिका भी अपने प्रिय के बिना जीवित नहीं रह सकती।

भारतीय मनीषियों ने मत्स्य देवत्व की भी कल्पना की है। वैदिक साहित्य में मनु-मत्स्य कथा है। प्रलय काल उपस्थित होने पर भगवान् ने मत्स्य के रूप में अवतार लेकर मनु की तथा सृष्टि के बीज-तत्वों की रक्षा की थी। विष्णु का प्रथम अवतार मत्स्यावतार प्रसिद्ध है।

---

१. बालरामायण ७.५३।

२. चटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानाम्। मुद्राराक्षस पृ० १०६।

३. हनूमन्नाटक ८.४७, आश्चर्यचूडामणि पृ० १३७।

४. अनिमेषनयनैः मीनाः। विक्रमोर्वशीयम् पृ० २०६।

५. क्वचिदपि मीनाकुलजलः। अभिषेक नाटक ४.१७।

६. बालचरितम् ४.८।

७२. वराट (कौड़ी)—

संस्कृत नाम—वराट, वराटिका, कपर्द, कपर्दिका, काकिणी
हिन्दी नाम—कौड़ी
अंग्रेजी नाम—Cowrie shell
लैटिन नाम—**Cypraea gracilis, Irivia monacha**

बाजार में उपलब्ध कौड़ी एक विशेष जलीय जन्तु का बाह्य-कवच है। कौड़ी अनेक जातियों की छोटी-बड़ी विविध रंगों की मिलती है। कौड़ी के सभी अंग ऊपर के खोल में छिपे रहते हैं। यह अपने निचले अंगों से चलती है। थोड़ा-सा भी खतरे का आभास पाते ही यह अपने सारे अंगों को खोल में छिपा लेती है।

कौड़ी की गणना रत्नों में की जाती है। समुद्र कौड़ी अधिक बड़े आकार की ३–४ इंच तक की होती है। इसकी पीठ पर रंगीन चित्तियाँ रहती हैं।

भारतवर्ष में कौड़ी (काकिणी) का प्रयोग बहुत समय तक सिक्कों के रूप में किया जाता रहा है।[1] महिलायें इनको आभूषणों के रूप में भी धारण करती रहीं। कौड़ी (कपर्द) भवानी देवी का भी प्रिय आभूषण रहा।[2] इसका आयुर्वेद चिकित्सा में भी प्रचुर प्रयोग किया जाता है।

७३. शङ्ख—

संस्कृत नाम—शङ्ख, कम्बु, कम्बोज, पावनध्वनि, मुखर
हिन्दी नाम—शङ्ख, घोंघा
अंग्रेजी नाम—Whelk
लैटिन नाम—**Buccinum undatum**

हिन्दू मन्दिरों में बजाया जाने वाला शङ्ख एक जलीय जन्तु विशेष का बाह्य-कवच है। समुद्रों में विविध जातियों तथा रंगों के शङ्ख मिलते हैं। शङ्ख का सारा शरीर उसके बाह्य-कवच में छिपा रहता है। यह अपने निचले भाग से कछुए के समान चलता है। गति अति मन्द होती है। खतरे का आभास पाते ही यह अपने सारे अंगों को सिकोड़ लेता है। मादा शङ्ख एक बार में हजारों अण्डे देती है। परन्तु इनमें से कुछ ही शङ्ख बन पाते हैं। पहले निकलने वाले बच्चे शेष अण्डों को खा जाते हैं।

शङ्ख की गणना रत्नों में की गई है। कालिदास ने वर्णन किया है कि उज्जयिनी के बाजारों में अन्य रत्नों के साथ शङ्ख भी बिकते थे।[3] कवियों ने समुद्रों में

---

१. काकिणीमात्रपण्या। पादताडितक श्लोक ९४।
२. कौमुदीमहोत्सव ५.८।
३. हारांस्तारांस्तरलगुटिकान् कोटिशः शङ्खशुक्तीन्। पूर्वमेघ श्लोक ३४।

शङ्खों की उपस्थिति का वर्णन किया है।[1] भास के अनुसार समुद्र शङ्खों से भरे हुये थे।[2] समुद्र की तटवर्ती भूमियों पर शङ्खों को विचरते हुये देखा जा सकता था। समुद्र में ज्वार आने के बाद जब जल उतरता है तो तट पर शङ्ख बिखरे हुये देखे जा सकते हैं। बाजार में बिकने वाला शङ्ख इसी समुद्री जन्तु शङ्ख (घोंघा) का बाह्य कवच है।

शङ्खों की ध्वनि को मंगलसूचक माना गया था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये और विविध संस्कारों के अवसरों पर शङ्ख बजाये जाते थे। प्राचीन समय में नगरों में समय की सूचना देने के लिये शङ्ख-ध्वनि की जाती थी।[3]

लघु उद्योगों में शङ्ख के भी उपयोगों का वर्णन किया गया है। शङ्ख को खराद पर चढ़ा कर इसकी चूड़ियाँ काटी जाती थी।[4] ये चूड़ियाँ महिलाओं में लोकप्रिय थीं। इन चूड़ियों का पहनना मंगलसूचक माना जाता था। शङ्खों का उपयोग आयुर्वेद-चिकित्सा में भी है। इसकी भस्म उदररोग में उपयोगी है।

कवियों ने शङ्ख को नारी-सौन्दर्य का उपमान भी बनाया है। युवतियों के सुन्दर कण्ठ की उपमा शङ्ख से दी गई है।[5]

७४. शुक्ति (सीपी)—

संस्कृत नाम—शुक्ति, मुक्ताशुक्ति, मुक्तास्फोट, मौक्तिकप्रसवा
हिन्दी नाम—सीपी
अंग्रेजी नाम—Pearl oyster; Indian oyster
लैटिन नाम—**Meleagrina sp. (Pearl oyster)**
Ostrea sp. (Indian oyster)

शुक्ति सामान्यतः गरम समुद्रों में पाई जाती हैं। बाजार में मिलने वाली सीपी इस शुक्ति नाम के समुद्री जन्तु का बाह्य-कवच है। इस बाह्य-कवच के अन्दर के पार्श्व में मोती के समान चिकना स्तर होता है। यह मुक्तास्तर कहलाता है। इन शुक्तियों मोती प्राप्त होते हैं। किसी प्रकार का खतरा उपस्थित होने पर शुक्ति नाम का यह जन्तु अपने अङ्गों को कठोर बाह्य-कवच में छिपा लेता है।

प्राचीन विवरणों के अनुसार स्वाति नक्षत्र में सूर्य के पहुँचने पर मेघों के बरसते हुये जल-बिन्दुओं को पीकर शुक्ति इनको मोतियों के रूप में परिवर्तित करती है।[6] परन्तु आधुनिक विज्ञान इस कथन को स्वीकार नहीं करता। सीपी में मोती बनने की प्रक्रिया इस प्रकार है—

---

१. बालरामायण पृ० ४१७।
२. क्वचिच्छंखाकीर्णः। अभिषेकनाटक ४.१७।
३. मालतीमाधव २.१२। ४. पादताडितक श्लोक २८।
५. कम्बोर्विडम्बनकरश्व स एव कण्ठः। विद्धसालभञ्जिका १.२८।
६. बालरामायण पृ० ८१।

जब किसी विजातीय द्रव्य का कण शुक्ति के बाह्यकवच में घुस जाता है तो शुक्ति के शरीर से एक विशेष प्रकार का द्रव स्रवित होकर उस कण के चारों ओर लिपटने लगता है। यह द्रव ही सूख कर मोती का रूप ले लेता है। इसी प्रक्रिया को समझ कर कृत्रिम रूप से मोती प्राप्त करने की तकनीक का विकास हुआ है। जापान में इसका काफी प्रचार हुआ है। वहां सीपियां पाली जाती हैं। सीपी के बाह्य-कवच के ढक्कन को खोल कर उसके भीतर बारीक कण डाल देते हैं। उसके चारों ओर मुक्ता-द्रव लिपटने लगता है। इसप्रकार मोती अधिक सुडौल और बड़े होते हैं। परन्तु इनका मूल्य प्राकृतिक मोतियों से कम रहता है।

शुक्ति की गणना रत्नों में की गई है, जो कि वास्तव में शुक्ति नामक जन्तु का बाह्य-कवच है। कालिदास ने उज्जयिनी के बाजारों में शुक्तियों के बिकने का संकेत दिया है।[1] राजशेखर समुद्र में शुक्तियों की उपस्थिति का वर्णन करते हैं।[2] शुक्तियों को विशेष विधि से चीर कर मोती निकाले जाते हैं।[3] ये शुक्ति ही एकमात्र मोतियों की उपलब्धि के स्रोत हैं।[4]

राजशेखर वर्णन करते हैं, जिस प्रकार आँखों के सम्पुट से अश्रु निकलते हैं, उसी प्रकार शुक्ति के सम्पुट से मोती निकलते हैं।[5]

भारतीय साहित्य में तथा लोक में शुक्ति से प्राप्त मुक्ता (मोती) की बहुत महिमा है। यह सुन्दर मूल्यवान् रत्न है। इसकी मालायें आभूषण के रूप में बहुत लोकप्रिय रही हैं। मोती को वेध कर उसकी मालायें बनाई जाती हैं।[6] राजशेखर ने एक मुक्तामाला का मूल्य एक करोड़ स्वर्ण तक बताया है।[7]

शुक्ति तथा उससे उपलब्ध मुक्ता का उपयोग चिकित्सा में अति प्राचीन काल से होता आ रहा है।

शुक्ति का कवियों ने उपमान के रूप में भी उपयोग किया है। शुक्ति से मोतियों के निकलने का साम्य आँखों से अश्रुओं के निकलने में दिखाया गया है। शुक्ति से प्राप्त मुक्ता स्वच्छ सौन्दर्य का प्रसिद्ध उपमान है।

घ. सरीसृप

पृथ्वी पर रेंग कर चलने वाले जन्तु सरीसृप कहलाते हैं। इस वर्ग में विविध प्रकार के सांप आदि रखे जाते हैं। इनको हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं—पैरों वाले, जैसे कि गिरगिट, छिपकली आदि और बिना पैरों के, जैसे कि सर्प आदि। वस्तुतः सरक कर चलने वाले सर्प आदि को ही सरीसृप मानना चाहिये। तथापि

---

१. हारांस्तारांस्तरलगुटिकान् कोटिशः शंखशुक्तीन्। पूर्वमेघ श्लोक ३४।
२. बालरामायण पृ० ४१७।
३. कर्पूरमञ्जरी पृ० १५७, विद्धसालभञ्जिका पृ० ३०।
४. विद्धसालभञ्जिका पृ० ३०। ५. विद्धसालभञ्जिका २.१५।
६. कर्पूरमञ्जरी पृ० १५७–१५८। ७. कर्पूरमञ्जरी ३.५।

गिरगिट, चूहा आदि को भी इसी वर्ग में इसलिये सम्मिलित कर लिया गया है, क्योंकि पैरों के बहुत छोटा होने के कारण अपने लम्बे शरीर को ये भूमि के समानान्तर करके चलते हैं।

७५. अजगर—

संस्कृत नाम—अजगर, शयु, वाहस
हिन्दी नाम—अजगर
अंग्रेजी नाम—Indian python
लैटिन नाम—**Python molurus**

अजगर एक विशालकाय सर्प ही है। यह सारे भारतवर्ष में मिलता है। सामान्य रूप से यह ८–१० फीट लम्बा होता है। परन्तु २० फीट से भी अधिक लम्बे अजगर पाये गये हैं। वनों में ये जल के स्थानों के समीप रहना पसन्द करते हैं। जल के अन्दर रहना भी इनको पसन्द है। ये कुशल तैराक और डुबकी लगाने वाले हैं। वृक्षों पर सरलता से चढ़ जाते हैं। अनेक बार ये पूंछ से वृक्ष की डाल को पकड़ कर मुख को नीचे लटका लेते हैं तथा नीचे से गुजरने वाले छोटे जन्तुओं को पकड़ कर निगल जाते हैं।

अजगर मांसभोजी सर्प है, जो पक्षी से लेकर हरिण जैसे बड़े जन्तु तक को निगल जाता है। अनेक दिनों तक यह उस शिकार को काहिल पड़ा हुआ पचाता रहता है। इसमें विष नहीं होता। यह शिकार को अपने गुंजलक में भी फंसा कर मार डालता है। मादा अजगर एक बार में ८–१० तक अण्डे देती है। पैदा होते समय इसके बच्चे दो फीट या इससे भी अधिक लम्बे हो सकते हैं।

संस्कृत नाटकों में कुछ स्थानों पर अजगर का उल्लेख हुआ है। भवभूति वर्णन करते हैं कि वनों में पुराने चन्दन वृक्षों के कोटरों के अन्दर अजगर सरकते हुये देखे जा सकते थे।[1] ग्रीष्म ऋतु में वृक्षों से लिपटे हुये अजगरों के शरीरों से पसीना टपकता रहता है। प्यासी गिरगिटें उसी को पीकर अपनी प्यास बुझा लेती हैं।[2]

७६. अहि (सांप)—

संस्कृत नाम—सर्प, भुजंग, भुजङ्गम, भुजग, अहि, आशीविष, विषधर, सरीसृप, चक्षुःश्रवा, फणी, दर्वीकर, उरग, पन्नग, भोगी, जिह्मग, पवनाशन, गूढपात्, व्याल, कुण्डलिन्, दंष्ट्री, द्विजिह्व।

---

१. चलदजगरघोरकोटराणा द्युतिमिह दग्धपुराणरोहिणानाम्।
मालतीमाधव ५.१५।

२. सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकेरजगरस्वेदद्रवः पीयते। उत्तररामचरित २.१६॥

हिन्दी नाम—सांप

अंग्रेजी नाम—Snake

लैटिन नाम—Bungarus fasciatus (पट्टित करैत-Bandid krait)
Bungarus Coeruleus (काला करैत-Indian krait)
Viper russelli (रसल वाइपर-Russel's vipur)
Ancistrodon himalayans (पिट वाइपर-Pit viper)
Eryx johnii (दुमुही-डुण्डुभ)

सर्प सारे विश्व में पाये जाते हैं। इनकी लगभग १५००० जातियाँ हैं। इनको ६ वर्गों में विभक्त किया गया है। भारतवर्ष में सभी वर्गों के सर्प मिलते हैं।

सामान्यत: सर्पों को दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है—विषैले और विषरहित। सर्पों की अधिकांश जातियाँ विषरहित हैं। विष-ग्रन्थियाँ कुछ ही जाति के सर्पों की होती है, जिनके काटने से मृत्यु हो सकती है। सर्पों की कुछ जातियाँ—नाग, महानाग, धामन, डबोया आदि इतनी भयानक और विषैली हैं। कि इनके विष का अल्प अंश ही घातक होता है।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिकों और आधुनिक वैज्ञानिकों ने सर्पों का वैज्ञानिक रूप से वर्गीकरण किया है। 'सुश्रुतसंहिता' में विषैले सर्पों के चार भेद कहे गये हैं। ये हैं—दर्वीकर, मण्डलिन्, राजिमन्त् और वैकरञ्ज। राजशेखर ने सर्पों के १८ प्रसिद्ध कुलों का वर्णन किया है।[1] हनूमन्नाटक में आठ प्रकार के सर्प कहे गये हैं—नाग, सर्प, उरग, आखुभुक्, दन्दशूक, मायिकामृत और पालेयशेष।[2] शूद्रक डुण्डुभ नामक सर्प का उल्लेख करते हैं। यह सभी सर्पों में हीन कोटि का होता है।[3]

आधुनिक विज्ञान के अनुसार बिषैले सर्पों के तीन भेद हैं—हाइड्रोफिडी, एलापिडी और वाइपरिडी। हाइड्रोफिडी के अन्तर्गत सामान्यत: जलसर्प हैं। एलापिडी में करैत, पट्टित करैत, काला करैत, नाग और नागराज प्रमुख हैं। ये अत्यधिक विषैले हैं। इनकी मादायें अण्डे देती हैं। वाइपरिडी के दो परिवार हैं—पिट वाइपर और पिटविहीन वाइपर। इनके पुन: अनेक भेद होते हैं। इनकी मादायें बच्चे जनती हैं। इनमें पिट वाइपर सर्प अधिक जहरीले होते हैं।

संस्कृत नाटककारों ने सर्पों के इनके भेदों की अधिक परवाह नहीं की है और सभी प्रकार के सर्पों को एक सा ही वर्णित किया है। ये सर्प पतले, गोल तथा लम्बे होते हैं। आगे मुख, बीच में धड़ और पीछे पूंछ होती है। सरक कर गति करने के कारण इनको सरीसृप और वक्ष के बल सरकने के कारण उरग (उरसा

---

१. बालरामायण पृ० ५०१। २. हनूमन्नाटक १.६।

३. सर्वनागानां मध्ये ड़िण्डिभ:। मृच्छकटिक पृ० ११२।

गच्छति इति उरगः) कहा गया है।[1] पतजलि ने सर्प की गति को सृप्त कहा है।[2] तेजी से सरकने में सर्प निपुण होता है।[3] यह खतरा होने पर तुरन्त ही सरक कर बिल में चला जाता है।[4] यद्यपि सर्प के पैर नहीं होते, तथापि इसकी गति को देखकर कल्पन की गई कि इसके पैर त्वचा के अन्दर छिपे रहते हैं। अतः सर्प का एक नाम गूढ़पाद भी हुआ।

सर्प कभी सीधी गति से नहीं चलता। इसकी गति आड़ी-तिरछी कुटिल होती है। अतः इसको भुजग[5], भुजङ्ग और भुजङ्गम कहा गया है (भुजं कुटिलं गच्छति इति सः)। इसी कारण इसको काकोदर[6] (काकं कुटिलगतिशालि उदर यस्य सः) नाम दिया गया।

सर्प की गति इस प्रकार की होती है—सर्प के पेट के नीचे पतली और लम्बी मांसपेशियाँ पसलियों के किनारों से जुड़ी रहती हैं। पसलियों में हरकत होने पर ये मांस-पेशियां सिकुड़ती और फैलती हैं। इससे सर्प का शरीर भूमि से रगड़ता हुआ आगे की ओर कुटिलाकार बढ़ता है।

सर्पों की जीभ बीच में से चिरी हुई होती है। अतः इसको द्विजिह्व कहा गया है। लपलपाती हुई यह लम्बी जीभ भय उत्पन्न करती है। सर्प के कान नहीं होते, केवल आँखें होती हैं। साहित्यिक अनुश्रुतियों के अनुसार सर्प अपनी आँखों से ही देखने और सुनने के दोनों कार्य कर लेता है। इसलिये इसको चक्षुःश्रवा कहा गया।[7] वास्तव में सर्पों में सुनने की शक्ति नहीं होती। वे अनुभव-शक्ति से युक्त त्वचा से ही दूर-दूर तक आहार की उपस्थिति का अनुभव कर लेते हैं। लोक में जो यह प्रसिद्ध है कि सपेरे की बीन की मधुर ध्वनि पर सर्प फण हिला कर झूमता है, यह असत्य है। वस्तुतः सपेरे द्वारा बीन की तूम्बी से छेड़े जाने पर सर्प उस पर वार करना चाहता है। परन्तु सपेरे द्वारा तूम्बी को मुख के साथ हिलाते रहने पर वह भी उसी दिशा में अपने फण को हिलाता है।

सर्प का एक नाम फणी है। परन्तु प्रत्येक सर्प में यह फण नहीं होता। यह केवल एलापिडी परिवार की नाग जाति (Colubridae) के सर्पों में ही होता है।

सर्प कैंचुली भी छोड़ता है। सर्प, छिपकली आदि जन्तु अपने शरीर के ऊपरी आवरण को प्रायः छोड़ते रहते हैं। छिपकली अपने कैंचुल को तुरन्त खा जाती है, अतः यह दिखाई नहीं पड़ता। सर्प के कैंचुल प्रायः मिल जाते हैं। संस्कृत

१. मतविलास पृ० ३४।
२. पाणिनीय अष्टाध्यायी २.३.६७ पर महाभाष्य।
३. सर्पणे पन्नगः। मृच्छकटिक ३.२०॥
४. महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टः। विक्रमोर्वशीयम् १.१९॥
५. स्वप्नवासवदत्तम् ५.२। ६. स्वप्नवासवदत्तम् पृ० १७२-१७३।
७. नैषधीयचरितम् १.२८।

कवियों ने इनका मनोरम वर्णन किया है। विशेष समय में उनकी त्वचा का पुराना आवरण उतर कर पृथक् हो जाता है।[१] इससे सर्प का शरीर अधिक चमकीला और निर्मल हो जाता है।[२] कालिदास ने वर्णन किया है कि मारीच के तपोवन में एक तपस्वी के वक्ष पर सर्प की कैंचुली लिपटी हुई थी।[३]

सर्पों के भोजन के सम्बन्ध में भी अनेक कल्पनायें की गई हैं। कहा गया है कि सर्प वायु का भक्षण करके भी जीवित रहते हैं। यह असत्य है। वास्तव में सर्प का भोजन कीड़े, मेंढक, पक्षी, मछलियाँ, अण्डे आदि हैं। यह अन्य छोटे सांपों को खाने में भी नहीं चूकता। मूषक और मेंढक तो इसके अति प्रिय आहार हैं।[४] परन्तु सर्प का भोजन स्वल्प ही है। एक बार भोजन करने के पश्चात् उसको बहुत समय तक भोजन करने की आवश्यकता नहीं रहती, अतः इसके वायु भक्षी प्रसिद्ध हो जाने की बात आश्चर्यजनक नहीं है। सर्प अपने शिकार को समूचा ही निगल जाते है। इसको ये सरलता से पचा लेते हैं।

सर्पों के युगल रूप में रहने के विवरण मिलते हैं। नर और मादा एक दूसरे से बहुत प्रेम करते हैं। नर को मारने वाले व्यक्ति से मादा अवश्य बदला लेने का प्रयत्न करती है।[५] वह उत्पीड़ित होने पर भी अवश्य बदला लेती है। कुछ न कर पाने पर छटपटाती है। भास ने रावण द्वारा पकड़ी गई सीता की उपमा छटपटाती सर्पिणी से दी है।[६]

सन्तान को उत्पन्न करने की दृष्टि से सर्प दो प्रकार के हैं। कुछ मादा सर्प अण्डे देती हैं। इस वर्ग में एलापिडी वर्ग के सर्प हैं। वाइपरिडी वर्ग की सर्प-मादायें बच्चे उत्पन्न करती हैं। मुरारि ने मादा सर्प का गर्भाधान काल वर्षा ऋतु बताया है।[७] सर्प-विज्ञान के अनुसार सर्प-युगल जुलाई-अगस्त में सम्भोग करते हैं और मादा सर्पिणी अगले जून में सन्तान उत्पन्न करती है।

सर्प उन स्थानों पर रहना पसन्द करते हैं, जहाँ मनुष्यों की आबादी न हो या कम हो। ग्राम, तपोवन आदि स्थानों पर वे मिल जाते हैं और भूमि के अन्दर

---

१. निर्मुच्यमान इव जीर्णतनुर्भुजङ्गः। मृच्छकटिक ३.४, चारुदत्त ५.५ ॥
२. निर्मुच्यमानभुजगोदरनिर्मलस्य। स्वप्नवासवदत्तम् ४.२ ॥
३. संदष्टसर्पत्वचा। अभिज्ञानशाकुन्तल ७.११ ॥
४. मण्डूकलुब्धस्य कृष्णसर्पस्य मूषिक इव। मृच्छकटिक पृ० २२ ॥
५. मालतीमाधव ६.१।
६. विचेष्टमानेव भुजङ्गमानाङ्गना। प्रतिमानाटक ६.२ ॥
७. अभिनवघनव्यूढोरस्कः प्रवर्षति माल्यवान्।
विषधरवधूगर्भाधनप्रियंकरणीरूपः। अनर्घराघव ५.२१ ॥

बिल बना कर रहते हैं।[१] कवियों ने वनों[२] और पर्वतों[३] में सर्पों के रहने का वर्णन किया है। माल्यवान् पर्वत सर्पों से भरा हुआ था।[४] युद्ध से ध्वंस्त नगरों में सर्प घूमते दृष्टिगोचर होते थे।[५] मलय पर्वत की भूमियों में सर्प प्रचुर थे। चन्दन वृक्षों के सर्पों के विशेष सम्बन्धों की बात कही गई है। चन्दन की सुगन्धि सर्प को विशेष रूप से आकृष्ट करती है और वे इस पर लिपटे रहते हैं।[६] कालिदास कल्पना करते हैं कि कृष्ण सर्प का शिशु लिपटने से चन्दन दूषित हो जाता है।[७] तपोवनों में भी सर्प रह सकते हैं। परन्तु वे किसी को हानि नहीं पहुँचाते।[८]

कवियों ने सर्प की भयानकता का वर्णन किया है। यद्यपि अधिकांश जातियों के सर्प विषैले नहीं हैं और वे हानि नहीं पहुँचाते, तथापि सर्प को देखते ही भय का भाव उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य-सामान्य के लिये यह पहचानना कठिन है कि कौनसा सर्प विषैला है और कौनसा विषरहित है।

विषैले सर्प का फण भयानक होता है। इसकी श्वास के विष के कारण लपटें सी उठती हैं।[९] उस काल भुजङ्ग के काटने पर जीवित बचना कठिन ही है।[१०] सर्पों में काला सर्प अधिक खतरनाक समझा जाता था। एक काले सर्त ने वृक्ष के कोटर से निकल कर रोहिताश्व को डस लिया था, जिससे उसकी मृत्यु हो गई।[११] सर्प सामान्यतः चोट नहीं करता, परन्तु छेड़े जाने और चोट खाने पर फण खड़ा करके प्रहार करता है।[१२] धर्षित होने पर वह काटने के लिये फण को उठाता है।[१३]

सर्प के साथ कुछ जन्तुओं का स्वाभाविक वैर लोक में प्रसिद्ध है। कवियों ने नेवले और मोर के साथ वैर का संकेत दिया है। सर्प की अपेक्षा नेवला अधिक शक्तिशाली होता है और सर्प के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है।[१४] मयूर के लिये

---

१. विक्रमोर्वशीय १.१९। २. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०।
३. आश्चर्यचूडामणि ५.९। ४. अनर्घराघव ४.१९।
५. हनूमन्नाटक पृ० ६८–७०।
६. उत्तररामचरित २.२९, कौमुदीमहोत्सव ३.१०।
७. कृष्णसर्पशिशुनेव चन्दनम्। अभिज्ञानशाकुन्तल ७.१८।
८. सुभद्राधनञ्जय १.९।
९. स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः। उत्तररामचरित २.१६।
१०. नन्दकुलकालभुजगीम्। मुद्राराक्षस १.९।
११. चण्डकौशिक पृ० १५७।
१२. विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते। अभिज्ञानशाकुन्तल ६.३१।
१३. भुजगमिव सरोष धर्षित चोच्छ्रित च। प्रतिज्ञायौगन्धरायण ४.१३।
१४. वेणीसंहार पृ० ५४।

सर्प एक प्रिय भोजन है। मयूरों का भक्ष्य होने से सर्प उससे डरते हैं। भवभूति ने मयूरों के कूजन से भयभीत सर्पों के वृक्षों पर सरकने का वर्णन किया है।[1]

कवियों ने सर्प के सौन्दर्य का भी वर्णन किया है। वह सुन्दरियों की वेणी के समान सुन्दर लगता है।[2] कवियों को कैंचुली छोड़ने वाले सर्प की त्वचा बहुत सुन्दर लगी थी, जो शरत्कालीन आकाश के समान निर्मल होती है।[3]

रज्जु में सर्प की भ्रान्ति का उदाहरण भारतीय दर्शन साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। झुट-पुटे अन्धकार में हिलती हुई रस्सी को देख कर सर्प की भ्रान्ति हो जाती है। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति का उल्लेख भास और कालिदास ने किया है। भूमि पर पड़ी हुई तथा वायु से हिलती हुई पुष्पमाला में सर्प की भ्रान्ति हो सकती है।[4] अन्धे व्यक्ति के सिर पर यदि कोई पुष्प-माला भी डालता है तो वह उसको सर्प समझ कर फैंक देता है।[5]

सर्प का खेल भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से प्रचलित है। सपेरे (आहितुण्डिक) जीविका के सम्पादन के लिये सर्प का खेल दिखाते थे। 'मुद्राराक्षस' नाटक में राक्षस ने अपने एक विश्वस्त गुप्तचर विराधगुप्त को सपेरे के वेश में कुसुमपुर भेजा था, जिससे कि वह वहाँ के समाचार ला सके। उसके द्वारा कवि ने मन्त्रों के प्रयोग से सर्पों को वश में करने का वर्णन किया है। मन्त्र द्वारा सर्प की गति को अवरुद्ध किया जा सकता है। इस प्रकार सर्प को कीलित कर देने पर अपने स्थान से हिल नहीं सकता।[6] जो व्यक्ति सर्पों को वश में करने के मन्त्र जानते हैं, वे ही उनको पकड़ कर पाल सकते हैं। सर्प के चारों ओर मण्डल बना कर इन मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है।[7] सपेरों द्वारा पकड़े गये सांप भी अनेक बार स्वतन्त्र होकर इधर-उधर घूमने लग सकते है।[8]

---

१. एतस्मिन् प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितैः
उद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः।
उत्तररामचरित २.२९।

२. बालरामायण ५.७०। ३. स्वप्नवासवदत्तम् ४.२।

४. मन्दानिलेन निशि या परिवर्तमाना।
किञ्चित् करोति भुजगस्य विचेष्टितानि। स्वप्नवासवदत्त ५.३।

५. स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया। अभिज्ञानशाकुन्तल ६.२४।

६. मन्त्रावरुद्ध इव भुजङ्गमः। धूर्तविटसंवाद पृ० ८१।

७. जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति।
ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति। मुद्राराक्षस २.१।

८. निरोधमुक्ता इव कृष्णसर्पा इतस्ततो निर्धावन्ति।
प्रतिज्ञायौगन्धरायण पृ० ११०।

कवियों ने सर्पदष्ट की चिकित्सा के सम्बन्ध में भी कुछ संकेत किया है। सर्प के काटने पर दष्ट स्थान से कुछ ऊपर बन्धा बाँध देना चाहिये। 'मालविकाग्निमित्र' में घटना है कि विदूषक ने सर्पदष्ट का बहाना करके अंगूठे पर यज्ञोपवीत बाँध कर चिल्लाना आरम्भ कर दिया था।[१] सर्प द्वारा काटे जाने पर सावधानी के लिये तीन उपाय किये जा सकते हैं—दष्ट स्थान को काट देना, जला देना अथवा रक्त-मोक्षण करना।[२]

कवियों ने सर्प के स्वभाव, आकार और व्यवहार तथा स्वभाव का भली-भाँति अध्ययन किया था और इनके आधार पर उसको उपमान के रूप में प्रयोग किया था। कवियों को केंचुली छोड़ देने वाले सर्प की त्वचा अति सुन्दर प्रतीत हुई थी। उसको उन्होंने शरद् ऋतु के मेघमुक्त उज्ज्वल आकाश का उपमान बनाया है।[३] रमणियों की सुन्दर बंधी वेणी में सर्प का सौन्दर्य प्रतीत हुआ था।[४]

सर्प बन्धन में पड़ कर अति उत्तेजित हो जाता है और स्वतन्त्र होते ही चारों ओर भागता है। वह उस पराक्रमी पुरुष के समान है, जो किन्हीं कारणों से नियन्त्रित होने से कुछ कार्य करने के लिये कसमसाता रहता है तथा स्वतन्त्र होते ही कार्य सम्पादन के लिये चल पड़ता है।[५] सर्प के लिये प्रसिद्ध है कि भूमि में गड़ी हुई प्राचीन निधि की रक्षा करता है अतः सुन्दर वस्तुओं पर अधिकार करके किसी को जो उसका उपयोग नहीं करने देते, वे मनुष्य उन सापों के समान होते है।[६]

सांपों की दुष्टता, क्रूरता तथा बदला लेने की प्रवृत्ति को कवियों ने उपमान बनाया है। सर्प क्रूर है, अतः उसको आशङ्का होते ही फैंक दिया जाता है। अन्धा व्यक्ति कुसुममाला को भी सर्प समझ कर जिस प्रकार फैंक देते हैं, उसी प्रकार अज्ञानवश व्यक्ति अच्छी वस्तु को भी हानिकारक समझ कर फैंक देता है।[७]

सर्पों की दुष्टता तथा काटने का स्वभाव उपमान बना है। राजकर्मचारी प्रजाजनों को उसी प्रकार काटने और खाने के लिये तत्पर होते हैं, जिस प्रकार कालसर्प मैंढक और चूहे को।[८] अतः सामान्य जन उनको दूर से ही देख कर हट

---

१. (ततः प्रविशति यज्ञोपवीतबद्धाङ्गुष्ठः सम्भ्रान्तो विदूषकः) विदूषकः—परित्रायतां परित्रायतां भवान्। सर्पेण दष्टोऽस्मि।
मालविकाग्निमित्र पृ० ९०।

२. छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्। एतानि दष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः। मालविकाग्निमित्र ४.४।

३. स्वप्नवासवदत्तम् ४.२।

४. बालरामायण ५.७०।

५. प्रतिज्ञायौगन्धरायण पृ० ११०।

६. मालविकाग्निमित्र पृ० ५०।

७. अभिज्ञानशाकुन्तल ७.२४।

८. मृच्छकटिक पृ० २२।

जाते हैं। जिस प्रकार काला सर्प का बच्चा लिपट कर चन्दन को दूषित करता है, उसी प्रकार दुष्ट मनुष्य अच्छी वस्तु को अपने सम्पर्क से दूषित कर देते है।[१] जिस प्रकार गरुड़ से सर्पिणी भयभीत होती है, उसी प्रकार बलात्कारी पुरुष से युवतियां डरती है।[२]

सांप की बदला लेने की प्रवृत्ति अनेक बार उपमान बनी है। पराक्रमी, उदार स्वभाव के जन सहसा क्रोधित नहीं होते। परन्तु अपमानित होने पर वे उसी प्रकार बदला लेने को खड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार चोट खाने पर सर्प फण उठा लेता है।[३] अपमानित होने पर स्वाभिमानी, नीतिज्ञ और पराक्रमी पुरुष शत्रु को उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं, जैसेकि काली सर्पिणी किसी को काट कर मार डालती हैं।[४]

महिलाओं में बदला लेने की प्रवृत्ति होती है। अपने प्रिय के विनाश, आपत्ति या स्वयं के बदला लेने के लिये वे कालसर्पिणी के समान तत्पर रहती हैं।[५] यदि बदला न ले सकें तो अन्दर ही अन्दर तड़पती हैं।[६]

सर्प के कैंचुली छोड़ने की प्रक्रिया भी उपमान बनी है। भूमि पर रेंग कर चलने वाले की त्वचा उसी प्रकार उधड़ जाती है, जिस प्रकार सर्प कैंचुली को छोड़ता है।[७]

सर्प की सेवा करने और उसकी गति को अवरुद्ध करने का प्रकरण भी उपमान के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सर्प का पालना जिस प्रकार कठिन है, उसी प्रकार राजा की सेवा करना भी। जो तन्त्र-मन्त्रों को जानते हैं, मण्डल को बना सकते हैं, वे ही सर्प की सेवा कर सकते हैं।[८] जिस प्रकार मन्त्रों की गति सर्प को अवरुद्ध कर देती है, उसी प्रकार नारी के सौन्दर्य का पाश पुरुष को वशीभूत कर लेता है।[९]

कवियों ने सर्प को किन्हीं परिस्थितियों में अशुभ का सूचक भी माना था। कार्य के प्रारम्भ में सर्प का दर्शन अशुभ का सूचक समझा गया था।[१०] सर्प द्वारा मार्ग अवरुद्ध कर देना तो और भी अशुभ था, जो मृत्यु का सूचक था।[११]

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल ७.१८।
२. मृच्छकटिक १.२२।
३. अभिज्ञानशाकुन्तल ६.३१।
४. मुद्राराक्षस १.६।
५. मालतीमाधव ६.२०।
६. स्वप्नवासवदत्तम् ६.२।
७. मृच्छकटिक ३.५।
८. मुद्राराक्षस २.१।
९. धूर्तविटसंवाद पृ० ८१।
१०. मुद्राराक्षस द्वितीय अङ्क विष्कम्भक।
११. (क) अभिपतति सरोषो जिह्मिमताध्मातकुक्षिः
भुजगपत्तिरथ ते मार्गमाक्रम्य सुप्तः। मृच्छकटिक ६.१२।
(ख) पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयं स्वस्ति चास्मासु देवताः। मृच्छकटिक ६.१५।

सर्पों के सम्बन्ध में सामान्य जनों में अलौकिक कल्पनायें प्रचलित थीं। वे प्राचीन निधियों की रक्षा करते हैं तथा इन निधियों को निकालने का प्रयत्न करने वालों पर प्रहार करते हैं।[१] पौराणिक कल्पनाओं के अनुसार सर्प कश्यप प्रजापति की कद्रू नामक पत्नी से सन्तानें थीं।[२] कद्रू ने छल करके अपनी सपत्नी विनता को दासी बना लिया। इस कारण विनता-पुत्र गरुड़ को सर्पों से वैर हो गया। गरुड़ के भय से सर्पिणियां भागी-भागी फिरती थीं।[३] सर्पों द्वारा मानवरूप धारण करने की भी कल्पना की गई है। इनका निवास स्थान पाताल था। इनका राजा वासुकि था।[४]

प्राचीन मनीषियों ने सर्पों में देवत्व की कल्पना भी की है। सर्पों के पूजन की परम्परा भारतवर्ष में बहुत प्राचीन है। नागराज देवता के मन्दिर अनेक स्थानों पर हैं और इनमें विष्णु का अंश माना जाता है। सर्पों के अधिराज शेषनाग पर विष्णु शयन करते हैं तथा पृथिवी शेषनाग के फणों पर टिकी हुई है।[५] लक्ष्मण को शेषनाग का अवतार माना गया था।[६] सर्पों का भगवान् शिव से भी सम्बन्ध है। वे विविध अङ्गों में सर्प के आभूषण धारण करते हैं।[७] अनेक समालोचकों का विचार हैं कि भारतवर्ष में सर्पपूजा का प्रचलन आर्यों में आर्येतरों के सम्पर्क से आया था।[८]

७७. कृकलास (गिरगिट)—

संस्कृत नाम—कृकलास, प्रतिसूर्यक, सरट

हिन्दी नाम—गिरगिट

अंग्रेजी नाम—Garden lizard

लैटिन नाम—**Calotes versicolor**

गिरगिट सारे भारतवर्ष में पाये जाते हैं। बागबगीचों में ये दृष्टिगोचर हो जाते हैं। अधिकतर ये झाड़ियों और वृक्षों पर रहते हैं। इसके सिर और धड़ की लम्बाई लगभग ५ इंच तथा पूँछ १५–२० इंच हो सकती है।

---

१. नागरक्षित इव निधिः। मालविकाग्निमित्र पृ० ५०।

२. अनर्घराघव ७.८।

३. व्यालीव यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता। मृच्छकटिक १.२२।

४. नागानन्द पृ० १४३–१४४।

५. अनर्घराघव ६.२०।

६. हनूमन्नाटक १३.३७।

७. विद्धसालभञ्जिका १.३।

८. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका पृ० ४११।

गिरगिट का रंग सामान्यतः हलका भूरा होता है। परन्तु यह अपने रंग को इच्छा के अनुसार बदलने के लिये प्रसिद्ध है। अनेक बार इसका रंग चमकदार पिङ्गल हो जाता है, अतः इसके सिर में स्वर्ण होने की भी कल्पना कर ली गई, परन्तु यह बात भ्रामक ही है। गिरगिट का यह रंग-परिवर्तन गर्मी और धूप में ही होता है। अतः गिरगिट को प्रतिसूर्यक भी कहते हैं। जन्तुविज्ञानियों का मत है कि गिरगिट का यह रंग-परिवर्तन केवल नर-गिरगिट में ही होता है, जो केवल मादा को रिझाने के लिये रंग बदलता है।

गिरगिट का मुख्य भोजन कीड़े-मकौड़े हैं। इसकी मादा अण्डे देती है और उनको भूमि में गाड़ कर छुट्टी पा लेती है।

संस्कृत नाटकों में गिरगिट का उल्लेख राजशेखर और भवभूति ने किया है। राजशेखर गिरगिट के सिर के रंग को स्वर्णिम कहते हैं तथा इसको कोई भी व्यक्ति जीवित रहते पकड़ नहीं सकता।[1] भवभूति के अनुसार ग्रीष्म ऋतु में प्यासी गिरगिटें अजगरों के पसीनेरूप जल को पीती है।[2]

७८. नकुल (नेवला)—

संस्कृत नाम—नकुल, सर्पवैरी, सूचीवदन, कश

हिन्दी नाम—नेवला

अंग्रेजी नाम—Mangoose

लैटिन नाम—Herpestes auropunctatus

जन्तु-विज्ञान में नेवले को स्तनपायी श्रेणी में रखा गया है, तथापि यह गिरगिट के समान भूमि के समानान्तर चलता है, अतः इसको यहाँ सरीसृप वर्ग में ही रखा गया है।

नेवला अति परिचित प्राणी है। यह वाटिकाओं में तथा वनों में प्रायः देखा जाता है। लोग इसको पाल भी लेते हैं। नेवला मुख और धड़ मिला कर एक-सवा फीट होता है। लगभग इतनी ही लम्बी इसकी पूँछ होती है। भूरे रंग के शरीर पर छोटे खुरदरे बाल होते हैं। क्रोध की मुद्रा में इन बालों को फुला लेने पर वह आकार में दुगुना दिखाई देने लगता है। नेवला बिल बनाकर रहता है, किन्तु वृक्षों पर भी निवास कर सकता है। यह अति चुस्त, चालाक और साहसी जन्तु है। अपने से भी चौगुने आकार के जन्तु पर आक्रमण करके उसकी गरदन काट कर खून पी लेता है। सर्पों का तो यह जानी दुश्मन है। जहरीले होते हुये भी सर्पों के पीछे से जाकर यह उनकी गरदन काट लेता है। नेवला सामान्यतः माँसभक्षी है तथा कीड़ों-मकौड़ों, छोटे जन्तुओं, पक्षियों और अण्डों को खा जाता है। तथापि फलों का

---

१ विद्धसालभञ्जिका पृ० १४। २. उत्तररामचरित २.१६।

भी शौकीन है। मादा नेवला वर्ष में दो बार बच्चे पैदा करती है और उनको दूध पिलाती है।

प्राचीन संस्कृत लोक-कथाओं का नेवला लोकप्रिय जन्तु है। इनमें इसके सर्प-विद्वेष को निश्चय से कहा गया है। संस्कृत नाटकों में भी इसकी चर्चा की गई है। सर्प को देखते ही नकुल तुरन्त उसका वध कर देता है।[1] परन्तु तपोवन में ऋषियों के तप के प्रभाव से नकुल और सर्प भी अपने स्वाभाविक वैर को भूल जाते हैं।[2]

७९. महानाग—

संस्कृत नाम—महानाग, नागराज

हिन्दी नाम—नागराज

अंग्रेजी नाम—King Cobra

लैटिन नाम—Naja naja

नागराज यद्यपि सर्प का ही एक भेद है, तथापि नाटकों में इसका विशिष्ट वर्णन है। यह अत्यधिक विषैला तथा बड़े आकार का होता है। दक्षिण और पूर्वी भारत में यह सर्प अधिक मिलता है। नागराज घने वनों में रहता है और मनुष्य को देख कर तेजी से पीछा करता है। इससे बचने का एक ही उपाय है कि मनुष्य अपनी किसी वस्तु को इसके आगे फैंक दे। नागराज उसी में उलझ जाता है। यह सर्प वृक्षों के ऊपर भी चढ़ जाता है।

नागराज की औसत लम्बाई ८–१० फीट होती है। परन्तु इससे भी बहुत बड़े नागराज मिल जाते हैं। इसका फण चौड़ा तथा ऊँचा होता है। शरीर बादामी या जैतूनी होता है। उस पर गहरे हरे रंग की धारियाँ होती हैं। नागराज का भोजन छोटे-छोटे जन्तु हैं। यह छोटे सर्पों को भी खा जाता है। मादा नागराज अण्डे देती है, जिसमें से लगभग दो महीने बाद एक फुट लम्बे सर्प निकलते हैं।

संस्कृत नाटककारों ने नागराज की भयानक भीषणता की अभिव्यञ्जना की है। विश्राम के समय यह कुण्डली लगा कर बैठ जाता है।[3] यह भी कल्पना की गई है कि नागराज के फण में अति दीप्तियुक्त मणि रहती है।[4] परन्तु मणि केवल कवि-प्रसिद्धि और कल्पना ही है, यथार्थ सत्य नहीं है।

८०. मूषक (चूहा)—

संस्कृत नाम—मूषक, मूषिक, उन्दुरु, आखु, खनक, विलेशय, मूष

हिन्दी नाम—चूहा, मूसा

---

१. वेणीसंहार पृ० ५४।
२. सुभद्राधनञ्जय १.९।
३. कौमुदीमहोत्सव पृ० ४८।
४. सुभद्राधनञ्जय पृ० ३५।

अंग्रेजी नाम—Rat, Mouse

लैटिन नाम—Mus boodunga
Bandicota bengalensis

जन्तुविज्ञान में मूषक को स्तनपायी श्रेणी में परिगणित करने पर भी इस प्रकरण में उसको सरीसृप वर्ग में रखा गया है, क्योंकि यह भूमि पर नेवले के समान सरकता सा है।

मूषक या चूहा अति परिचित जन्तु है। घरों में, खेतों में, बगीचों और वनों में छोटी-बड़ी अनेक जातियों के चूहे घूमते दिखाई देते हैं। ये विश्व के सभी देशों में हैं। चूहों की संख्या बहुत तेजी से बढ़ती है। मादा चूहा वर्ष में अनेक बार काफी संख्या में बच्चे उत्पन्न करती है। चूहों के दान्त बहुत तेज होते हैं और कठोर वस्तुओं को भी काट देते हैं। ये घरों में बहुत हानि पहुँचाते हैं। अनेक बार इनके कारण विकट खाद्य संकट उत्पन्न हो गया है।

जन्तुविज्ञान के अनुसार मूस एक पूरा परिवार है, जिसमें अनेक जातियों के चूहे होते हैं। इनमें काला चूहा (Black rat), भूरा चूहा (Brown rat), चुहिया (House mouse), मूस (Field mouse), घूंस (Bandicoot rat) और हिरना मूसा (Indian gerbille) अधिक प्रसिद्ध हैं। सामान्यतः चूहा शाकाहारी है, परन्तु आवश्यकता होने पर मांस को भी खा लेता है।

चूहा संस्कृत लोक-कथाओं का प्रसिद्ध जन्तु है। 'पञ्चतन्त्र' की 'मित्रलाभ' कथा तो एक प्रकार से चूहे की ही कहानी है, जिसका कि वह नायक है। संस्कृत-नाटककारों ने भी चूहे और उसकी विशेषताओं का उल्लेख किया है। यह छोटे से भी छेद को विस्तृत कर देता है।[१] मार्ग को न देख सकने वाले व्यक्ति की उपमा चूहे से दी गई है।[२] नाटककारों ने चूहे के शत्रुओं का भी वर्णन किया है। इनमें सर्प और विडाल दो अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका यह प्रिय आहार है। चूहे को सर्प तुरन्त ही निगल जाता है।[३] विडाल द्वारा पकड़े जाने पर चूहे का छुटकारा सम्भव नहीं है। उसको मरना ही होगा।[४]

कवियों ने चूहे के व्यवहार और गति को भी उपमान के रूप में देखा था। वे व्यक्ति चूहे के समान होते हैं, जो किसी के छोटे से भी दोष को देखकर वहुत बड़े

---

१. तपतीसंवरण पृ० ३५।
२. मार्गमनवेक्षमाणः मूषक इव। चण्डकौशिक पृ० १०।
३. कालसर्पस्य मूषिक इव। मृच्छकटिक पृ० २२।
४. विडालगृहीतः मूषिक इव निराशोऽस्मि जीविते संवृतः।
अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ४४५।

रूप में प्रचारित करते हैं।[1] मार्ग में चूहे के समान ठीक प्रकार से देखकर न चलने वाले व्यक्ति चोट खाते हैं और मर भी जाते हैं।[2] सबल क्रूर व्यक्ति के पञ्जे में पड़कर निर्बल व्यक्ति वैसे ही मारा जाता है, जैसे कि बिल्ली द्वारा पकड़ा गया चूहा।[3] दुष्ट राजकर्मचारियों द्वारा सीधे सरल व्यक्तियों की सम्पत्ति वैसे ही निगल ली जाती है, जैसे कि सर्प चूहे को निगल जाता है।[4]

(ङ) क्षुद्र जन्तु

संस्कृत नाटकों में अनेक क्षुद्र जन्तुओं का उल्लेख आता है। इस वर्ग के अन्दर क्षुद्र और सूक्ष्म सभी प्रकार के जन्तुओं का समावेश है। आधुनिक जन्तुविज्ञान में इनमें से एक-एक के भी हजारों भेद किये गये और उनकी असंख्य जातियाँ हैं, तथापि इस विस्तार में इस प्रकरण में जाना सम्भव नहीं है। संस्कृत नाटकों में जिन क्षुद्र जन्तुओं का वर्णन है और कवियों ने उनको जिन रूपों में देखा होगा, यहाँ उनका वर्णन उसी प्रकार से किया जा रहा है। इस वर्णन के अन्तर्गत सभी प्रकार के कृमि-कीट आ जाते हैं। इनमें से कुछ क्षुद्र आकाश में उड़ने की सामर्थ्य रखते हैं और कुछ नहीं रखते।

८१. इन्द्रगोप (बीरबहूटी)—

संस्कृत नाम—इन्द्रगोप, वीरवधूटी
हिन्दी नाम—वीरबहूटी
अंग्रेजी नाम—Cochineal insect; a kind of insect of red colour
लैटिन नाम—Irombidium gratissimum

बीरबहूटी एक नन्हा सा ६ पैरों वाला बरसाती कृमि है। लगभग आधे इंच आकार के इस जीव का शरीर ऊपर से लाल मखमल के समान होता है। वर्षा ऋतु आरम्भ होने पर हरी घास के मैदानों में चलती हुई अनेक बीरबहूटियों का दृश्य बहुत सुन्दर लगता है। कालिदास ने इस दृश्य को देखा था।

उर्वशी के विरह में विह्वल पुरूरवा गन्धमादन पर्वत की भूमियों में प्रिया की खोज करता हुआ भटक रहा था। वहाँ हरी घास पर बीरबहूटियाँ विचर रही थीं। उसने समझा कि यहाँ प्रिया का शुकोदर श्याम हरा कंचुक गिर गया है और उस पर लाल बुंदकियाँ है, जो आँसुओं से धुली होठों की लाली के कारण हैं। जब उसने उसको उठाने का प्रयत्न किया तो देखा कि हरी घास पर बीरबहूटियाँ फैली हुई है।[5]

---

१. तपसीसंवरण पृ० ३३।   २. चण्डकौशिक पृ० १०।
३. अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ४४५।   ४. मृच्छकटिक पृ० २२।
५. हृतौष्ठरागैर्नयनोदबिन्दुभिः निमग्ननाभेर्निपतद्भिरङ्कितम्।
च्युतं रुषा भिन्नगतेरसंशयं शुकोदरश्याममिदं स्तनांशुकम्।
विक्रमोर्वशीयम् ४.१७।
भवतु। आदास्ये तावत्। (परिक्रम्य विभाव्य च सास्रम्) कथं सेन्द्रगोपं नवशाद्वलम्।

बीरबहूटी को कवियों ने उपमान के रूप में वर्णित किया है। वे वस्त्र पर अङ्कित लाल छींटें सी प्रतीत होती हैं।

८२. खद्योत (जुगनू)—

संस्कृत नाम—खद्योत, ज्योतिरिङ्गण, प्रभाकीट, तमोमणि, उपसूर्यक

हिन्दी नाम—जुगनू

अंग्रेजी नाम—Fire fly; Glow worm

लैटिन नाम—**Photinus sp.**
Lampyris sp.

जुगनू एक अति प्रसिद्ध कीट है। वर्षा ऋतु की रजनियों में इनके टिमटिमाते समूह उड़ते हुये मनोरम सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।

विश्व में जुगनू की अनेक जातियाँ पाई जाती हैं। भारतीय जुगनू लगभग आधा इंच लम्बा सलेटी-भूरे रंग का कीट है। ६ पैरों वाले इस छोटे से जीव के पिछले भाग में से प्रकाश प्रस्फुटित होता है, जो रात्रि के अन्धकार में चमकता है। जुगनुओं को उष्ण और आर्द्र वातावरण पसन्द है, अतः वर्षा की रात्रियों में इसके दर्शन अधिक होते हैं। नर जुगनू की अपेक्षा मादा जुगनू के शरीर में से अधिक प्रकाश निकलता है। जुगनू का प्रकाश क्षण-क्षण में बुझता और चमकता रहता है।

संस्कृत कवियों को जुगनू की चमक बहुत आकर्षक लगी थी। अन्धकार में टिमटिमाते जुगनुओं को कवियों ने रात्रि में टिमटिमाती वस्तुओं का उपमान बनाया है।[1] कालिदास ने वर्णन किया है कि मेघों के मध्य विद्युत खद्योतों की पंक्ति के समान चमकती है।[2] जुगनू क्षण-क्षण में चमकता और बुझता है। इसकी क्षण-भङ्गुर चमक को संसार की क्षण-भङ्गुरता का उपमान बनाया गया है।[3]

८३. घुण (घुन)—

संस्कृत नाम—घुण, वज्रकीट, काष्ठवेधक कीट

हिन्दी नाम—घुन

अंग्रेजी नाम—Wood weevil

लैटिन नाम—**Coleoptere order**

घुन एक अति परिचित कीट है। जिस वस्तु पर लग जाता है, उसको बहुत हानि पहुँचाता है। यह अन्न और काष्ठ में छिद्र करके उनको नष्ट कर देता है।

नन्हे से जीव घुन की जीभ काली लम्बी होती है। इसके मध्य के छिद्र से

---

१. हनूमन्नाटक १४.८४।
२. खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्। उत्तरमेघ श्लोक २१।
३. कौमुदीमहोत्सव २.१।

यह भोजन को ग्रहण करता रहता है। काष्ठ आदि पदार्थों में छेद करके यह भीतर घुस जाता है और नाली सी बनाता जाता है। इससे वह वस्तु भीतर पोली होकर नष्ट हो जाती है।

मादा घुन किसी काष्ठ के भीतर जाली सी काट कर उसमें अपने अण्डे रख देती है। अण्डों के फूटने पर शिशु-कीट निकल कर कुछ समय वैसे ही पड़े रहते हैं, तदनन्तर बड़े होकर वे लकड़ी को काट कर बाहर निकल आते हैं।

घुनों द्वारा काष्ठ को काट कर खा जाने की घटनाओं का कवियों ने सूक्ष्म निरीक्षण किया था। मुरारि ने वर्णन किया है कि घुन द्वारा काष्ठ को अन्दर से खाये जाने पर वे खोखले होकर गिर जाते हैं।[1]

काष्ठ को काट कर नाली बनाते हुये घुन अनेक आकारों की रेखायें बनाते जाते हैं। यद्यपि ये रेखायें बिना किसी प्रयोजन और अर्थ के बनती जाती हैं, तथापि अनेक बार इनसे सार्थक अक्षर भी बन जाते हैं। घुनों का यह कार्य बिना किसी उद्देश्य या ज्ञान के होता है। इसके आधार पर घुणाक्षर-न्याय की कल्पना की गई। यदि कोई व्यक्ति बिना किसी उद्देश्य के अनजाने कोई कार्य कर देता है, तो उसको घुणाक्षर-न्याय कहते हैं।[2]

८४. पतङ्ग (पतंगा)—

संस्कृत नाम—पतङ्ग, शलभ, पत्रचिल्ल, खग

हिन्दी नाम—पतंगा

अंग्रेजी नाम—Moth

लैटिन नाम—**Lepidoptera (order)**

संस्कृत काव्यों में पतंगे का वर्णन अग्निज्वाला के प्रति प्रणय करने वाले अथवा उसमें जल मरने वाले जीव के रूप में हुआ है।

पतङ्गा छोटा सा लगभग एक इंच लम्बा दो पंखों का उड़ने वाला कीट है। उसकी अनेक जातियाँ छोटे-बड़े आकार की होती हैं। रेशम का कीड़ा (Silk worm) भी पतङ्ग जाति का ही है। इससे कौशेय वस्त्र बनते हैं। ग्रीष्म और विशेष कर वर्षा ऋतु में पतङ्गे रात्रि के समय किसी दीपक आदि के प्रकाश के चारों ओर प्रचुर संख्या में मंडराते देखे जा सकते हैं।

शृङ्गारी कवियों को शलभ (पतङ्ग) बहुत प्रिय लगा था। वे अग्नि की ज्वाला के साथ इसका सम्बन्ध प्रणयी-प्रणयिनी का लगाते हैं। पतङ्ग अग्नि-शिखा

---

१. घनतिमिरघुणोत्करजग्धानामिव पतन्ति काष्ठानाम्। अनर्घराघव २.५३।
२. घुणाक्षरमपि कदापि सम्भवति। रत्नावली पृ० ८४।

की ओर स्वयं आकृष्ट होकर प्राणों का परित्याग कर देता है।[1] यह उसी प्रकार है, जैसे कि कोई प्रणयी अपनी प्रणयिनी के प्रणय में अपने को आहुत कर दे।

शलभ में दुस्साहस की भी कल्पना की गई है। यह अपनी बुद्धि और पराक्रम का विचार न करके अग्नि की ज्वाला को बुझाने के लिये उसमें कूद जाता है तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। इस प्रवृत्ति को शलभ कहा गया है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपनी बुद्धि तथा पराक्रम का विचार न करके पराक्रमी शत्रुओं से भिड़ जाते हैं, वे निश्चय ही शलभ विधि से विनाश को प्राप्त होते हैं।[2]

अग्नि-ज्वाला द्वारा शलभ को जला देने की प्रवृत्ति के कारण कवियों ने शलभ और अग्नि में स्वाभाविक वैर की भी कल्पना की है। स्वाभाविक वैरी होने से अग्नि सदा ही शलभ को जला देती है, परन्तु श्रेष्ठ जनों के प्रभाव से स्वाभाविक वैरी भी शत्रुता को भूल कर साथ-साथ रह सकते हैं। तपोवन में ऋषियों का ऐसा प्रभाव है कि शलभ अग्नि में गिर कर भी विनाश को प्राप्त नहीं होते।[3]

शलभों का वर्ण कुछ सुनहरा-चमकीला होता है। अतः मध्यकालीन सूर्य के प्रकाश को शलभों के समूह के समान वर्ण वाला वर्णन किया गया है।[4]

८५. पिपीलिका (चींटी)—

संस्कृत नाम—पिपीलिका, पिपीलक, पिपील, पीलुक

हिन्दी नाम—चींटी

अंग्रेजी नाम—Ant

लैटिन नाम—**Camponotus sp.**

चींटियों से सभी लोग परिचित हैं। घरों में और सभी स्थानों पर भूमि पर रेंगती हुई चींटियाँ दृष्टिगोचर हो जाती हैं। खाद्य वस्तु पर वे पंक्तिबद्ध होकर पहुँच जाती हैं।

चींटियों का एक अपना संसार है। कहा जाता है कि पृथिवी पर यदि कोई मनुष्य के बाद बुद्धिमान् है, तो वह चींटी है। यह भूमि के गर्भ में सुन्दर घर बनाती

---

१. कौमुदी महोत्सव पृ० २२।

२. क. सर्वे ते क्रोधवह्नौ कृतशलभकुलावज्ञया येन दग्धा।
वेणीसंहार ५.२६।

ख. सद्यः परात्मपरिणामविवेकमूढः कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम्।
मुद्राराक्षस १.१०।

ग. शलभ इवाशु हुताशनं प्रवेष्टुम्। अभिषेकनाटक ४.५।

३. शिखिनि शलभो ज्वालाचक्रैर्न विक्रियते पतन्। सुभद्राधनञ्जय १.६।

४, पतितारुणप्रकाशः शलभसमूह इव। अभिज्ञानशाकुन्तल १.३०।

है। इनमें कमरे, छतें, गैलरियाँ, दालान आदि होते हैं। इनमें ऊँचे टीले भी बनाये जाते हैं, जिनसे इनमें गर्मी और सर्दी का अधिक असर नहीं होता।

चींटियों की एक बस्ती में लाखों चींटियाँ होती हैं। इनमें परस्पर अच्छा परिचय भी रहता है। बाहर की चींटी को ये आने नहीं देतीं और उसकी जबरदस्त पिटाई करती हैं।

चींटियों के दलों में कार्य-विभाजन रहता है। एक बस्ती में एक रानी चींटी होती है, जो केवल बच्चे पैदा करती है। दाई चींटियाँ बच्चों का पालन करती हैं। किसान, गौ, ग्वाला, मजदूर, कारीगर और सैनिक चींटियों के अलग-अलग विभाग होते हैं और सब अपना कार्य कुशलता से करते हैं। सैनिक चींटियाँ भयानक लड़ाकू होती हैं। वे शत्रु पर भयानक आक्रमण करके उसको समाप्त कर देती हैं।

चींटियाँ खाऊ भी बहुत होती हैं। मार्ग में जो भी वस्तु मिलती है, उसको या तो तुरन्त खा लेती हैं, या अपने खाद्य संग्रह में जमा कर लेती हैं। वनस्पतिज या मांसज सभी प्रकार के पदार्थ उनके खाद्य हैं। वे परिश्रमी तथा सञ्चयी भी बहुत हैं। सर्दियों के लिये प्रचुर भोजन का सञ्चय करके वे घरों का दरवाजा बन्द करके आराम से उसमें पड़ी रहती हैं। बच्चों को दूध पिलाने के लिये वे एक विशेष प्रकार की मक्खी भी पालती हैं।

चींटियों की आयु काफी लम्बी होती है। रानी चींटी तो लगभग २० वर्ष तक जीवित रहती है। जल में वे सात-आठ दिन तक पड़ी रह सकती हैं। दीमकों के समान वे पौधों को हानि भी पहुँचाती हैं। जड़ के समीप से रस को पीकर वृक्ष को सुखा दे सकती हैं।

छोटे-बड़े आकार की असंख्य जाति की चींटियाँ संसार में हैं। जन्तु-वैज्ञानिकों ने लगभग ६००० जातियों की चींटियों का पता लगाया है।

कुछ प्रसङ्गों में प्रस्तुत नाटकों में चींटियों का उल्लेख हुआ है। राक्षस ने चन्द्रगुप्त का वध करने के लिये उसके सुगाङ्ग प्रासाद के गर्भगृह में अपने गुप्तचरों को छिपा दिया था। उनके भोजन-संग्रह से आकृष्ट होकर चींटियाँ उस स्थान के छिद्रों के मार्ग से जाने लगीं। पंक्तिबद्ध चींटियों को छिद्रों के मार्ग से जाता और भोज्य पदार्थ लाते देख कर चाणक्य ने अनुमान लगाया कि यहाँ गर्भगृह में शत्रुओं के गुप्तचर छिपे होंगे। चाणक्य ने उस गर्भगृह को जलवा कर उन गुप्तचरों को मरवा दिया।[1]

१. प्राक्चन्द्रगुप्तप्रवेशाच्छयनगृहं प्रविष्टमात्रेणैव निपुणमवलोकयता दुरात्मना चाणक्यहतकेन कस्माच्चिद्भित्तिछिद्राद् गृहीतभक्तावयवा विक्रामन्तीं पिपीलिकापंक्तिमवलोक्य पुरुषगर्भमेतद् गृहमिति गृहीतार्थेन दाहितं तच्छयनगृहम्। मुद्राराक्षस पृ० ६४।

विद्वानों ने चींटियों के व्यवहार से आकृष्ट होकर कुछ नियमों की स्थापना की थी। चींटियाँ बिना सोचे समझे एक के पीछे दूसरी पंक्तिबद्ध होकर चली जाती हैं। अतः जो व्यक्ति बिना सोचे-समझे अन्य व्यक्तियों का अनुसरण करते हैं, उनका यह कार्य पिपीलिकाधर्म कहलाता है।[1]

कवियों ने चींटियों के संगठन का तथा संगठित होकर युद्ध करने के स्वभाव का सूक्ष्म अध्ययन किया था। हजारों-लाखों चीटियाँ एक साथ मिल कर अपने शत्रु पर एक दम आक्रमण कर देती हैं और उससे चिपट जाती हैं। वे उसको मार कर उसका सारा रक्त-मांस चट कर जाती हैं इसको पिपीलिकापन्नग न्याय कहते हैं। नन्हीं-नन्हीं लाखों चींटियाँ मिल कर एक विशाल सर्प को भी खा जाती हैं। इसी प्रकार लङ्का-युद्ध में कुम्भकर्ण से अनेक वानर पिपीलिकापन्नग न्याय से चिपट गये थे।[2]

८६. भृङ्ग (भौंरा)—

संस्कृत नाम—मधुकर, मधुव्रत, मधुलिट्, मधुप, अलि, द्विरेफ, भृङ्ग, षट्पद, पुष्पलिट्, अली, भ्रमर

हिन्दी नाम—भौंरा

अंग्रेजी नाम—Large carpenter bee

लैटिन नाम—**Apis sp.**

संस्कृत काव्यों में भ्रमर का विशेष स्थान है। कवियों ने पुष्पित प्रकृति के चित्रणों में तथा प्रणय की विलास-लीलाओं में भ्रमर का विशेष रूप से वर्णन किया है।

भ्रमर मधुमक्खी परिवार का ही जीव है। अपने रहने के लिये यह किसी काष्ठ में गहरा छिद्र कर लेता है। पुष्प का रस पीने के लिये इसकी लम्बी सूंड जैसी जीभ होती है। इसके ६ पैर होते हैं तथा शरीर के पिछले भाग में बारीक रोयें होते हैं। पुष्प पर बैठते समय इसका पराग इन रोयों पर लग जाता है। उस पराग को अन्य पुष्पों तक पहुँचा कर यह परागीकरण (Pollination) की प्रक्रिया को पूरा करके फलों की उत्पत्ति में सहायता करता है।

मादा भौंरा (भ्रमरी) पुष्पों के रस और पराग को एकत्रित करके अपने निवास के छिद्र में ले आती है और वहीं अण्डे देती है। उसके बाद छिद्र को बन्द कर देती है। अण्डे फूटने पर कीट रूप नवजात शिशु इस भोजन को खाकर बढ़ते हैं। अनेक परिवर्तनों के बाद वे भ्रमर का रूप धारण करके बाहर आ जाते हैं।

---

१. धूर्तविटसंवाद पृ० ११५।
२. बालरामायण पृ० ५६१।

मधुमक्खी के समान भ्रमर जाति में भी केवल रानी भ्रमरी अण्डे देती है। सर्दियाँ आने पर इस रानी भ्रमरी को छोड़ कर अन्य सब भ्रमर मर जाते हैं। सर्दियाँ व्यतीत होने पर नया वंशक्रम प्रारम्भ होता है।

नये भ्रमर का रंग युवा होने पर पीला होता है। मादा भ्रमर का रंग काला होता है। परन्तु बीच का धड़ पीला रहता है। ६ पैरों का होने से यह कीट षट्पद कहलाता है।

नाटकों में भ्रमर का वर्णन प्रकृति-चित्रणों में और प्रणय-विलासों में हुआ है। पुष्पों के रस के लोभी भ्रमर वसन्त ऋतु में पुष्पों के विकसित होने पर विशेष रूप से प्रसन्न होते हैं।[१] पुष्परस का पान करने से इस जन्तु को मधुप, मधुकर, मधुलिट्, मधुव्रत, पुष्पलिट् आदि नाम दिये गये हैं। सुगन्धित पुष्पों पर इसको मंडराते देखा जा सकता है।[२] इनके रस को पीकर वे अपने को तृप्त करते हैं[३] और उन्मत्त हो जाते हैं।[४] कवियों ने प्यासी मादा भ्रमरी के कमलों के अन्दर प्रवेश का वर्णन किया है।[५] भ्रमरों को एक पुष्प के रस का पान करने से तृप्ति नहीं होती। एक का पान करके वह अन्य पुष्पों पर जाकर मंडराने लगता है।[६]

कवियों ने पुष्पों को भ्रमरों का निवास बताया है। कमल आदि पुष्पों के अन्दर भ्रमर प्रविष्ट हो जाते हैं। सूर्यास्त होने पर जब ये कमल मुंद जाते हैं, तो भ्रमर रात्रि भर उनके अन्दर सुख से सोते हैं। सूर्योदय होने पर कमल के विकसित होने के साथ ही ये भी जाग जाते हैं।[७] भ्रमर न केवल सुगन्धित पुष्पों के रस का ही पान करते हैं, अपितु किसी भी सुगन्धित तरल द्रव्य को पीने के लिये वे लालायित रहते हैं। हाथियों के मस्तक से स्रवित होने वाले मदजल पर भ्रमरों के मंडराने का वर्णन अनेक कवियों ने किया है। मदजल के सूख जाने पर भी ये भ्रमर उसकी सुगन्धि से आकृष्ट होकर मंडराते रहते हैं।[८]

---

१. चारुदत्त पृ० २१।
२. (क) ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अभिज्ञानशाकुन्तल १.४॥
(ख) नागानन्द १.१२॥
३. (क) पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसमात्मनः कुशलतया। मुद्राराक्षस २.११॥
(ख) आश्चर्यचूडामणि॥
४. मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानाम्। विक्रमोर्वशीयम् १.३॥
५. चण्डकौशिक १.१६॥
६. मालतीमाधव पृ० १३०॥
७. अनर्घराघव २.५३॥
८. संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः।
कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम्। मृच्छकटिक १.१२॥

कवियों ने भ्रमरों की आक्रामक वृत्ति का भी संकेत दिया है। पुष्परस का पान करते हुये यदि कोई व्यक्ति उनके साथ छेड़खानी करे तो क्रोधित होकर वे आक्रमण कर सकते हैं। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के प्रथम अङ्क में दुष्यन्त झाड़ियों के पीछे छिपा हुआ वृक्षों को सींचती हुई शकुन्तला को अभिलाषा भरे नयनों से देख रहा है। एक पौधे को सींचने के लिये जब शकुन्तला घट से जल को उंडेलती है, तो उस पर बैठा हुआ भ्रमर उड़ कर शकुन्तला पर आक्रमण करना चाहता है।[१] शकुन्तला घबरा कर भ्रमर को उड़ाने के लिये हाथ-पैर चलाती है। इस समय शकुन्तला की चेष्टाओं तथा भ्रमर को उसके अधर के समीप देख कर दुष्यन्त अपने को हतभागी और भ्रमर को सौभाग्यशाली समझता है।[२]

संस्कृत कवियों ने भ्रमर-भ्रमरी के आदर्श प्रेम की भी अभिव्यक्ति की है। भ्रमरी को अपने प्रिय भ्रमर से इतना अनुराग है कि वह उसके विना नहीं रह सकती और किसी भी स्वादिष्ट पदार्थ का उपभोग नहीं कर सकती। प्यासी होने पर भी प्रतीक्षा करती रह कर प्रिय के न आने तक उस रस का पान नहीं करेगी।[३]

कवियों ने भ्रमर को प्रणय और शृङ्गार रस के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है और विविध प्रकार से उपमान बनाया है। चमकीले काले भ्रमरों की पंक्तियों में कवियों को सुन्दरियों की अलक-रचना का सौन्दर्य दृष्टिगोचर हुआ था।[४] युवतियों के कटाक्ष भ्रमरों की लम्बी पंक्ति के समान होते हैं।[५] वसन्त ऋतु में भ्रमरों का भ्रमण अधिक होता है, अतः वसन्त रूपी लक्ष्मी मानो भ्रमर रूपी काजल को ही नयनों में लगाती है।[६]

---

१. सलिलसेकसम्भ्रमोद्गतो नवमालिकामुज्झित्वा वदनं मे मधुकरोऽभिवर्तते।
अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० १५९ ॥

२. चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करं व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥
अभिज्ञानशाकुन्तल १.२२ ॥

३. एषा कुसुमनिषण्णा तृषिताऽपि सती भवन्तमनुरक्ता।
प्रतिपालयति मधुकरी न खलु मधु त्वया विना पिबति ॥
अभिज्ञानशाकुन्तल ६.१९ ॥

४. बालरामायण ५.६६ ॥

५. मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्। पूर्वमेघ श्लोक ३९ ॥

६. (क) लग्नद्विरेफाञ्जनैः। मालविकाग्निमित्र ३.६ ॥
(ख) लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रम्। कुमारसम्भव ३.३० ॥

कवियों ने भ्रमर वृत्ति का उल्लेख किया है। एक ही पत्नी या प्रेमिका से सन्तुष्ट न रह कर अनेक प्रियाओं को खोजने वाले व्यक्ति भ्रमर वृत्ति के हैं। वे अपनी पहली प्रेयसी को भूलकर नई प्रेयसियों के समीप उसी प्रकार जाते हैं, जिस प्रकार एक भ्रमर एक पुष्प का रस पीकर नये-नये पुष्पों के रस के पान का लोभी होकर पहले पुष्प को भूल जाता है।[1]

कवियों ने भ्रमर को शृंगार तथा प्रणय का मनोरम उद्दीपक माना है। कामदेव के धनुष की डोरी को भ्रमरों से बना होने की कल्पना की गई है। इस डोरी को खींच कर कामदेव प्रणयी-जनों के हृदय पर प्रहार करता है।[2]

८७. **मक्षिका (मक्खी)**—

संस्कृत नाम—मक्षिका, नीता, वर्वणा, वमनीया, पलङ्कषा, माचिका

हिन्दी नाम—मक्खी

अंग्रेजी नाम—House fly

लैटिन नाम—**Musca domestica**

मक्षिका अति परिचित जन्तु है। यह घरों में और घरों के बाहर सर्वत्र उड़ता हुआ खाद्य पदार्थों पर और गन्दी वस्तुओं पर बैठा देखा जा सकता है। ६ पैरों वाली मक्षिका के मुख के आगे सूंड होती है। इससे यह अपना थूक गिरा कर खाद्य पदार्थ को चाट लेता है। यह उस पदार्थ को काट या कुतर नहीं सकता।

मक्षिका इतना सुपरिचित जन्तु है कि इसका अधिक परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। इसकी जीवन-अवधि केवल ५–१० सप्ताह है। परन्तु इतने समय में ही एक मादा मक्षिका १०–१२ बार अण्डे दे देती है। इस प्रकार इसकी संख्या अति तीव्र गति से बढ़ती जाती है। किसी स्थान से उड़कर जब यह खाद्य पदार्थ पर बैठती है तो वहाँ लगे हुये रोग के कीटाणुओं को भी साथ ले आती है। इस प्रकार यह रोगों के प्रसार में सहायक होती है। मक्षिकाओं की अनेक जातियों का अन्वेषण किया जा चुका है।

संस्कृत नाटकों में मक्षिका का वर्णन कम ही हुआ है। बिलकुल एकान्त स्थान

---

१. अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥
अभिज्ञानशाकुन्तल ५.१॥

२. (क) मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद् वसन्तम्।
प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।
उत्तरमेघ श्लोक १४॥

(ख) द्विरेफमालालसद्धनुर्गुणः। ऋतुसंहार ६.१॥

के लिये अतिशयोक्ति के रूप में यह कह दिया जाता है कि यहाँ मक्षिका भी नहीं है। दुष्यन्त ने एकान्त में विदूषक के समक्ष अपनी मन की अभिलाषा को व्यक्त करने के लिये सबको हटा दिया। तब विदूषक दुष्यन्त से कहता है कि आपने इस स्थान को मक्षिकाओं से रहित कर दिया है।[1]

८८. मधुमक्षिका (मधुमक्खी)—

संस्कृत नाम—मधुमक्षिका, सरघा, मधुकारिन्

हिन्दी नाम—मधुमक्खी

अंग्रेजी नाम—Honey bee

लैटिन नाम—Apis mellifera **Apis dorsita**

Apis indica

भारतीय भोजन में मधु (शहद) का बहुत महत्व है। यह मधुमक्षिकाओं द्वारा प्राप्त होता है। मधुमक्षिका का अपना एक संसार है और अद्भुत व्यवस्था है। यह समूह में रहती है। एक समूह में लगभग ६०००० तक मधुमक्षिकायें होती हैं। इनमें एक रानी मधुमक्षिका सबसे बड़े आकार की अण्डे देने का कार्य करती है। यह ५ वर्ष तक अण्डे देती है। अण्डों में से ही एक मक्षिका नई रानी मधुमक्षिका बन कर अपना नया समूह बनाती है।

मधुमक्षिका समूह में लगभग २०० नर मधुमक्षिका होती हैं। ये प्रणय-विलास के लिये रानी मधुमक्षिका के साथ जाती हैं। प्रणय-विलास के बाद ये मर जाती हैं और रानी मधुमक्षिका अपने छत्ते बना कर अण्डे देती है। समूह में अधिक संख्या मजदूर और सैनिक मधुमक्षिकाओं की होती है। मजदूर मधुमक्षिकायें छत्ता बनाती हैं तथा पुष्पों से मकरन्द और पराग लाकर जमा करती हैं। उनके उदर से मोम निकलता है, जिससे ये छत्ता बनाती हैं। पुष्पों का रस चूसा जाकर जब उनके शरीर के मधुकोष में (Honey sac) में जमा होता है, तो उसमें कुछ रासायनिक परिवर्तन होकर शहद बनता है। इसको ये छत्तों में भर देती हैं। सैनिक मधुमक्षिकायें रक्षा का कार्य करती हैं। उनके पीछे के भाग की छोटी नली (डंक) के नीचे विषग्रन्थि (Poison gland) होती है। छेड़े जाने पर ये डंक चुभो देती हैं।

मधुमक्षिकाओं का कवियों ने अधिक वर्णन नहीं किया है। वे भ्रमरों के प्रति अधिक आकृष्ट रहे। कालिदास मधुमक्षिका का उल्लेख करते हैं। वे पुष्पों से रस को एकत्रित करके मधु रूप में अपने छत्तों में जमा करती हैं तथा इसकी प्रयत्न से रक्षा करती हैं। मधु चुराने पर वे निश्चित रूप से आक्रमण करती हैं।[2] कालिदास ने

---

१. कृतं भवता निर्मक्षिकम्। अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० २०२, पृ० ४०४॥
२. मधुसन्निहितमक्षिकं च। मालविकाग्निमित्र पृ० ३२॥

मधुमक्षिकाओं के इस व्यवहार को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार सञ्चयी स्वभाव की मधुमक्षिकायें मधु चुराने वाले पर क्रोधित होकर आक्रमण करती हैं, उसी प्रकार धन का सञ्चय करने वाला व्यक्ति भी अपने धन का अपहरण करने वाले व्यक्ति पर क्रोधित होकर आक्रमण कर सकता है।

८९. मशक (मच्छर)—

संस्कृत नाम—मशक, मश, सूक्ष्मास्य, वज्रतुण्ड

हिन्दी नाम—मच्छर

अंग्रेजी नाम—Mosquito

लेटिन नाम—**Anophelaze sp.**

Culex sp.

मनुष्यों के लिये मच्छर एक अति परिचित जन्तु है। यह रात्रि में हमारा खून पीकर उत्पीड़ित करता है। इससे बचने के लिये अनेक उपाय करने पड़ते हैं। मलेरिया जैसे रोग का यह संवाहक है। मच्छर गरम और आर्द्र देशों में अधिक होते हैं। शरीर का रक्त चूसने की शक्ति प्रकृति ने मादा मच्छरों में ही दी हैं। नर मच्छर पुष्पों के रस को पीकर जीवन-निर्वाह करते हैं।

मच्छर छोटा सा ६ पैरों का अति कोमल जन्तु है और हलके से भी प्रहार को सहन नहीं कर सकता। यह रात्रि के अन्धकार में अधिक प्रभाव दिखाता है। मादा मच्छर अण्डे देने से पूर्व रक्त पीती है और जलीय स्थानों पर अण्डे देती है।

संस्कृत नाटकों में कुछ स्थानों पर मच्छर (मशक) का उल्लेख हुआ है। यह बहुत छोटा सा जीव है। अतः छोटे से छिद्र में भी प्रविष्ट हो जाता है।[1] घरों में मच्छर अधिक हो जाने पर ये काट कर मनुष्यों को उत्पीड़ित करते हैं, अतः वे घरों से बाहर निकल जाते हैं।

कवियों ने मच्छर को उपमान भी बनाया है। मच्छर के अति लघु आकार का होने के कारण छोटे आकार के पदार्थों की उपमा मच्छर से दी गई है।[2] इसका व्यवहार भी उपमान बना है। भास ने वर्णन किया है कि जिस प्रकार मच्छरों से भयभीत गोपों के बालक घरों से बाहर निकल जाते हैं, उसी प्रकार कुसमय आने पर धन भी घर से बाहर चले जाते हैं।[3]

---

१. हनूमन्नाटक ॥ २. हनूमन्नाटक १४.८४ ॥

३. दास्याः पुत्राः अर्थव्यापाराः गोपदारका इव मशकभीताः गृहान्निर्गच्छन्ति। चारुदत्त पृ० १७ ॥

९०. लूता (मकड़ी)—

संस्कृत नाम—लूता, तन्तुवाय, ऊर्णनाभ, अष्टापद, जालिक
हिन्दी नाम—मकड़ी
अंग्रेजी नाम—Spider
लैटिन नाम—Cteniza sp.

मकड़ियों से मनुष्य जाति बहुत परिचित है। घरों में और घरों से बाहर प्रकृति में अपने जाले में लिपटी हुई ये शिकार की तलाश में बैठी हुई प्रायः दिखाई दे जाती हैं। विश्व में लगभग १४००० जातियाँ मकड़ी की मिलती हैं।

मकड़ी के शरीर के दो भाग होते हैं—शरीर और धड़। सिर में आठ आंखें और धड़ में आठ पैर होते हैं। धड़ के पिछले भाग में छोटी घुंडियों में एक तरल पदार्थ भरा रहता है। छिद्रों में से तरल पदार्थ बाहर निकल कर सूख कर रेशमी धागा सा बन जाता है। मकड़ी इच्छा के अनुसार छेद को छोटा या बड़ा करके बारीक या मोटा धागा निकाल कर जाला बनाती है। मकड़ी की टाँगों के सिरे पर पञ्जे होते हैं, जिनमें वह जाल में फंसने वाले कीड़ों को पकड़ कर अपना आहार बनाती है।

मकड़ी के मुख में विषैले दान्तों के नीचे विष की थैली रहती है। इससे वह अपने शिकार को काट कर उसके अन्दर विष का प्रवेश करा देती है।

लूता (मकड़ी) का वर्णन अनेक संस्कृत कवियों ने किया है। मकड़ी द्वारा बनाया गया तन्तुजाल अति कोमल होता है।[1] यह विस्तृत, गोल तथा चन्द्रमा के मण्डल के समान सुन्दर होता है।[2] ऊन के वर्ण के सदृश श्वेत वर्ण के तन्तुजाल मकड़ी की नाभि से निकलते हैं, अतः इस जीव को ऊर्णनाभ कहा गया है। तन्तुजाल को ऊर्णनाभमण्डल कहते हैं।[3] मकड़ी के जाले की गोलाई तथा शुभ्रता के कारण यह चन्द्रमण्डल का उपमान बना है। सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में मकड़ी को अद्वैत वेदान्तियों ने उपमान बनाया है। जिस प्रकार जाले को बनाने के लिये मकड़ी उसका उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है, इसी प्रकार सृष्टि की रचना के लिये ब्रह्म उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है।

---

१. बालरामायण पृ० २१५ ॥
२. लूतातन्तुवितानवर्तुलमितो बिम्बं दधच्चुम्बति। अनर्घराघव २.२० ॥
३. हनूमन्नाटक १४.८४ ॥

—॥—

परिशिष्ट-१

आलोच्य नाटक

१. दूतवाक्यम्—भासः-बलदेव आचार्य द्वारा सम्पादित भास-नाटक-चक्रम् प्रथम भाग से-चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी-प्रथम संस्करण

२. कर्णभारम्— वही

३. दूतघटोत्कचम्— वही

४. मध्यमव्यायोगम्— वही

५. पञ्चरात्रम्— वही

६. उरुभङ्गम्— वही

७. अभिषेकनाटकम्— वही

८. बालचरितम्— वही

९. अविमारकम्—भासः-बलदेव आचार्य द्वारा सम्पादित भास-नाटक-चक्रम् द्वितीय भाग से चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी प्रथम संस्करण

१०. प्रतिमानाटकम्— वही

११. प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्— वही

१२. स्वप्नवासवदत्तम्— वही

१३. चारुदत्तम्— वही

१४. मृच्छकटिकम्—शूद्रकः डॉ० श्रीनिवास द्वारा सम्पादित, साहित्य भण्डार, मेरठ १९७६ ई० ।

१५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्—कालिदासः डॉ० कृष्णकुमार द्वारा सम्पादित एवं व्याख्या प्रकाश बुक डिपो बरेली १९७५ ई०

१६. विक्रमोर्वशीयम्—कालिदासः सीताराम चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित कालिदास ग्रन्थावली से, अखिल भारतीय विक्रम परिषद् काशी द्वारा प्रकाशित २०१९ विक्रमी तृतीय संस्करण

१७. मालविकाग्निमित्रम्—कालिदासः पी० डी० शास्त्री द्वारा अनूदित; आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली १९६४ ई०

१८. मुद्राराक्षसम्—विशाखदत्तः आर० एस० वलिम्बे द्वारा सम्पादित ।

१९. देवीचन्द्रगुप्तम्—विशाखदत्त : राघवन् द्वारा सम्पादित शृङ्गारप्रकाश में उद्धृत १९६३ ई०

२०. कौमुदीमहोत्सव—बिज्जिका : रामकृष्ण द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम् १९१२ ई० ।

२१. पद्मप्राभृतक—शूद्रक: डा० मोतीचन्द्र और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित शृङ्गारहाट से। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय प्राइवेट लिमिटेड बम्बई १९५९ ई०।

२२. उभयाभिसारिका—वररुचि : वही

२३. धूर्तविटसंवाद—वररुचि : वही

२४. पादताडितक—श्यामिलक। वही

२५. प्रियदर्शिका—हर्ष : पं० रामचन्द्र मिश्र की टीका। चौखम्बा संस्कृत सीरीज बाराणसी १९५५ ई०।

२६. रत्नावली—हर्ष : पं० शिवराज शास्त्री द्वारा सम्पादित। साहित्य भण्डार मेरठ १९६८ ई०।

२७. नागानन्द—हर्ष: पं० बलदेव की टीका–चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९६८ ई०।

२८. वेणीसंहार—भट्टनारायण : डा० शिवराज शास्त्री द्वारा सम्पादित। साहित्य भण्डार मेरठ १९७३ ई०।

२९. मत्तविलास—महेन्द्रविक्रम वर्मा : श्री कपिलदेवगिरि की टीका। चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी १९६६ ई०।

३०. महावीरचरितम्—भवभूति : वीरराघव की टीका। निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९२६ ई०।

३१. मालतीमाधवम्—भवभूति : चन्द्रकला हिन्दी-संस्कृत-टीका। चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९५४ ई०।

३२. उत्तररामचरितम्—भवभूति : ब्रह्मानन्द शुक्ल की टीका। साहित्य भण्डार मेरठ १९७५ ई०।

३३. आश्चर्यचूडामणि : शक्तिभद्र : पं० रमाकान्त झा की टीका। चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी १९६६ ई०।

३४. वीणावासवदत्तम्—शक्तिभद्र : जर्नल आफ ओरियन्टल रिसर्च मद्रास में प्रकाशित।

३५. रामाभ्युदय—यशोवर्मन् : वी० राघवन् कृत—सम ओल्ड लौस्ट प्लेज—में उद्धृत–अन्नामलाई विश्वविद्यालय प्रकाशन १९३७ ई०।

३६. अनर्घराघव—मुरारि: काव्यमाला सीरीज संख्या ४ (१९३७ ई०)

३७. तापसवत्सराज—अनङ्गहर्ष : डॉ० देवीदत्त शर्मा द्वारा सम्पादित साहित्य भण्डार मेरठ १९६९ ई०

३८. सुभद्राधनञ्जय—कुलशेखरवर्मन् : गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित। त्रिवेन्द्रम् १९१२ ई०।

३९. तपतीसंवरण—कुलशेखर वर्मन् ,, वही १९११ ई०।

४०. हनूमन्नाटक—दामोदर मिश्र : श्री मोहनदास की टीका। क्षेमराज श्रीकृष्णदास वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई १९६६ ई०।

४१. चण्डकौशिक—क्षेमीश्वर : श्री जगदीश मिश्र की टीका। चौखम्बा संस्कृत विद्याभवन वाराणसी १९६५ ई०।

४२. बालरामायण—राजशेखर : जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित १९१० ई०।

४३. बालभारत—राजशेखर : श्री हरिदत्त शर्मा की टीका । चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९६९ ई०।

४४. कर्पूरमञ्जरी—राजशेखर : श्री चुन्नीलाल द्वारा सम्पादित। साहित्य भण्डार मेरठ १९७२ ई०।

४५. विद्धसालभञ्जिका—राजशेखर : श्री रमाकान्त त्रिपाठी की टीका। चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९६५ ई०।

४६. कुन्दमाला—दिङ्नाग। श्री चुन्नीलाल द्वारा सम्पादित । साहित्य भण्डार मेरठ (१९७२ ई०)।

———

परिशिष्ट--२

जन्तुनामानुक्रमणिका—संस्कृत

—:०:—

परिशिष्ट—३

जन्तुनामानुक्रमणिका—हिन्दी

परिशिष्ट–४

जन्तुनामानुक्रमणिका–अंग्रेजी

परिशिष्ट–५

जन्तुनामानुक्रमणिका—लैटिन